

मूल्य : छः रुपये



उद्योगशाला प्रेस, किंग्जवे दिल्ली में मुद्रित और पूर्वोदय प्रकाशन,
दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित

शीला को

जिसे यीशुका क्रॉस भी मिला है.

'जयवर्धन' पाठक के पास आ तो रहा है, पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा. राजनीति ने दुनिया को संकट में डाल दिया है. उसका कहना है, राज का यह रूप टले नहीं तो दूसरे में पड़ना होगा. जैसे और त्राण न हो. यों तनाव फैलता है और युद्ध अनिवार्य होता जाता है. 'पंचशील' है और वह काम की बात है. पर शस्त्रास्त्र-निर्माण के वेग के साथ उसका प्रचार अनमेल नहीं दीखता है. फिर वह रोग के निदान में भी नहीं उतरता. वह जो हो, और बातों के साथ मेरे मन पर संकट भी छाया रहा है.

पुस्तक फैले समय पर लिखी गई है, इससे एक साथ नहीं बनी. इस कारण यदि असंगति कहीं रही हो तो आपके निकट मैं क्षमाप्रार्थी हूं.

— जैनेन्द्रकुमार

[illegible], दिल्ली
[illegible], '५६

प्रारम्भिक

श्री हूस्टन (विलबर शेल्डन हूस्टन) को लोग भूले न होंगे. पहली बार वह यहाँ दस वर्ष हुए आए थे. फिर अभी दो वर्ष पहल दुबारा हो कर गए थे. उस बार उनके, और उनके संवादोंके, विषयमें यहां अखबारोंमें खासी चर्चा रही थी. तब कदाचित् लक्ष्य उनका भारत था. पर दूसरी बार जैसे वह जयवर्द्धनके व्यक्तित्वमें केंद्रित हो रहा. मानो भारत जयवर्द्धनमें प्राप्य हो.

कुछ काल पहले समाचार मिला कि हृद्‌गति सहसा रुक जानेसे श्री हूस्टनका देहांत हो गया. मृत्युको आकस्मिक कहना इस दृष्टिसे शायद ठीक न हो कि उनकी अवस्था तेहत्तरको पार कर गई थी. लेकिन स्वास्थ्य उनका अंततक सुन्दर रहा और अभी कम-से-कम चौथाई सदी और जीनेका उन्हें विश्वास था. उनके जानेपर उनके देश अमरीकाने ही शोक नहीं मनाया, बल्कि सारी दुनियाने क्षति अनुभवकी. पत्रकारिताके क्षेत्रमें दार्शनिकता सुलभ नहीं है. वह वहां उपयुक्त भी नहीं है. उनमें इन दोनोंका मेल था. अतिरिक्त भी वह बहुत कुछ थे. उनके जीवनकी विचित्रता विस्मित करती है. कूटनीतिके शीर्षपर पहुंचकर उन्हें उससे इच्छापूर्वक नीचे धरतीपर उतर नया जीवन आरंभ करनेमें कठिनाई नहीं हुई. सदा ही वह प्रयोगशील रहे. कोई परिस्थिति उनको ढंककर नहीं बैठ सकी.

अब ज्ञात हुआ है कि जयवर्द्धनके संबंधमें सार्वजनिक रूपसे जो

उन्होंने कहा और लिखा उसके अतिरिक्त अपनी निजी डायरीमें भी कुछ दर्ज करते गए थे. आवश्यक संपादनके साथ वह सामग्री अभी हाल वहां प्रकाशमें आई है.

जयवर्द्धन भी अब वर्तमान नहीं हैं. अतः यहां उन पृष्ठोंका प्रकाशन गलत न समझा जाएगा. संदेह नहीं उनसे ऐसी बहुतसी बातोंपर प्रकाश पड़ेगा कि जिनके संबंधमें लोग उतने ही उत्सुक हो सकते हैं जितने अंधेरेमें हैं.

उस सामग्रीको मैंने किंचित् कहानीके और यहांके अनुकूल बनानेके लिए जहां-तहां ही, निक छुआ या छेड़ा है. विधिवत् उपन्यासका रूप तो उसे फिर भी नहीं मिल सका है. आशा करता हूं कि उसके लिए क्षमाकी प्रार्थना आवश्यक नहीं है.

मार्च ११, २००७ ई०

—लेखक

वम्वई, २१ फरवरी—

मैं फिर भारत में हूं और अचरज में हूं. देश यह किसी तरह खास नहीं है. उसे महत्व देने का कोई कारण नहीं. फिर भी भीतर वरावर एक खींच रही है, जिसे मैं जीत न सका. कुछ यहां अंधेरा है और आदिम, जो चुनौती-सा देता है. वह अतर्क्य है. उसमें चमक नहीं, धार नहीं. मिट्टी के मानिंद वह मंद और मैला है. उन्नति को मैं समझ सकता हूं. सामर्थ्य को, ऐश्वर्य को समझ सकता हूं. पर भारत भिन्न है. वह धीमा है और मंथर. चंचल के वीच वह स्थित है. गति के वीच स्थिर. वह उन देशों में नहीं है जो इतिहास में रहते हैं. जैसे वह अ-काल में रहता है. काल का इतिहास उस पर से होता जाता है. हजारों-हजार वर्ष वीत जाते हैं और वह वही रहता है.

यहां वम्वई है, दिल्ली है और दूसरे शहर हैं जो समझ में आ जाते हैं. वे हम से हैं. पर सच पूछो तो भारत वे नहीं हैं. भारत देहात में है, उन गांवों में जो धरती से लगे-विछे ऐसे पड़े हैं कि दीखते तक नहीं. उन्हें गिनना मुश्किल है. मानो विना जिए वे जीते हैं. वहां वेग नहीं, जागृति नहीं, उन्नति नहीं. एक अवसाद है और विरसता. फिर भी जाने क्या ध्रुव और अटल उस जीवन में है, जिसने भारत को हर ध्वंस में वचाए रखा है. सहस्राब्दियां उसे झुलस नहीं सकीं और भारत

जीता चला गया. समूह आए कि मानो सब झंझोड़ डालेंगे, उखाड़ फेंकेंगे, लेकिन फिर यहीं रम कर वे कहां खो गए, पता न रहा. यहां का विस्तार उन्हें समा गया. उनका दर्प और बल सुत कर यहां की धरती में, हवा में, पानी में सिंच रहा. कल का विदेशी आज यहां का अपना हो गया. ऐसे यहां का धर्म बनता रहा, जीवन रचता रहा और संस्कृति संवरती रही. एक देवता नहीं, एक ग्रंथ नहीं, एक मत नहीं, एक राज्य नहीं—सब अनेक, फिर भी भारत एक. यह एक क्या है, मुझे समझना असंभव रहा है. फिर भी देखता हूं, पहचानता हूं कि वह एकता अमोघ है, अजस्र है. अमुक राष्ट्रीयता के नाम पर जुटी और पहनी हुई नहीं है, भीतर से फूटती और व्यापती आई है.

जयवर्धन के बारे में सुना हो है. दो रोज और कि मैं पास से और सामने से उन्हें मिलूंगा. अतः जो सुना है, उस पर ध्यान जाने की जरूरत नहीं है. जरूर उसमें कुछ अंधियारा है. भारत की तरह वह कुछ निराकार है, भावनात्मक है, यद्यपि आकार से हीन कहकर उसे टालना नहीं हो सकता. पर मैं अपने को रोकूं...

पत्र जयवर्धन का अपने हाथ का लिखा मिला था. मैंने उसकी मांग नहीं की थी. जरूर वह आदमी अनोखा होना चाहिए, जो सब सुविधाओं को बीच में अस्वीकार करके मुझ अपरिचित को हाथ से पत्र लिखने बैठता है और अपने पद का ध्यान नहीं रख पाता...

मालूम होता है, मैं यहीं से जयवर्धन का मेहमान हूं. चिन्ह ऊपर इस का कोई नहीं है, पर जो आत्मीयता का भाव चारों ओर देखता हूं, उसे न समझना सम्भव नहीं है. मैं कृतज्ञ हूं. मेरी स्वतन्त्रता पर, निजता पर कहीं तनिक भी अपेक्षा का दबाव नहीं है जैसा दूसरे देशों में अनुभव हुआ है. जैसे मैं सर्वथा स्वयं हूं और मुक्त हूं. केवल अवकाश में सब ओर मेरे लिए स्नेह है और मेरी इच्छा और सुविधा की प्रतीक्षा है. यह आतिथ्य मुझे निश्चय ही प्रियतर है जो ऊपर नहीं आता सिर्फ सामने बिछा हुआ रहता है...

कृतज्ञ हूं कि भारत में हूं. निश्चय, मैं कृतज्ञ हूं.

सब शांत है. सागर की सिसकी भी कुछ शांत मालूम होती है, नहीं तो पछाड़ें उसकी कब रुकती हैं. बम्बई नींद में पहुंच गया है. दो बजता होगा.

बम्बई २२ फरवरी—

बंधु मिले. पुराने कुछ नए. स्वागत...नहीं, बम्बई हमसे भिन्न नहीं है. यहां भी वेग और लालसा है...जीने की इच्छा क्या जीने की पहचान है ? इच्छा आदिम वस्तु है. बर्बर में भी है. यह पशुता है कि झपट कर भोज्य बनाया और खाकर अपने को समर्थ बनाया. यही नीति है, जो जीवन को युद्ध बताती है. इस चक्कर में हमारी सदियां बीती हैं. हमारे सारे ज्ञानविज्ञान ने इसको समर्थन दिया है. पर अब यह बीत रहा है...मौत को सतत भीतर लेकर जीना असल जीना है. यह जीना मर कर होता है. हिंदुओं का द्विज शब्द सच्चा है. पहले मरना होगा. उस चिता की भस्म में से जो जीवन फूटेगा, वही असली होगा. वह तुम्हारा नहीं भगवान का होगा. इसलिए जीवन पकड़ने में नहीं है, छोड़ने में है. भोग में नहीं है, यज्ञ में है.. बम्बई में वह सब देखता हूं जो यज्ञ नहीं है, उसकी कमी मेरे देश में भी नहीं है. उसकी कमी कहीं नहीं है...

यह मुझे क्या हो रहा है ? क्या विचार का राग मानव का द्वेष बन जाता है ? मुझे यही डर था और है कि मेरे साथ यह हो सकता है, शायद हो रहा है...विचारक असामाजिक हो जाता है और कारण यही है...लोगों के प्रेम को मैं क्यों गलत समझता हूं ? उसमें यदि स्वार्थ भी है, तो क्या गलती है ? निःस्वार्थ होकर निष्प्रेम होना क्या सही होगा ? देखो विलबर, किसी विचार से तुम न चिपकना. मनुष्य से

बड़ा न सत्य है, न विचार. ईश्वर नहीं हो सकता जो मनुष्य से विमुख हो. है तो वह मानव में. मानव से परे जो अपने लिए टिकाव चाहता है, वह विचार अविचार है.

अब बारह बजा है. ग्यारह पर फोन मिला कि मैं सब तरह सानंद हूं न. बात इला ने की, जिसका नाम सुना है. यह अनहोनी बात है. क्या मुझे महत्व दिया जा रहा है ? या रिझाने की तैयारी है ? राज-नेताओं में यह त्रुटि होती ही है...

पूछा गया कि शनिवार व रविवार छुट्टी रहे, यह मैं नापसन्द तो न करूंगा. शेष यदि जयवर्धन दिल्ली रहे, तो सप्ताह के पांचों दिन किसी न किसी समय बीस मिनिट मुझे अवश्य मिला करेंगे. भारत मुझे प्रिय हुआ है न. और आशा है, मुझे लौटने की जल्दी न होगी.

इला के बारे में कहानियां सुनी हैं. आपस में विरोधी कहानियां. पर अब ठीक है. असमंजस आप ही कट गया है.

....हम तेज़ जा रहे हैं. दुनिया शायद ऐसे अपनी आयु जल्दी खर्च कर डाले. आदमी अपने अर्थ को समाप्त करने की शीघ्रता में दीखता है. पर आगे ? आगे क्या देवता की सृष्टि होगी ? लेकिन देवता वह जो शरीर में नहीं तत्व में रहता है. मनुष्य की गति समझ नहीं आती. इच्छाएं अबाध हैं, तो उनके पीछे वह स्वयं अबाध होना चाहता है और उतना ही तीक्ष्ण. इच्छा की भांति वह पदार्थ से ऊपर जाएगा. ठीक, तो करेगा क्या ? जायगा कहां ? चांद की छलांग मार आएगा, या मंगल को फांद आएगा—तो आखिर क्या ? यह सब, स्वतंत्रता और निर्बाधता, क्या आखिर रीती चीज साबित न होगी, जिसमें अपना कुछ है नहीं, तुम्हारी ही गूंज है ! मालूम होता है यह नहीं...पर से नहीं पर में स्वतंत्र होना सीखे बिना क्या होगा ? नहीं तो गति हमें टकराएगी और खाजाएगी. कर्म ठीक, किंतु अकर्म के साथ ही वह ठीक हो सकता है, नहीं तो वह बचाव है, भरमाव है...

२३ फरवरी—

एक अजब मुलाकात हुई. फोन आया और समय चाहा. पूछा तो कहा गया कि इतना ही बताने को तैयार हैं कि वह समय चाहते हैं. मैंने रस लेकर कहा कि अच्छा, फौरन आ जाएं. आए एक भारतीय सज्जन, चेहरे पर झिझक नहीं, प्रभावशाली मुद्रा. अवस्था पचास से इधर, निर्दोष पश्चिमी वेषभूषा.

मालूम हुआ कि परिचय के अभाव में मिलने की धृष्टता उनसे इस लिए हो सकी है कि किसी भी तरह वह नहीं चाहते कि जयवर्धन के विषय में मैं भूल में रहूं.

मैंने साभार कहा, "कहिए—"

बोले, "राजनीतिक सुविधावाद—जयवर्धन का सारा जीवन इसका उदाहरण है. रीढ़ कहीं उसमें नहीं है. वह कांइयां है और कायर."

मैंने कहा, "आप सही हो सकते हैं. पर आपसे सुनकर मैं वैसा ही मान लूं तो यह आपको अवसर न देना होगा."

उन्होंने कहा कि वह किसी प्रतिपादन के लिए नहीं, सिर्फ चेतावनी के लिए आए हैं. मैं अपना निर्णय आप पाऊं, लेकिन उन्हें संशय है कि मैं जयवर्धन को पहले देवोपम मानता हूं फिर उनके पास पहुंचना चाहता हूं.

मैंने कहा कि हां, आलोचना से नहीं, मैं आदर से ही आरंभ कर सकता हूं.

आगंतुक बोले, "क्या आप अपने देश के उत्कृष्टतम बौद्धिक स्तर का प्रतिनिधित्व नहीं करते ? आपके शब्द का मूल्य है. बिना परखे आप मुंह से बात नहीं निकालते, यह आपकी प्रतिष्ठा है. यद्यपि सुन कर मुझे विस्मय हुआ है कि आप पहले से कुछ ग्रहीत मान कर चल सकते हैं, तो भी हमें अपेक्षा है कि आप संतुलित विचार करेंगे. भावुकता से काम न लेंगे. आप जैसे पश्चिम के कुछ लोग वैज्ञानिकता से इतने अघाए हो सकते

हैं कि ऊपरी धार्मिकता आपको भुलावे में डाले और भारत को इसीलिए आप सराहने लग जाएं कि वहां पत्थर भी पुजता है. लेकिन विदेशी होने के गुण से ही आशा है इस देश के प्रति भावुक होना आप पसंद न करेंगें. आप तत्त्व के जिज्ञासु हैं और मैं ज्यादा न कहूंगा. लेकिन जरूरत होगी और आप याद करेंगे तो मैं सबूत लेकर उपस्थित हो सकता हूं."

उनकी वाणी में रोब था और मैं अपने बावजूद प्रभावित हुआ. स्पष्ट मेरे ही हित में वह कष्ट कर रहे थे. मैंने हंस कर कहा :

"सबूत की जरूरत अभी नहीं है, यह आपने कैसे मान लिया ? मैं, कुछ हो, तो उद्यत हूं."

बंधु ने सच ही मुझे निराश किया और मुझे प्रसन्नता हुई. बोले, "पहले से मैं आपके मत को बनाऊं या बिगाड़ूंगा नहीं. अपनी ओर से आप जानिए, और पाइए. उसके बाद निवेदन मेरा यही है कि मुझे अवसर दीजिए और तब हम बात करेंगे. क्या आप इसका वचन दे सकते हैं ?"

मैंने कहा, "मैं राजनेता नहीं हूं और सदा खुला हूं. कभी कोई मुझसे मिल सकता है."

उनके माथे पर तनिक बल आए. बोले, "नहीं आप याद करेंगे, तभी मैं मिलना चाहूंगा।."

मैंने कहा, "अब भी तो आपने कृपा की ही है. तब तो हम परस्पर कुछ परिचित भी होंगे."

"अभी तो मेरा कर्त्तव्य था," प्रभावपूर्वक उन्होंने कहा, "जो अब आपको सावधान करने के बाद पूरा हो जाता है. आगे आपकी आवश्यकता पर ही मुझे सेवा के लिए उद्यत गिनिये...लेकिन इतना कह दूं कि जयवर्धन शत्रु नम्बर एक है. हर उन्नति का शत्रु वह है, वही असल बाधा है. प्रतिगामी शक्तियों के लिए एक सहारा वह है. वही प्रगति में अवरोध है. आप देख सकते हैं कि मेरे शब्द स्पष्ट हैं, इसलिए मैं कोई राजनीतिक नहीं हूं..."

मैंने क्षमा मांगी कि मैंने उनके परिचय में उत्सुकता नहीं जतलाई,

लेकिन अब कृपया—

"यह लीजिए," सज्जन ने कार्ड देते हुए कहा, "और इस पते से आगे जानने योग्य कुछ है भी नहीं. इतना काफी है कि मैं उन लोगों में हूं जिन्हें सत्ता नहीं चाहिए केवल मानसिक स्वाधीनता चाहिए."

स्वीकार करूं कि मेरे स्वर में व्यंग्य आ गया था. कहा, "क्या मानसिक स्वाधीनता की जय के लिए ही आपने जयवर्धन के जीवन का इतना अध्ययन किया और उस प्रकार की सामग्री का संग्रह किया है ?"

सज्जन क्षुब्ध न दीखे. बोले, "आप को यह जानकर विस्मय न होगा कि मैं उनका सम्बन्धी हूं और शत्रु बनने का मेरे पास कोई कारण नहीं है. सिर्फ—"

"मैं समझ सकता हूं, स्वाधीनता—"

फिर मेरी बात में व्यंग्य था, और सज्जन ने त्योरी में बल लेकर अतिरिक्त नम्रता से कहा, "जी, स्वाधीनता–फिर चाहे आप उसे कितनी ही तुच्छ वस्तु क्यों न मानते हों."

मैंने क्षमा चाही, किंतु उस ओर बिना ध्यान दिए उन्होंने कहा, "स्वाधीनता हम कुछ के लिए अंतिम मूल्य है."

मैंने चकित संभ्रम से पूछना चाहा कि 'हम कुछ' का क्या अर्थ है ? लेकिन वह सज्जन फिर अधिक ठहरे नहीं, चले गए.

कार्ड मेरे पास है और सुरक्षित है. जब चाहे मैं उनको मिल भी सकता हूं. पर क्या मैं चाहूंगा ? उस बुद्धि को मैं समझ सकता हूं जो काट करती है. कारण से नहीं, अकारण ही काट करती है. उसका स्वकर्म ही यह है. कोई अनिष्ट आशय वहां नहीं होता, स्वभाव ही उसका ऐसा हो जाता है. यह एक विशेष प्रकार की आदर्शवादी बुद्धि होती है. यह आदर्श को भी अपने से स्वतन्त्र नहीं सह सकती ; अपने जोर से ही उसे निर्मित हुआ देख सकती है. अन्यथा देख तक नहीं सकती. यह बुद्धि ईश्वर को केवल इसलिए खंडित करना चाहती है कि उसपर अधिष्ठातृत्व करने का उसके पास उपाय नहीं है. अपने मन की कोई संज्ञा वहां

विठाले, तव उसे चैन है. तव उसके साथ फिर मनमानी की जा सकती है. ईश्वर में यह वाधा है कि हर मनमानापन वहाँ झिल जाता और निभ जाता है. तोड़ने का भी मजा उस तोड़ने में पूरा नहीं होता.

लेकिन निश्चय वह रुचि के व्यक्ति हैं. मझे वह अरुचिकर नहीं हुए.

मैं जा रहा हूं.

शाम—

यात्रा सुन्दर रही. भारत महाद्वीप है...राज्य का अतिथि हूं. राजमहलों में हूं. पर सुनता हूं जयवर्धन यहाँ नहीं है . व्यवस्था ध्यान खींचती है. हर सुविधा का ध्यान है, पर आराम की अतिशयता नहीं है. जैसे सब काम काजी हो. फरनीचर कम और नितांत आवश्यक. दीवारें कोरी, चित्र भरसक नहीं. वस्त्र भूरे और सादे. क्रौकरी रंग और चित्र से हीन. ध्वनि नहीं, न शीघ्रता. आदमी कम, उद्यत और दूर. यानी चाहें तो आप निर्विघ्न अपना काम स्वयं कर सकते हैं. परिचारक सहायक होने से आगे वढ़ने की उत्सुकता न दिखाएगा. अनुभव मुझे यह प्रिय हुआ, यद्यपि नया है. अपने को अपने हाथ में लेने को जैसे में मुक्त हूं. कपड़े इधर-उधर डालूं, तो पड़े रहेंगे. टांगूं तो टंग जाएंगे.

क्या यह ठीक है ? क्या यह गलत है ? जो हो, ऐसा है, यद्यपि विचित्र है.

आदर देखता हूं, संभ्रम देखता हूं, पर इससे अधिक कुछ कहीं नहीं. उत्सुकता नहीं, ताक-झांक नहीं. मैं हूं और अपनी निजता और स्वतंत्रता में हूं. सीमा उसपर वहीं है जहां मैं चाहूं, और ठीक उसके आगे स्वागत और सद्भाव उपस्थित है. एकाएक यह कुछ ठंडा सा लगता है, पर देखता हूं, उसमें गहरा सुविचार हो सकता है.

२५ फरवरी—

चौवीस तारीख कव कहां निकल गई, सुध नहीं. मानो मैं अपने में न रहा, वहाव में रहा.

जयवर्धन को देखा. मिला. वात हुई. व्यक्ति नहीं, वह घटना है. कह दो, व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं. कहीं भीड़ में वह खो भी सकता है. साधारण, स्वल्प. पर छुआ कहीं तो विजली का जीता तार जैसे छू गया, धक्के और अचंभे से आदमी झनझना आता है. धक्का और भी प्रवल शायद इसलिए होता हो कि तुम उसकी तनिक भी आशा नहीं रखते. वढ़ते हो कि करुणा करोगे, पर कुछ आता है कि तुम स्तब्ध वंधे से रह जाते हो. तुच्छता समझकर जहां हाथ डाला वहां ज्वाला दमक आए, तो कैसा लगे—कुछ वैसा ही अनुभव हुआ.

जल्दी ही कोई तीसरा न रह गया. केवल हम दो. मुझसे पूछा गया कि मैं ऐसा ही पसंद करुंगा न. प्रश्न सहसा आया और ऐसे विश्वास के साथ कि उत्तर उसी में गर्भित हो. फिर कहा गया कि भारतीय भोजन की नापसंदगी का सवाल उठता ही नहीं है, इसलिए उस वारे में क्षमा की प्रार्थना आवश्यक नहीं है. लेकिन मैं (जयवर्धन) भारत की उत्कृष्टता से कम हूं, देहाती हूं. इससे भारत के मान का अनुमान इस भोजन से कृपया न कीजिएगा.

मैं वात में पहल लेना चाहता था, पर किसी ओर से अवकाश न मिलता था.

उन्होंने जैसे आभास पा लिया. कहा, "कहीं हम वेहद अकेले तो नहीं हैं ? मैंने सोचा, आप शायद गम्भीर एकान्त चाहें...इला पीछे खाना पसंद करती है. वही, जो अभी गई थी. आपने उन्हें रोक क्यों नहीं लिया ?"

"क्या अव वह आएंगी ?"

"आप चाहेंगे और वह न आएगी !" हंसकर जयवर्धन ने कहा,

पर "स्त्री अतर्क्य भी हो जाती है. है न ?"

पूछा, "क्या आप अकसर ऐसे एकाकी होकर खाते हैं ?"

मुसकाकर बोले, "उपनिषदों में है, सह नो भुनक्तु ..लेकिन मैं औपनिषदिक कहां, आधुनिक हूं. इससे सबसे कट गया, और एक भर रह गया हूं. सहानुभूति का पात्र हूं न ?"

पूछा, "यह निभ पाता है ? राज्य के अधिनायक के लिए तो कठिन होता होगा ?"

"हां कठिन होता है, पर कठिन को भी साधना है. आप देख ही सकते हैं कि कैसा मैं राज्य की शोभा हूं ..कहिए मेरे लिए क्या आज्ञा है ?"

मैंने बताया कि भारत में पहिले हो चुका हूं. इससे पर्यटक नहीं हूं...हम एक संकट में से पार हुए हैं. हुए भी नहीं हैं कि एक दूसरा मंडराता दीखता है. क्या मानवता का यही भाग्य है ?...उधर दूर देश वालों को आपसे आशा है, लेकिन संशय भी. मैं बताना चाहता हूं कि संशय निराधार है और पूर्व आपके निर्देश पर कभी किसी के लिए आतंक का कारण न होगा. यह इस आधार पर नहीं कि आपकी विदेश-नीति क्या है, बल्कि उससे बुनियादी इस आधार पर कि आप स्वयं में क्या हैं. पश्चिम आपको नहीं जानता, इसलिए हर अनुमान के लिए स्वतंत्र है. मैं उसके पास आपके निजत्व को लेजाना चाहता हूँ, क्योंकि, मैं जानता हूं, उससे बड़ा आश्वासन उसके निकट कोई न होगा.

"निजत्व?—वह मिलेगा कैसे ? क्या वह दिया जा सकता है?"

"इसी से तो आया हूं कि प्रत्यक्ष लेकर जाऊंगा."

"लेकिन, भई विलबर, प्रत्यक्ष जिसे कहते हो वह भी क्या अनुमान न होगा ! तुम्हारा है इसी विशेषता से क्या वह सत्य समझ लिया जाएगा ? नहीं, विलबर, भगवान के सिवा कोई किसी को नहीं जानता. सचयह कि कोई अपने को भी नहीं जानता."

कह कर जैसे उन्होंने लम्बी सांस ली और मैं कुछ नहीं बोला. ठहर

कर उन्होंने कहा, "लेकिन फिर भी प्रत्यक्ष जो पाओ तुम ले जाओ और सब को दे दो, यह मैं भी पसंद करूंगा. अनेक लोगों के अनेक अनुमान तुम्हारे कारण कटेंगे नहीं, वल्कि एक उनमें और बढ़ जाएगा. लेकिन क्या बुरा होगा ? अपने आगामी को मैं खुद भी जानने वाला कौन ! अपनी ही पूर्वसूचना मैं नहीं चाहता. अनागत अज्ञेय है, तो उचित ही है. उसे हम जान लेने का आग्रह न करें. हम राजनीतिक यहीं भूलते हैं. आगे के नक्शे वनाते हैं, जैसे भविष्य को मुट्ठी में लेंगे. मुट्ठी खुली अच्छी. तव उंगुलियां कुछ कर भी सकती हैं. वंद मुट्ठी कभी धमकाती थी. आज वह वंद दिमाग की निशानी है...तुम मुझे पूर्व का कहते हो, विलवर, पर पश्चिम क्यों मुझ से अलग है ? पश्चिम का यह मानना ही उसका दोष है. क्यों नहीं देखते हम कि पूर्व-पश्चिम संकेत भर हैं, संज्ञा नहीं हैं. जाकर कहो पश्चिम को कि जयवर्धन उनका भी है और दुनियां में वह फांक नहीं चाहता. देखते हो कि मैं राज पर हूं, पर राज का नहीं हूं, मन का हूं. भारत का पक्ष मेरा है, इसे आधा सच ही मानना. मैं मानव हूं और सही तो मानव का पक्ष ही मेरा है. विश्व का पक्ष उससे दूसरा हो नहीं सकता. और तभी तक मैं भारत के राज्य के साथ हूं, जव तक वह उस टेक के साथ है. मैं कहता हूं कि कुछ बड़ी ताकतें मिलकर अपने को विश्व नहीं मान सकतीं. वल्कि मुकावले में निरा एक व्यक्ति मानव-प्रतिनिधि के रूप में खड़ा हो कर न्याय के साथ कह सकता है कि विश्व का पक्ष उस की निपटता के साथ है, संघटित शक्ति के साथ नहीं. मेरी ओर से जाकर, विलवर, पश्चिम को कहो कि अणुभय गया, तो क्या उनके अंदर दर्प वैठा ही रहेगा ? अंकों की भाषा वे छोड़ें. कूटनीति का भरोसा छोड़ें. समझें कि दुनियां इस महाब्रह्माण्ड में कण से भी तुच्छ है. इस निरहंकारता को अपने सारे मन के भीतर रमा कर वे राजनीति को चलाना सीखें, तव वह मानवनीति होगी. उसी में से मानव हित का अभ्युदय सिद्ध होगा. अन्यथा दर्प किसी का टिका नहीं है. और उनको वताओ कि जयवर्धन राजकीय हो या न भी हो, वह

सदा मानवीय है. हृदय की बात हो, तो उससे की जा सकती है. कूट-नीति वह नहीं जानता. चोज भी वह पुरानी हुई, जब दांव-पेच फल लाते समझे जा सकते थे. अब संख्या गौण पड़ गई है, तो वैसे जोड़-तोड़ भी राजनीति में अकारथ हो गए हैं. लो विलबर, तुम निजत्व की बात कर रहे थे न. इससे अलग निजत्व मेरा कुछ नहीं है."

मैंने सुना. शब्दों में वेग उतना ही था, जितनी स्थिरता. उच्छ्वास जितना विश्वास. गौरव था यदि उनमें तो अहंता का नहीं, निष्ठा का. वाणी में गर्वोक्ति उतनी न जान पड़ी जितनी व्यथा और वेदना.

शायद मैं अत्युक्ति कर रहा हूं. लेकिन अपनी छाप की बात कहता हूं.

मैंने कहा, "राजनीति में मुझे रस नहीं है. वह बेहद तात्कालिक होती है."

जयवर्धन ने टोक कर कहा, "काल जो अनन्त है सो तो परोक्ष है. तत्काल के ही द्वारा नहीं तो क्या उसे हम छू भी सकते हैं ? इसलिए राजनीति से जो अछूता है वह धर्म भी नहीं है."

मैं यह सुनने को तैयार न था. कहा, नीति को आप "तत्काल से प्रभावित चाहते हैं ?"

हंस कर कहा, "अच्छा, तुम्हारी बात सही. कर्म तात्कालिक, नीति सार्वकालिक. क्या मैं समझूं कि यह कह कर मैं विलबर की प्रसन्नता सम्पादन कर रहा हूं ?"

मैं इसके लिए भी कुछ कम तैयार था. कुछ क्षण जैसे अस्तव्यस्त सा हो आया. फिर कहा, "मेरी बात मेरी अपेक्षा से थी. करने के क्षेत्र से मुझे अब कम वास्ता है. मैं होने की भूमिका पर ही आपसे भेंट चाहता था. मेरी वही उपलब्धि होगी."

"पर क्या सत्य घटना के द्वारा ही नहीं बोलता ? सीधी भाषा उसके पास कहां ? यानी होना करने में से बोलता है. नहीं ?"

"हो सकता है" मैंने कहा, "पर मुझे जानना है. जानना घटना से

पीछे की ओर जाएगा, जीना ही आगे होगा—"

"नहीं, विलवर, तुम मुझे तात्त्विक नहीं वना सकोगे. मैं इनकार कर दूंगा.. वात क्या है ? वहुत अकेले रहते हो क्या ?...इला का परिचय मैंने तुम्हें नहीं दिया. कुछ तुम्हारे कानों चाहे पड़ा भी हो...मां के अभाव में पिता के पास ही वह वड़ी हुई, जो अव जेल में हैं.. लेकिन ये परिवार की वातें तुम्हें शायद इतनी संगत न हों. मेरा ख्याल है कि वह दो-तीन मिनिट में यहां आती ही होगी. खाना वह खा चुकी है, और शायद यहां अपने को कुछ ठीक करके आने में समय ले रही है."

मुझे जयवर्धन के इस घनिष्ठ और खुले व्यवहार पर विस्मय हुआ.

"लेकिन वह चेतावनी देने भी आएगी कि मेरे लिए यह और वह काम है," और हंस कर आगे कहा, "इतना करने को रहता है कि सच कहूं तो मैं हो नहीं पाता. सव मिलते हैं, इसमें अपने से मुलाकात का मौका ही नहीं आता."

मैं उन शव्दों का विश्वास कर सका. लेकिन मालूम हुआ कि करना जयवर्धन को छिपाता नहीं, खोलता ही है. व्यवहार उनका कायिक व मानसिक से अधिक हार्दिक है. लगभग वह समग्र है.

कुछ देर वाद इला आई. उसने जयवर्धन को अधिक वहां ठहरने न दिया और मुझको अपनी रक्षा में लिया. हम लोग दूसरे कमरे में आ गए और मेरे रहन-सहन की, सुविधा-व्यवस्था की वातें जानने के वाद मझे छुट्टी दे दी गई.

कहना होगा कि इला अधिक सावधान और अधिक कुशल हैं. लेकिन इस सम्वन्ध में मुझे साहित्य पढ़ना चाहिए और ज्यादा जानकारी पानी चाहिए.

२६ फरवरी—

···मैं कोई एक मिनिट कमरे में अकेला रहा. कमरा गम्भीर था,

मानो कामकाजी. एक तरफ बड़ी मेज, जिसके चारों ओर कुरसियां, जहां मैं था वहीं कुरसियों पर गद्दे थे और एक सोफा. बराबर अलमारी में किताबें थीं और मैंने पास जाकर उन्हें देखा. देख सका कि वे छुई नहीं जातीं. इतने में अन्दर से दरवाजा खुला और सामने विनय में दरवाजा खोले झुके खड़े आदमी की ओर तनिक ध्यान दिए बिना जयवर्धन तेज डगों से बढ़ते हुए आए, और आते ही बराबर से एक स्टूल खींच कर उसपर स्वयं बैठते और मुझे सोफे पर बिठाते हुए बोले, "कुछ देख रहे थे आप. किताबें ?"

मैं सोफे पर असमंजस अनुभव कर रहा था, पर वहां किसी बात का मौका न था. कहने के लिए कहा, "कमरा क्या यह किसी कदर सख्त नहीं है ?"

हंस कर जयवर्धन ने कहा, "हां, शायद...आशा है, रात गाढ़ी नींद आपने ली और दिन खुशी से गया. अब कहिए, मेरे लिए क्या तैयार है ?"

"ज़रा मुश्किल में हूं," मैंने कहा, "कि कहां से शुरू करूं. यह बताइए, जो आप हैं, उससे राज़ी हैं ?"

एकाएक जवाब नहीं आया. चेहरा जैसे जरा कसा रहा. बोले, "सवाल पहली बार आया है. मैंने अपने से पूछा नहीं. शायद मैं जानता भी नहीं—मैं क्या चाहता हूं ? यहां होना आजाद होना नहीं है. आजाद सिर्फ फकीर है. क्या मैं फकीर होना चाहता हूं ? शायद नहीं. लेकिन आप बताइए, आप क्या समझते हैं मैं हूं ?"

"आप देश के अधिपति नहीं हैं ?"

"सचमुच हूं ?"

"कौन कहेगा कि नहीं ?"

"ठीक है. कोई नहीं कहेगा कि नहीं. शायद मैं भी नहीं कहूंगा. लेकिन क्या यह कागजी और कानूनी बात नहीं है, जो असल से अलग होती है. आपने इतिहास के पार देखा है. ये सब चीजें चलते काल की हैं. उन पर

में और आप अटक कैसे सकते हैं ! नहीं, मैं अधिपति नहीं हूं. उस घेरे में जरूर हूं और वह मेरा सद्भाग्य नहीं है. ये चीजें मौत से पहले ही मिट जाती हैं. मौत के बाद जो रहता है, क्या आप उस की बात न करना चाहेंगे ?"

मैंने नहीं सोचा था कि प्रश्न ऐसी जगह पहुंचेगा कि गहरा छू जाए. न मैं समझता था कि इस आसानी से उनका अंतरंग सामने आजाएगा. कहा, "तो आप यहां अपनी चरितार्थता अनुभव नहीं करते ? उससे बाहर आने में फिर आपको कौन रोकता है ?"

इस बार वे हंसे. "कौन रोकता है ?—कोई नहीं. लेकिन सवाल है कि डाला किसने है. जरूर वह कोई मुझसे बड़ा ही है. उससे लड़ाई चलेगी ? इससे चाहता हूं या नहीं चाहता हूं, फिर भी यहां हूं. डाला है जिसने वही उठाने का दिन लाएगा, तो मैं निर्वाण पाजाऊंगा. उससे पहले संसार है तो है, लेकिन देखो, श्री हूस्टन, तुम अमेरिकन हो. भारत के मायाजाल में मत पड़ना. भाग्य के नाम पर जाने हम कहां पहुंच जाते हैं. पर तुम क्या सचमच मुझसे यही कहने-सुनने आए हो ?"

मैंने कहा कि मेरी उम्र पैंसठ पार हो गई. घटनाजगत पीछे छूट गया. मुझे आपका कर्म-विवरण नहीं चाहिए. वह तो उजागर है ही. आया हूं तो अंतरंग लेने आया हूं—

"नहीं, विलबर, अंतरंग लेने के लिए नहीं, न देने के लिए है. तभी भगवान ने उसे अंदर ढंका रखा है और तुम अपना समय खो रहे हो. देखो, दो मिनट और रह गए हैं.'

"आप समय नहीं भूलते ?"

"वह हमें भूलता है ? एक-एक सांस गिनता रहता है."

निगाह उनकी घड़ी पर थी. वह उठने को हुए कि मैंने कहा, "माफी मांगने की जरूरत होगी तो जरूर मांग लूंगा, पर इला—क्या अपने पिता के बारे में कुछ नहीं कहतीं ?"

"इला से बात कीजिए न."

वह चलने को हुए. दरवाजे पर इधर सेक्रेटरी दीख आया था. मैं साथ हुआ और बेहद हौले मानो फुसफुसा कर कहा, "विवाह तो आप ने किया नहीं है."

जयवर्धन की चाल में या चेहरे पर असमंजस नहीं आया. आगे की ओर देखते और बढ़ते हुए बराबर से उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और धीमे से दबाकर छोड़ दिया. कुछ उत्तर नहीं दिया.

पाया मैं अकेला हूं. लेकिन बहुत कुछ पा गया हूं.

२७ फरवरी—

इला से समय पाने में कठिनाई नहीं हुई. शांत अभ्यर्थना में उन्होंने मुझे लिया. तनिक आतुरता नहीं, असमंजस नहीं, व्यग्रता नहीं. पूछा कि मैं क्या लूंगा, और काफी कहने पर बैरे से लेकर स्वयं मेरे लिए काफी तैयार की. कहा कि आप काम की बात लेकर नहीं आए हैं. ऐसा कम होता है और मुझे अच्छा लगता है. जय ने कहा कि आपको मुझसे कुछ पूछना है. यह सौभाग्य मुझे कब मिलता है. सब जय से ही पूछा जाता है. शायद आप मुझे गौरव देना चाहते हैं

इला भारत से कभी बाहर नहीं गई. यह देखते अचरज है कि इतनी सधी अंग्रेजी कैसे बोल पाती हैं. मैंने कहा, "कृपा है. आप लोगों ने मुझे निकट लिया है. इससे साहस क्षम्य हो.—सोचता हूं, विवाह आप दोनों के बीच न होने से कठिनाइयां तो आपको बहुत उठानी पड़ी होंगी और अब भी—"

बोलीं, "हां, लेकिन उससे आप चिन्ता में क्यों पड़े हैं ?"

"जिज्ञासा अनुचित है मैं जानता हूं. लेकिन लोकमत उसे ही छोड़ता है जो नगण्य है. आप जो मूर्धन्य हैं लोकमत से कैसे निश्चित हो सके, यही प्रश्न है."

उन्होंने हंसकर कहा, "चिंता कर सकते थे. तब चिंतित भी होते.

चिंता नहीं की, इससे निश्चित हैं. सुनिए, जय यहां हैं तो अपने मन से नहीं. यहां होने की दृष्टि से वह अपने बारे में कभी नहीं सोचते, उन्होंने कभी नहीं सोचा."

मुझे विस्मय हुआ. कहा, "फिर ?"

बोलीं, "पिता की अनुमति नहीं है, और वह प्रेम को विवाह का अधिकार नहीं देते."

मैं और भी अचरज में पड़ा, पूछा, "तो आप ?"

बोलीं, "मैं ? मेरे लिए और जगह नहीं है. अनुमति है या नहीं है, मेरे लिए एक बात है. यही न प्रश्न आपको कष्ट देता था ?"

मैं इस पर स्तब्ध रह गया. बात ऐसे भी सहज की जाती है, मैं जानता न था.

"पिता अनुमति क्यों नहीं देते ?"

बोलीं, "यह क्या आप उन्हीं से न पूछना चाहेंगे ? शायद जय उनके मन के योग्य न होंगे." कहकर वह धीमी मुस्कराईं "लेकिन मैं अब बयालीस की हूं. आप पिता की उम्र के सही. लेकिन क्या मैं अब भी व्याह की चिंता के लायक हूं ?"

सुनकर मैं मानो पीछे हटा, लेकिन लगाम देना मुश्किल हुआ. बोल पड़ा, "तो आपके बीचमें क्या है ?"

इला ने आँख उठा कर ऊपर देखा. पल के सूक्ष्म भागतक वह रुकी. जैसे अपने को साधा. फिर बोली "क्या आप सुनने की आशा रखते हैं बीच में है नितांत शुद्ध ब्रह्म ?...लेकिन क्या मैं अब आपसे क्षमा मांग सकती हूं?"

कह कर उसने संकेत दिया और अरदली निकट आया.

मैं सुन्न पड़ गया, जैसे सामने अपमान हो और वह सिर आ टूटने वाला हो. निश्चय था कि इस अरदली के सुपुर्द होकर मैं यहां से निकाल दिया जाने वाला हूं. शायद काम ही मुझ से ऐसा हो गया था. मैंने सीमा का उलंघन किया था. देख सका कि यह नारी मोम नहीं है, उस

में धार भी है. लगा जैसे भाग्य बिखर रहने वाला है. मैंने इला को देखा. उस चेहरे पर काठिन्य था. लेकिन शायद उसे मेरी मुद्रा पर अनुताप दीखा. आंखों में सहसा उसके दीप्ति लहकी. तभी वह लुप्त हो गई और वहां स्मिति की रेखा सी बन आई.

बोली, "देखो मदाम को कहना, मुझे कुछ देर हो सकती है. या उनको कष्ट न हो तो वह इधर ही आसकती हैं. कहिएगा मैं कृतज्ञ होऊंगी."

अरदली झुक कर चला गया और मैंने कहा, "यह किन मदाम ने आकर मेरी रक्षा की ?"

बोली, "आप की सुरक्षा की मैं जिम्मेदार हूं, एक क्षण के लिए मैं सचमुच यह भूल गई थी."

"क्या आप यह चाहती हैं कि मैं मदाम से भेंट करूं ?"

"नहीं, जरूरी नहीं है. लेकिन महिला दिलचस्प हैं. समझती हू, मेरा जय पर प्रभाव है और मेरी मार्फत उनके देश की यहां साख बढ़ सकती है. मगर मालूम हुआ, आप की बात से शायद उनकी ही चर्चा कम खतरा हो. क्या आप जाना चाहेंगे ?"

मैंने कहा, "नहीं, न मदाम का आना ही चाहूंगा. बताइए क्या आप अपने पिता से मेरे मिलने की व्यवस्था में कुछ सहायता कर सकती हैं ?"

"जरूर, बल्कि चाहूंगी, आप उनसे मिलें. क्या आपको यह बताया गया है कि उस में कठिनाई है?"

"ऐसा ही सुनता हूं."

"पर आप मित्र हैं और कोई कठिनाई नहीं है. दर्शनिक को किसी कठिनाई की आवश्यकता नहीं."

"भेंट कब हो सकती है?"

"जय से और पूछ देखूंगी. समझती हूं, कभी भी हो सकती है. लेकिन क्या मैं पूछ सकती हूं कि आप के देश में इस पर क्या प्रतिक्रिया है."

"हम लोग ज्यादा नहीं सोच पाते. घटनाओं के साथ आगे बढ़ना पड़ता है, पीछे देखने को समय नहीं मिलता. जयवर्धन घटनाओं की लहरों पर सवारी सी कसे ऐसे सामने दीखते हैं कि पीछे का भूल गया सा लगता है. सोचता हूं, आपके पिता अब बड़ा खतरा नहीं हैं. उनका वर्ग पुचकारा सा बैठ गया है."

"क्या कभी आपका देश जय को अन्यायी के रूप में देखता था?"

"निवेदन है कि घटनाओं का वेग हमें अवकाश नहीं देता. सोचने पर न्याय और अन्याय बनते हैं."

"पर क्या आप जानते हैं कि मेरे पिता खुशी से कैद हैं ? कारण, जय के मार्ग में स्वयं बाहर रहकर वह बाधा नहीं बनना चाहते. क्या मैंने नहीं कहा कि जय अधिपति होकर प्रसन्न नहीं है. पर पिता राज की डोर कभी सम्भालेंगे नहीं. इससे दोनों विवश हैं कि एक जेल में रहे, दूसरा राज्य पर हो."

यह सब मेरे लिए नया था. मैंने कहा कि मैं समझा नहीं.

बोलीं, "कोई दूसरा समझ भी कैसे सकता है !...और क्या कहानियां आपके देश में उड़ी थीं ?"

मैंनें कहा कि सचमुच समय था जब जयवर्धन सत्ता के भूखे अत्याचारी के रूप में देखे जाते थे, पर वह बीती बात हो गई. अब धारणा पक्ष में है और संसार में कोई अधिपति स्थित और स्थिर समझे जाते हैं तो एक जयवर्धन ही हैं. बाकी स्पष्ट अस्थिर हैं और प्रतिद्वंद्वी से हीन नहीं हैं. लेकिन–विवाह से पक्ष और प्रबल हो सकता है.

"तो आप विवाह से डिगेंगे नहीं," हंस कर इला बोली, "लेकिन क्या आप मानेंगे कि ठीक इसी कारण विवाह उन्होंने नहीं स्वीकार किया. वह अपना पक्ष प्रबल नहीं, निर्बल चाहते थे. मेरे अविवाहित, फिर भी जय के साथ, रहने से लोकमानस में मेरे पिता का पक्ष ही प्रबल होता था और वह ही जय को प्रिय था. लेकिन पिता उस प्रबलता का लाभ लेने से विमुख थे. आप इसको कैसे समझेंगे, मैं जानती नहीं. लेकिन मैं

सच ही आपसे कह रही हूं."

सचमुच समझने की बात न थी. बाहर जय और इला की कहानी अजब रूपों में फैली थी और जो कहा जा रहा था, समझना कठिन था.

मैंने पूछा,"आपको पिता का ध्यान नहीं आता?"

सुनने वाली की आंखों में खेद दिखाई दिया. बोली, "लेकिन मैं जय को कैसे छोड़ सकती हूं ? पिता जेल में हैं, इसलिए निश्चित सुख में है. जय प्रतिपल राज पर हैं इस कारण सूली पर हैं. उनको अकेला छोड़ूं तो कैसे. और मेरे रोके वह यहां हैं, नहीं तो जाने कहां होते. जय की मुझ से यही लड़ाई है कि कहते हैं, जाओ, पिता की सेवा में रहो. पर वहां सेवा अनावश्यक है, और मैं जय से कैसे कहूं कि सेवा स्वयं उन को आवश्यक है. कारण, त्रस्त अधिक वह हैं, रुग्ण भी अधिक वह हैं."

"आप कह क्या रही हैं ? क्या इस को आप प्रेम कहेंगी?"

"आप शायद प्रेम नहीं कहेंगे. है भी वह प्रेम नहीं. प्रेमयोगिनी हमारे देश में एक मीरा हो गई है. मैं वह नहीं हूं. और होने में गौरव भी नहीं मानती हूं. पर क्या प्रेम की व्याख्या में आपके साथ मुझे पड़ना होगा ? आपकी उम्र कम नहीं है...और मैं बादामी कम नहीं हूं."

कह कर इला खुली हंसी हंसी. मैं देख सका, उसकी शक्ति कहां है.

तभी मालूम हुआ मदाम आरही हैं. आते आते-बोलीं, "तुम फरिश्ता दीखती हो इस हंसी में, इला प्यारी, यह जानती हो !"

"आओ,मदाम. यह मुझ से प्रेम की बात कह रहे थे. मुझ से—और मैं हंसूं नही ?... यह मिस्टर हूस्टन. आप मदाम—"

मदाम की अवस्था तीस पेंतीस के बीच होगी. आकर्षक चेहरा. संयत कसी देह.

मैंने कहा, "मिलकर कृतार्थ हूं. आप लोगों की परस्परता में विघ्न न बनूंगा. आज्ञा लूं. आपकी कृपा है."

कह कर मैं चला आया. और बहुत देरतक इला की मुद्रा से और कथा से मुक्त न हो सका.

२८ फरवरी—

मुलाकात वहुत जल्दी न हुई. उन्हें एक भोज में जाना था, जहां वह कम जाते हैं. देर तक समय ही न निकलता था, इससे याद करके मुझे याद किया और मेरे पहुंचते ही कहा, "विलवर, मुझे माफ करना. इला कहती थीं, आप उसके पितासे मिलना चाहेंगे. मैं खुद चाहूंगा. मैंने कह दिया है. लेकिन, कहीं आप उत्सुक अधिक तो नहीं हैं—"

देखा, उनकी आंखों में मीठी शरारत है. वोले, "प्रश्नों में हद रखना शायद दार्शनिक नहीं जानते. पर एक हद सव कहीं जरूरी है.—नहीं ?"

मैंने हंस कर कहा, "मैं क्या कर सकता था ! इला का अभय मुझे वढ़ावा दिए गया."

"और तुम समझ सके ? मुझे तो वह अनवूझ है."

"शायद नहीं समझ सका. लेकिन उन्होंने जो कहा उससे आप कम अनवूझ नहीं रह जाते."

"हां, शायद अंत में हम सव पहेली हैं. कदाचित् इसी कारण हैं. समाधान एक ईश्वर है. वाकी उलझन है, प्रश्न है, क्योंकि खंड है. दीखने में है सो इसलिए कि वह होने से कम है. है सो तो परोक्ष ही रहेगा. असल होना भाव में है. आकार में अंश ही होता है. लेकिन मैं वह सव न वकूंगा. क्योंकि समय नहीं है और मुझे जाना है—जरा यह आस्तीन खींचोगे ?"

कह कर हंसे और वांह आगे की. वह तैयार हो रहे थे, यानी परिचारक उन्हें तैयार कर रहे थे. जैसे उन्होंने जताया कि देखो खासा मेक-अप है कि नहीं.

मैंने वांह के अंदर से आस्तीन खींचकर ठीक की, और कहा, "आप तो पूरे राजसी दीखते हैं !"

"जैसे तसवीर. है न ?"

"नहीं. एकदम वास्तव."

"वास्तव वस्त्रों में रहता है ?"

मुझे झटका लगा. बात ठीक थी, पर उस अवसर पर मुझे बिजली सी लगी. सोचता हूं, बात यहां तक है तो ऐसी जगह जयवर्धन हैं ही क्यों कि औपचारिकताओं का उन्हें बंदी होना पड़े.

देखा, चेहरे पर मुसकराहट है. वह मुसकान हठात् करुण जान पड़ी, जैसे समझ और सहानुभूति की उसे याचना हो, जैसे उसे मांग हो उस दृष्टि की जो बाह्य को व्यर्थ कर अंतर में उतरे. फिर चाहे वहां पहुंच कर उसे स्वीकार करे चाहे इनकार कर दे. पर जो बहिरंग का आतंक न ले, इससे अंतरंग को प्रीति दे सके.

मैंने हाथ बढ़ाकर उनके हाथ को थामा और उसकी हथेली को तनिक दबाकर छोड़ दिया.

उनकी आंखों में क्या कृतज्ञता दीखी ? कहा, "शायद आप मुझे छोड़ रहे हैं, लेकिन डेढ़ मिनिट तक अभी समय है, जाने क्या क्या और सजावट होनी है."

मैंने कहा, "व्यवस्था क्या है, आचार्य से कब मिलना होगा ?"

"उनकी सुविधा पूछ ली जाएगी. हम किन्हीं अभ्यागत को उनपर डाल नहीं सकते. उनका अनुग्रह जब जिस पर हो जाए. कह दिया है कि मेरी विनती भी साथ दें और आपके लिए समय की अनुज्ञा प्राप्त करें. आपको सूचना मिल जाएगी."

"हो सकता है तुरंत ही जाना हो?"

"सब उनपर निर्भर है."

स्पष्ट था कि जयवर्धन में आचार्य के लिए गहरा विनयभाव है. उनकी इच्छा पर आरोप लाने की बात वह सोच नहीं सकते.

मैंने कहा, "उन्हें इतनी दूर किले में बंद क्यों रखा गया है ?"

"किले से कम में उन्हें कैसे रखा जा सकता है ! दूर इसलिए कि स्वतन्त्रता सम्पूर्ण रहे."

"मैं नहीं समझा."

"मेरी उपस्थिति उनसे दूर रहे. मेरा ध्यान उनकी रुचि पर दवाव लाता है."

"सिर्फ दूरी से वह सम्भव हो सकता है ?"

"नहीं हो सकता, पर उतना तो है जो मैं कर सकता हूं. वाकी जो कर सकती है, इला है. पर उसकी मति अपनी है. मैं हारा,मैं उसे हिला नहीं सकता."

"आप प्रयत्न क्यों करते हैं ?"

"क्योंकि वह जीवन है. लेकिन अब नमस्कार."

कहकर दोनों हाथ उठाकर नमस्कार किया और परिचारकों से घिरे वह सामने चले गए.

मैं देखता रहा. गति में वेग न था. पग थिर थे. दृष्टि कसी और सीधी थी. सवमें एक भव्यता और शालीनता थी, जैसे सव स्वस्थ हो. नाटक कहीं न हो. जो हो, गहरे तक यथार्थ हो.

देखता रहा, और मुझे अच्छा लगा. राजसीयता मुझे कभी भा नहीं सकी है, जैसे वह वेहद ऊपरी हो, उसमें असल न हो और सिर्फ वनाव हो. सव हार्दिक से उलटा हो, जैसे स्वांग. लेकिन उस समय ऐसा कुछ मुझे नहीं लगा. प्रतीत हुआ कि वह अपनी जगह है और उचित है और असल है.

मुझे अपने पर आश्चर्य हुआ. आडंवर में मैं आत्मा कैसे देख सकता हूं ! फिर भी निरा आडम्वर मुझे न दीखा. मैं फिर विस्मय में हूं.

३ मार्च—

···इसे क़िला नहीं, महल कहना चाहिए. वेहद सुन्दर स्थिति है, जैसे सिंहासन हो और तीनों ओर नीचे फैली सभा. वस्ती से जरा हट कर मानो उसका निरीक्षण करता हुआ यह भवन पहाड़ी पर ऐसे वना है जैसे स्वर्गयान.

मालूम हुआ कि मैं अन्दर आचार्य के स्थान पर उनसे मिल सकता हूं. अपनी जगह से हटना उन्हें स्वीकार न था. 'अभ्यागत मेरे लिए आए हैं तो उन्हें यहां तक आना कष्टकर न होगा; आखिर मुझसे मिलना चाहते हैं तो मेरी स्थिति में मिलें'—यह बात सुपरिटेंडेंट से सुनकर मुझे अच्छी लगी. मैं इसी की अपेक्षा रखता था. आचार्य नियमों से ऊपर होंगे, अधीन न होंगे, यही मैं देखना चाहता था.

जो पाया, आशा से अधिक था. पैंसठ बरस के जैसे कोई युवा पुरुष समक्ष हों. चेहरे पर कांति. शरीर सुता हुआ और संयत. बदन पर सिर्फ एक उपरना पड़ा था और घुटने तक की धोती पहने थे. पहुंचा तब चरखे पर अपने कते सूत को अटेर रहे थे. वह इसलिए मेरे अभिवादन में मौन ही रहे. विशेष देर ऊपर आंख उठा कर भी मुझे न देख सके. कारण, सूत के तारों के चक्कर वह गिन रहे थे. इशारा किया कि मैं बैठूं. सामने पड़ी चटाई पर बैठते हुए मैंने कमरे के चारों ओर देखा. सामान लगभग न था. कोई छः इंच ऊंचा तख्त था, जो करीब आधे कमरे को घेरे हुए था. मालूम हुआ कि वही उनका आसन है और शय्या है.

सूत को अटेरन से उतारा, उमेठा, कस कर आंटी बनाई, फिर वापिस उसे खाने में रखकर चरखे को एक ओर किया. अबतक जैसे मैं न था. अब उन्होंने रुख किया और बोले, "आप खड़े क्यों हैं ? क्या जाइएगा ?"

अब मालूम हुआ कि मेरे साथी सुपरिंटेंडेंट खड़े ही रह गए थे. तभी दीखा कि पीछे से दो कुरसियां लाई जा रही हैं.

आचार्य ने कहा, "मैंने शायद आपको बिठालने में जल्दी की. लीजिए ये कुरसियां हैं और आपको फिर खड़े होना होगा." कहकर आचार्य हंसे. उस क्षण वह मुझे बहुत मनभावने प्रतीत हुए.

मुझे कुरसियों का आना पसन्द न हुआ और मैंने सुपरिटेंडेंट से कहा कि क्या आपको चटाई पर बैठने में असुविधा होगी !

उन्होंने असुविधा की बात से इनकार किया, लेकिन कुरसियों को एक ओर ठीक से बिछा देने का संकेत किया.

मैंने चुनौती सी देते हुए कहा, "कुरसी की सजा के लिए यहां विदेशी तो मैं हूं. आप—आइए, आइए."

सुपरिंटेंडेंट पास आकर बैठने को अनुद्यत तो न दिखाई दिए, पर एक क्षण को ऐसा लगा जैसे वह आचार्य की अनुमति देखते हों.

फिर बोले, "क्या मैं आवश्यक हूं ?"

आचार्य ने कहा, "यों क्यों न कहिए कि आप व्यस्त हैं. क्या अपने कर्त्तव्य की ओर से आप यहां आवश्यक नहीं हैं ?

सुपरिंटेंडेंट ने हंस कर कहा, "नहीं, उस ओर से मैं सर्वथा अनावश्यक हूं."

कह कर सुपरिंटेंडेंट ने नमस्कार किया और मुड़कर वह वापस चले गए. अमले के दूसरे लोग भी जो कमरे के बाहर थे, वापस चले गए.

"तो आप श्री हूस्टन हैं ? मैंने आपको पढ़ा है. मैं आपको जानता हूं, लेकिन मुझमें आपको दिलचस्पी का क्या कारण मिला ? क्या मैं उतना गिनती लायक हूं ? आप तत्त्वों के पीछे रहते हैं या संवादों के. मैं शायद बेहद व्यक्ति हूं, लेकिन—कहिए ?"

"क्या कहूं, !" मैंने कहा "भारत हम सबके लिए आशा का देश है. पर भारत क्या है ? क्या वह वह सब विविधता है जो खुली दीखती है ? वह तो काया पर का रूप है. मुझे भारत की आत्मा की खोज रही है. मेरे मन में संशय नहीं कि भारतीय आत्मा को कभी सिंहासन पर चढ़कर बैठने की कांक्षा नहीं हुई है. उधर उसकी दृष्टि नहीं गई, रुचि नहीं रही. वहां उसनें माया को देखा. उसकी शोध सत्य की थी, इसलिए वह शक्ति से और उसके प्रतीकों से पृथक रही, विमुख रही. हम लोग दूर से आपके बारे में सुनते, पढ़ते और जानते रहे हैं. यह तक हमने जाना है कि आप चाहते तो जयवर्धन राज्य पर न आसकते थे. पर राज्य पर कौन आता है, कौन नहीं आता, इस पर आपका चित्त नहीं रहा—"

"इसका आपको निश्चय है ?"

"यही कहना चाहिए कि निश्चय है."

"पर ऐसा आदमी तो राज्य के लिए कैसे इतना असुविधाजनक होगा कि उसे इस आरामदेह किले में रखना पड़े,"

"तो क्या आपको चुनाव में और राजनेतृत्व में रस है ?"

"आप क्या समझते हैं ?"

"मुझे तो, यानी हम पश्चिम के लोगों को, शिकायत है कि आप तटस्थ अधिक हैं."

"शिकायत का कारण हो सकता है, लेकिन तटस्थ शायद अधिक नहीं हूं, आवश्यकता से कम हूं. इसीलिए हो सकता है कि मैं यहां हूं. अन्यथा मुझे यहां कौन रोक सकता है ! मैं जनता के बीच होता, जो मेरे उपास्य हैं. क्या कोई दीवारें हो सकतीं हैं जो मुझे उनसे काटकर अलग रखें. लेकिन कारण यही है कि मैं तटस्थ काफी नहीं हूं, शायद कुछ अनुरक्त भी हूं, इसीसे दंड सह रहा हूं. दंड भी ईश्वर का है, जयवर्धन बेचारे का नहीं है. इसी से मैं उसे अपनाए हुए हूं."

"आप यहां से बाहर होकर अपनी बात ज्यादा जोर से कह सकते हैं. मैं समझता हूं, आपको निश्चय है कि जयवर्धन की राष्ट्रनीति और पर-राष्ट्रनीति के नीचे दर्शन सम्यक् नहीं है, फिर आप क्यों अपनी अनुमति से यहां हैं, और बाहर होने की चेष्टा नहीं करते ?"

"ईश्वर से तो लड़ाई चल नहीं सकती, भई," आचार्य ने एक भरी सी सांस छोड़ते हुए कहा,"मैं राज पर नहीं जा सकता. कोई है भी नहीं, जिसे उस जगह के लिए चाहूं. वह दायित्व उठाने को अगर तैयार नहीं हूं, तो जनता में कोरा बुद्धिभेद पैदा करने का हक भी मुझे नहीं है. इसी से एक तरह ईश्वर की इच्छा से मैं यहां हूं, जिसमें मैंने अपनी इच्छा भी मानली है."

"क्या आपने अपने विचार भी बदल दिए हैं, या उन्हें रोक रखना

आपने अपना धर्म बना लिया है ?"

"विचार बदलेंगे तो ईश्वर ही उन्हें बदलने वाला होगा. मैं कौन ! और रोकने का निर्णय भी मैं कैसे कर सकता हूं!"

"यह तो निराशा का, निष्चेष्टता का वाद हुआ."

"हां. शायद वही है. लेकिन आदमी का दूसरा वाद कौनसा हो सकता है : आदमी जो एक अमुक दिन जन्म लेकर दूसरे अमुक दिन मर जाता है !"

"लेकिन आपने एक दिन जो प्रचंड कर्मचेष्टा देश में जागृत की थी, वह इतिहास में कितने कर्मठ कर सके हैं ! उसकी कहानी इतिहास का अंग बन गई है. आपके देश के जीवन की धमनियों में अब भी वह जीवित है. जयवर्धन क्या उसी महाज्वार की एक लहर पर वहां नहीं पहुंचे, जहां आज हैं. आपने उनको बनाया. आपने देश को बनाया. फिर आपके मुंह से यह अनहोनी-सी क्या सुनता हूं !"

आचार्य की भवों में किंचित बल आया. बोले, "नहीं, विलबर, इस चेष्टा में न पड़ो. तुम मुझे भुला न सकोगे. मैं निमित्त से अधिक न था. आगे भी ईश्वर के हाथ में निमित्त ही मुझे रहना है. मुझे मालूम है, जयवर्धन के पाससे तुम आ रहे हो. क्या यह समझूं कि तुम उसके हितैषी नहीं हो! क्या यह चाहते हो कि मैं बाहर जाऊं और विद्रोह का झंडा ऊंचा करूं ? लेकिन वह असम्भव है. जयवर्धन, हां, भूला है. वह प्रपंच में पड़ गया है. सीखा था कि भौतिक माया है, आत्मिक ही है सो है. राज पर पहुंचकर जयवर्धन यह भुला बैठा दीखता है. यह चरखा देखते हो, पर वह कातना भूल गया है. सुनता हूं, चरखा कातने की बात पर वह अब हंस भी लेता है. अंकों में वह रहने लगा है. इसलिए परिमाण में उसे मोह उपजा है. बहुत और बड़ा और शानदार उसे चाहिए. यह मोह उस पर सवार है और नकेल बांधकर उसे खींचे लिए जा रहा है. यह महत् और वृहत् और तुरत् की चाह मूल रोग है. इस वेगकी वासना में से वह आसुरिकता उपजी जिसे हमनें सभ्यता कहा. आशा थी कि

उस चंगुल से जगत छूट रहा है. जयवर्धन से मुझे और सबको इसी दिशा में आशाएं थीं....पर होगा वह जो ईश्वर को मंजूर होगा....शायद त्राण में अभी समय है. माया में जो हम भूलते हैं, तो वह माया भी तो ईश्वर की आज्ञा से ही मोह-जाल लेकर आती है. इसीसे यहां बैठा मैं प्रार्थना करने और चरखा कातलेने के सिवा और कुछ कर्म अपने लिए नहीं देखता हूं."

"आप उद्योगीकरण नहीं चाहते हैं तो—"

"उद्योग कहते हो, प्रमाद क्यों नहीं कहते ? आलस्य क्यों नहीं कहते ? उद्योग मशीन पर डालकर खुद उद्यम से बचने का ही तो वह बहाना है ! फुर्सत चाहिए, यह क्यों नहीं कहते कि मौत चाहिए !"

आचार्य के भाव का ताप देख कर मुझे अचरज हुआ. यह अवस्था और यह तीव्रता ! मैंने कहा, "आप यह सब अंदर लिए बैठे हैं. यह धधकती आग आपको क्या जलाती ही न रहती होगी!"

"लेकिन जीवन ही जलना है," आचार्य ने कहा. "वह है. यज्ञ में उस से बचना क्यों चाहूं?"

"क्षमा कीजियेगा, आचार्य," मैंने धीमे से कहा. "आप के यहां रहने से इलाकी स्थिति विकट बनती है."

सुन कर आचार्य के चेहरेका तनाव कम हुआ, बोले, "इलाने निश्चय ही तुम्हें यह कुछ नहीं कहा.—क्यों, कहा?"

मैंने कहा, "नहीं. उन से इस सम्बन्ध में मेरी कोई बात नहीं हुई."

बोले, "वह अपने पिता की बेटी है. उसके लिए कुछ विकट नहीं है. लेकिन उसका नाम मेरे सामने न लो."

"मुझे खेद है," क्षमायाचना करते हुए मैंने कहा, "लेकिन उनके मन में आपके लिए मैंने अपार भक्ति पाई."

"हो भक्ति, और आप जिस को अपार कहते हैं वह भी हो. लेकिन उसको पार कर सकनेवाली एक चीज और है. वह है अहंता. वह उससे बढ़ कर है. और उसको लेकर वह स्वयं रहे, मुझसे कोई वास्ता नहीं.

नाते सब सांसारिक हैं. होना न होना उनका एकसा है. कृपया आप वह नाम फिर न लीजिए. क्योंकि मैं नहीं देखना चाहता कि मैं मुंसिफ हूं, वह मुजरिम है! याद रखिये कि वह सर्वथा स्वयं है और मुझे भी स्वयं रहने का हक है."

"किन्तु क्षमा कीजिएगा, आचार्य" मैंने कहा, "यह आपकी निजी बात ही नहीं है. निज में कोई समाप्त नहीं है. सब सार्वजनिक है. जो स्वयं सार्वजनिक बना उसका तो सब और भी सार्वजनिक है. व्यक्ति कितना भी समझे, पर क्या कोई प्रश्न सर्वथा वैयक्तिक हो सकता है ? वह सदा सामाजिक है.—क्या मैं पूछ सकता हूं कि आपने विवाह की अनुमति क्यों नही दी ?"

आचार्य ने गंभीर भाव से कहा, "आप शायद मर्यादा लांघ रहे हैं."

मैंने शीघ्रता से कहा, "मुझे दुख है. लेकिन–"

"पिता इस विषय में क्यों आवश्यक प्राणी है! कानून राज्य का है और पिता मालिक नही है. राज्य मालिक बनना चाहे, तो होसकता है."

"किन्तु यह स्थिति तो संदिग्ध समझी जा सकती है."

"निस्संदेह."

यह ऐसी दृढ़ ध्वनि से निकला कि मैं असमंजस में हो आया. पूछा, "क्या आशय ?"

रुष्ट भाव से उन्होंने कहा, "देखिए, श्री हूस्टन, मैं किसी के कर्म का निर्णायक नहीं होना चाहता. यह चर्चा मुझे अप्रिय है, क्योंकि मुझे इस में निर्णायक की स्थिति में पड़ना पड़ता है. दोनों वे स्वतंत्र हैं, और मुझ पर कोई दायित्व नहीं है. लेकिन मेरे मन में यह असंदिग्ध है कि उनके सम्बन्ध की भूमिका संदिग्ध है, वह सत्य पर नहीं है, और मैं उस असत्य का ध्यान भूल कर भी पास नहीं लाना चाहता.. किंतु आप का समय तो नहीं हुआ?"

मैंने कहा कि मुझे और काम नहीं है. चेष्टापूर्वक हँसते से बोले, "तो क्या आप समझेंगे कि मुझे भी नहीं हो सकता?"

उत्तर से मैं डिगा, पर तभी समल कर कहा,

"शायद मैंने दुख पहुँचाया है, इस भाव को लेकर मेरे लिए जाना मुश्किल होगा और न शायद आप भेजना चाहेंगे."

आचार्य ने मुझे देखा. जैसे वह हठात ढीले हुए वोले, "आप ठीक कहते हैं. मैं रुष्ट आप को नहीं भेज सकूंगा. पर मैं आचार्य हूं तो क्या पिता मुझ में से एक दम मिट ही गया है! वह प्रसंग मेरा समत्व खो देता है. इस से मैं विचलित दीखा होऊं, तो आप मुझे सहानभूति देंगे और क्षमा करेंगे. इला को माँ लगभग नहीं मिली. मैं पिता होकर भी अपिता वना, क्योंकि आचार्य वनता चला गया. यह सब याद करता हूं तो इला पर वड़ी ममता होती है. जो वनी विचारी को स्वयं वनना हुआ. अव मैं उसका न्याय करने वैठूं, यह कैसे हो सकता है ? लेकिन वुद्धि न्याय न करे, यह भी नहीं हो पाता, लेकिन तुम जानते नहीं, छोड़ो."

कहते-कहते उनकी आवाज रुंव आई, जैसे कण्ठ में कुछ भरा आता हो. उन्होंने हाथ वढ़ाकर चरखा पास लिया और उसे खोलने लगे. वोले, "मैं भूल गया कि वात चरखा कातते हुए भी हो सकती है. इसमें कई गुण हैं. उत्पादन ही का नहीं, स्वास्थ्य का भी यह यंत्र है. आशा है, आप ख्याल न करेंगे."

कह कर चरखे में उन्होंने तकला जमाया और सहसा पूछ वैठे, "यह वताओ, इला आजकल कातती है ? उसके पास चरखा देखा ?"

"नहीं, मुझे जानने का अवकाश नहीं आया."

"पहने खद्दर ही थी ?"

"जी."

"सफेद या रंगीन ?"

"सफेद."

"शरीर पर आभूपण थे ?"

"कह नहीं सकता. शायद नहीं थे."

"एक भी नहीं ?"

"एक भी मैंने देखा, ऐसा याद नहीं पड़ता."

आचार्य चुप रहे. चरखा खुला रहा. तकुआ सधा रहा. हाथ निश्चेष्ट रहे. सूत जोड़ते हुए बोले, "नहीं, जयवर्धन के बारे में नहीं पूछूंगा. वह अधिपति है. चरखा उसे शोभा नहीं देगा."

कह कर उनके हाथ थिरता से उस छोटे से तकुए से सूत निकालने लगे, और कुछ देर चर्खे की ही गूंज वहां सुनने को रह गई. मैं भी कुछ बोला नहीं. उसमें लीन होकर मानो कोई और भाव उनके चेहरे पर न रह गया. न अप्रिय, न प्रिय. जैसे वह उत्तीर्ण हों, अन्यत्र हों. जो है, वह सारा कुछ किनारे छूटा रह गया हो, उन्हें छू न पाता हो. लगा, इन कुछ लीनता के क्षणों में जैसे मेरी उपस्थिति ही उनके ध्यान से शून्य हो गई. धागा एक बार भी न टूटा और इस प्रकार लगभग ढाई मिनिट हो गए. कि उनका हाथ रुका. आंख ऊपर कीं, और मुसकरा कर बोले:

"कभी इसपर हाथ आजमाया है ? कोई बड़ी कारीगरी नहीं है. लेकिन शांति बहुत मिलती है."

"नकारात्मक तो वह शांति नहीं होती ?"

"शांति नकारात्मक ही है. हम नकार को गलत समझते हैं. पर जब हम नकार होते हैं, तब जो है वह मिट नहीं जाता, बल्कि वह खुला अवसर पाता है. हमारे यहां ध्यान है, योग है, वह सब एक तरह नकार की ही साधना है. पर वह हमारे जीवन में, भारत के जीवन में, वृथा नहीं हुआ है."

"क्षमा क़ीजिएगा, क्या वह मुंह फेरना नहीं है, पलायन नहीं है ?"

"है. लेकिन वह अशुभ नहीं शुभ है."

"चुनौती को आगे बढ़के भेंटना नहीं, उस से बचना शुभ है ?"

"चुनौती समझते हो, यही गलती है. तब तो बचना ही इष्ट है. पर वह तो आमंत्रण है. चुनौती को आमंत्रण के रूपमें देख सकने की क्षमता आदमी को इसी साधना में से मिल सकती है. नहीं तो वह भूत के भय से हाथ पैर नचाता दीखेगा, मुसकरा कर उस भूत को भगा नहीं सकेगा.

पर छोड़ो, सामने है, प्रयोग करके न देख लो. दो रोज न लगेंगे और तुम कातने लग जाओगे. फिर जो कहता हूं, वह न पाओ तो छोड़ देना. कोई कौल में तो मैं बांधूगा नहीं."

"आप बड़े मोहक हैं—"

"पर चरखेके हाथ नहीं लगाओगे न ! बड़ी हठी जाति है तुम्हारी."

मैंने कहा कि इच्छा का निरोध सीख रहा हूं, और अनुज्ञा हो तो मैं अब जा सकता हूं. पर सात रोज तक आप का पीछा नहीं छोड़ने वाला हूं.

हंस कर बोले, "इतना प्रेम है तो यहीं आकर मेरे साथ रहने की व्यवस्था क्यों नहीं कर लेते."

"यह ऊंचा किला ठहरा. मेरा उतना भाग्य कहां !"

"भाग्य बनाना भी नहीं चाहते ? चाहो तो बन सकता है. सोच लो."

मैंने कहा कि मैं आचार्य की समता करने का साहस कर ही कैसे सकता हूं.

"ठीक है, आचार्य को ऐसे ही ऊंचे टांग रखना ठीक है !"

उस प्रखरता से ज्यों-त्यों अपनी रक्षा की और कहा, "मेरा प्रणाम स्वीकार करें."

"तो मेरा काम आशीर्वाद देना हो गया न ? भगवान तुम्हें सुखी रखें."

...सवेरे की यह बात है. दोपहर तक मैं लौटा. अब रात ग्यारह बजे यह लिख रहा हूं. सवेरे की मुलाकात धीमी नहीं हो पाई. कहां क्या है, अनुमान नहीं सकता, लेकिन आचार्य के व्यक्तित्व में कहीं कुछ जम कर वज्र की तरह कड़ा पड़ा हुआ है. यह व्यक्ति अटूट है. यद्यपि कोमल की कमी नहीं है, पर जाने कितने दबाव के नीचे पड़ कर प्राण का कुछ भाग हीरे की कनी सा तीखा हो आया है. उसकी उकेरी एक लकीर इतना गहरा काटती है कि निशान भर नहीं सकता.

यह एक व्यक्ति है जो प्रतीक है. वह निज तक ही नहीं है, मानों एक परंपरा उसमें मूर्त है.

४ मार्च—(सवेरे ६ बजे)

अभी फोन मिला. जयवर्धनने पूछा कि आचार्यका स्वास्थ्य मैंने कैसा पाया, प्रसन्न हैं ? मैंने बताया कि स्वास्थ्य अच्छा है, पर प्रसन्न कहना कठिन है.

जय ने कहा कि मालूम करो, उनकी प्रसन्नता में मुझे क्या कर्तव्य है. वह बाहर होना चाहेंगे ? मेरी तो बहुत इच्छा है, पर नकारात्मक राजनीति उनके योग्य नहीं. पूछना, मेरे लिए क्या कहते हैं.

पीछे इला ने भी बात की और कहा कि कहना, हम लोग सकुशल हैं और वह हर तरह अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें.

मुझे मालूम था कि आचार्य के पत्रव्यवहार पर और मुलाकात पर बंदिश है. मैं उस बंधन का इस विश्वास से मेल न मिला सका. विश्वास हार्दिक प्रतीत होता था, फिर क्या बंधन कृत्रिम है ? तो फिर वह है ही क्यों ?

चित्त को समाधान नहीं है.

शायद जीवन एक तनाव है, समाधान वह नहीं है. विरोधको भीतर लेकर जीना होता है. चाहते हैं वह हो नहीं पाते. यही चाह की कीमत और मुसीबत है.

मेरे मन में जयवर्धन के लिए करुणा है, पर उतनी ही आलोचना है. वह अपने प्यार को अंगीकारता क्यों नहीं है ? पर शायद है कि उस बड़े प्यार को मैं समझता न होऊं. कहते हैं प्यार सहना है. तो क्या प्यार करना नहीं है, सहना ही है ?

मैं उलझन में हूं. चलो कुछ नींद लूं. अभी सवेरा है.

४ मार्च—(रात)

...आचार्य से कहा कि सवेरे फोन आया था, स्वास्थ्य पूछा है और—

"इला ने?"

"दोनों ने."

"कह दिया न कि मैं हर तरह स्वस्थ हूं और खुश हूं."

"खुश तो नहीं कह सका."

"तो, भई, खुश किसे कहते हैं ? नहीं कहा तो तुमने गलत कहा."

मैंने कहा, "खुश रहने के लिए क्या कोई किले में रहता है ?"

"तुम समझते होगे," आचार्य ने कहा, "कि उसके लिए आदमी समाज में रहता, परिवार में रहता है. वहां रहता है जहां का रहना स्वतन्त्र कहा जाता है. पर ये शब्द हैं. स्वतन्त्रता अंदर है. दीवारों से वह घिरती नहीं, न दीवार के बाहर होने से वह बन आती है. अब कहो तो कहना कि खुश से और होने का मेरे पास कारण ही नहीं."

मैंने कहा, "मैं जानता हूं, लिखने–मिलने की आप पर बंदिश है. यह कम कारण नहीं है कि जयवर्धन खिन्न हों, और आप खिन्न हों, और इला खिन्न हो. जय ने पूछा था, क्या हो सकता है कि आप बाहर हों."

"पूछा है? मुझसे सीधे भी पूछा जा सकता था."

"मैं उन्हें कहूं कि सीधे आप से बात कर देखें ?"

"बिना कहे उसके लिए यह कठिन होता है क्या ?"

"होता हो, तो क्या यह समझ में आना मुश्किल है ? शायद उन्हें संकोच हो. हो सकता है, वह अपने को आपका अपराधी समझते हों."

"अपराध!" आचार्य ने कहा, "वह तो कानून से बनता है. राजा अपराध कर कैसे सकता है!"

"आप कठोर होते हैं, आचार्य."

"नहीं. वस्तुस्थिति कहता हूं. न्याय से ऊपर होकर आदमी अपराध

कैसे कर सकता है ? भगवान् का अपराध ? लेकिन उसके निर्णायक हम-तुम कैसे हो सकते हैं ! वैसा कुछ हो, तो वह और उसका भगवान जाने. मैं उसमें क्या कर सकता हूं !"

"लेकिन उनमें संकोच तो आ सकता है. मुझे निश्चय है, वह खिन्न हैं. आपसे बात करने का उपाय चाहते हैं और अपने को निरुपाय पाते हैं."

हंसकर कहा, "तो आखिर उपाय के लिए उसे तुम प्राप्त हुए ! मैं यहां छः वर्ष से हूं. चलो, जल्दी उपाय मिला. हां, तुम क्या चाहते हो ?"

"आप बाहर किन शर्तों पर आना चाहेंगे ?"

"यह तो जय के सोचने की बात है."

"नकारात्मक राजनीति में वह आपको देखना नहीं चाहते. वह शायद आपके योग्य भी नहीं."

"मैं समझा," आचार्य ने कहा, "जहां वह मुझे देखना चाहता है, वह जगह शायद यही है. तो ऐसा ही हो. सुनो, विलबर, वह विघ्न नहीं चाहता, मार्ग निष्कण्टक चाहता है. मैं उससे पहले, उससे अधिक, यह चाहता हूं कि मैं विघ्न न बनूं. कांटा न बनूं. इससे मैं यहां सचमुच प्रसन्न हूं बाहर जाने पर मेरी आवाज को कौन रोकेगा ! अभी तो इन दीवारों को मोटापा देनेवाला राजका नियम रोकता है, और मैं इसलिए रुक जाता हूं कि मेरी लड़ाई दीवार से नहीं है, हृदय से है. दीवार डाल कर पीछे हटता हूं उस हृदय तक बात जब भी पहुंचे, मुझे धीरज है. काल अनंत है, यहां जल्दी क्या है ! लेकिन, बाहर जाकर आवाज न खुलेगी या उसके कारण कोई संकट न आएगा, यह आश्वासन चाह कर भी मैं बेचारे जय को नहीं दे सकता. लेकिन वह इतना कायर क्यों है ? आश्वासन चाहता क्यों है ? मेरा तो दल नहीं है. विद्रोह मेरा धर्म नहीं है. लेकिन जो सचाई मेरा धर्म है उससे वह डरता क्यों है ?"

"आप मानते हैं, वह डरते हैं ?"

"दुनिया यह न मानती होगी. तुम्हारे लिए भी मानना मुश्किल

दीखता है. वह जयी समझा जाता है, लेकिन ये इतने परकोटों की दीवार उसके डर में से ही मुझे घेरने को नहीं आई है तो कहां से आई है ?"

"पर वह अगर राज से उतरने को तैयार हों, तो ?"

"मैं कब यह चाहता हूं? उस तैयारीका फिर मुझे क्या करना है?"

"क्षमा कीजिए, आचार्य," मैंने कहा, "बात कुछ साफ नहीं हुई. आप क्या चाहते हैं ? राज आप के निर्देश से, आप की नीति से चले, तो इस इष्ट के लिए आप तैयार हैं ? या यह चाहते हैं कि स्वयं जयवर्धन उस नीति-निर्देश से राज चलाएं ? यह क्या आरोपण न होगा ? बलात्कार न होगा ?"

आचार्य सोचते से दिखाई दिए. बोले, "तुम ठीक कहते हो, विलबर, और शायद मैं गलत हूं. लेकिन राज प्रजा का है. बहुमत से अधिपति को चलना होगा. इसमें मैं चाहूं तो भी क्या कर सकता हूं ! जनमत का तो आरोप या बलात्कार नहीं होता. उससे भी जो मुक्त रहना चाहे वह राज्य पर जाए क्यों ?"

"लेकिन आप कहते हैं कि आप किसी दल के साथ नहीं हैं. बहुमत दल द्वारा ही तो व्यक्त होगा. आइए और उसका नेतृत्व कीजिए. और दायित्व जो आए उसे उठाइए. नीति आपकी चले और उसको चलाने का काम दूसरों को करना पड़े, यह कैसे हो सकता है ?"

"नहीं हो सकता हो, तो मैं यहां हूं ही, और उसकी फिर विशेष चिंता करने की भी आवश्यकता नहीं है."

"पर जय को दुःख है."

"मुझे भी दुःख है."

"तो यही कहना होगा कि कुछ नहीं हो सकता ?"

"सुनो, विलबर, जय ने मुझे यहां रखने की जिम्मेदारी उठाई है. मुझे बाहर करने की जिम्मेदारी भी अगर वह पूरी तौर पर उठाना चाहे, तो वह जाने. मुझे उसमें साझी बनाने की उसके लिए कोई जरूरत नहीं—लेकिन कल तुमने नहीं कहा कि तुम कुछ प्रयोजन लाए हो, नहीं

तो मुझे मिलने की आवश्यकता न होती."

कह कर उन्होंने कल की भांति अपना चरखा पास खींच लिया. देख सका कि वह यंत्र सधा आयुध है, एक अच्छा शरणस्थल है.

क्षमा-प्रार्थी सा बन कर मैंने कहा, "निवेदन कर चुका हूं कि फोन सवेरे ही मिला. और वह सर्वथा अप्रत्याशित था."

आचार्य चरखे को उद्यत करने में व्यस्त रहने हुए बोले, "आगे वृथा संदेश वाहक आप न बनिए, खासकर जब कि संदेश सीधा भी पहुंचाया जा सकता है."

"लेकिन राजनीति मेरा विषय नहीं है और यहां के लिए मैं विदेशी हूं. कौन यहां कहां है, इसमें मुझे रस नहीं है. मैं जीवन का विद्यार्थी हूं और उसी के नियमों की शोध में हूं. आकस्मिक और आपद्धर्म के तौर पर राजनीति की सी लगने वाली चर्चा जो आगई, उसके लिए क्षमा करें....क्या मैं पूछ सकता हूं पुस्तकें क्या हैं, जो आप यहां पढ़ते हैं ?" एक ओर एक-समान कागज़ से मढ़ी गिनी-चुनी जिल्दों को देख कर मैंने पूछा.

"मैं बहुत कम पढ़ता हूं. अपने शास्त्र मुझे प्रिय हैं. उपनिषद, रामायण और कभी भागवत. गीता तो है ही."

"अखबार ?"

"कोई खास नहीं. जो आ जाते हैं देख लेता हूं."

इस तरह बात का रुख मोड़ा और साहस से पूछा, "ऐसा तो नहीं लगता कभी कि आप समय की गति से अलग और निरपेक्ष हैं, उससे संबंध छूट गया है, और उसे दिशा देने की सामर्थ्य से भी अलग जा पड़े हैं !"

सोचते से बोले, "हो सकता है. कालको दिशा देन की मेरी महत्त्वाकांक्षा नहीं. फिर शक है कि लहरों में सागर की यथार्थता है. उसका गांभीर्य शायद थाह में है. चलते काल में क्या हमें अचल नहीं रहना है ? काल के बीच मनुष्य को अ-काल बनना है. वह क्षण की उपासना से नहीं,

शाश्वत के ध्यान से होगा."

मुझे उत्तर उतना प्रिय न हो सका. जैसे उस में बचाव हो, आत्म समर्थन हो. कहा, "स्थित तो पदार्थ भी है. चेतन क्या वही नहीं है, जिस में निरंतर गति है, स्पंदन है ? जो लहराता है और सतत प्रवाह में है ? मुझे लगता है तत्त्व ही स्थिर है, जीवन को चंचल होना होता है."

आचार्य ने विवाद में अरुचि दिखलाई, जो मुझे अच्छा लगा. बोले, "हमारी भाषाएं अलग हैं, बात उतनी अलग नहीं है. पर निश्चय ही आप शब्द की उलझन में डालने मुझे नहीं आए हैं. शब्द सूचक है और मौन से हम एक दूसरे को ज्यादा समझ सकते हैं. शब्द तभी न सिद्ध बनता है, जब वह मौन इंगित से बोलता है ? कुछ है बिलबर जो तुम पीछे रोक रह हो. कहते क्यों नहीं ? शब्द से नहीं तो चुप से कह सकते हो. इधर-उधर के नाहक वाक्यों में से पाना मेरे लिए मुश्किल है."

सुनकर मुझे अचरच हुआ. लगता मुझे भी था कि कहीं कुछ छूट है, रीता है. दो के बीच जो भराव चाहिए वह नहीं है. शब्द दोनों ओर से आ कर आप ही बीचमें खो जाते हैं, आरपार किनारों को मिला नहीं पा रहे हैं. पर पीछे मैं कुछ रोक रहा हूं, यह सुनकर मैं असमंजस में पड़ा. मुझे जैसे यह पता न था. पर सुनकर लगा कि बात झूठ नहीं है. लेकिन क्या रोक रहा हूं, यह भी पकड़ में नहीं आता.

कहा, "जी, नहीं. मैं किसी विशेष प्रयोजन से आया हूं. यह सोचना आपका ठीक नहीं है."

बोले, "प्रयोजनसे आता है तब भी आदमी खिचकर आता है. प्रयोजन ही उसका सब कुछ नहीं होता. यही कहता हूं, प्रयोजन न रखो. सावधान न रहो. शिष्टाचार भी छोड़ो. खुले खुल आओ. संयम ही आदमियों के बीच बड़ी बाधा है. प्रेममें संयम हारता है, इसीसे प्रेम बड़ा है."

मैं सुनता रह गया. आचार्य यह क्या कह आए ! लगा इन शब्दोंमें बेहद सचाई है. प्रेम में संयम टूटता है, नियत वहां सब सहज हो जाता है. सचमुच यह बड़ा सत्य है. कहीं अन्दर मेरे काठिन्य था. वहां आलो-

चना थी, अभिमान था. उस महासत्य के स्पर्श से वह सब विगलित हो आया. अंदर ही अंदर आभार से मैं गदगद बना.

कहा, "महाराज, आप क्या देखते हैं ?"

"तुम लेने आये हो. दूसरे की थाह तक लोगे. पर क्या इसमें अपने को पाओगे ? सच यह है कि तुम अपने को पाना चाहते हो. वह पाना तो देनेसे ही होगा. अपने को रोकते क्यों हो ? दे डालो. लाओ, मैं पूछूं, तुम क्यों घूम रहे हो ? जयवर्धन को जानने, या दुनियाको जानने ? पर मुझसे सुनो कि जानना पाना नहीं है, इसलिए एक को पालोगे, तो उस में से दुनिया को ज्यादा जान सकोगे. सब जानकर किसी को न पाया,तो कुछ न पाया, कुछ न जाना. पर किसी एक को भी पासके तो लगेगा कि अब जानना बाकी नहं. है. तुम्हारा चौथा तलाक हुआ—देखा न, मैं भी अखबार पढ़ता हूं !—बताओगे, यह क्या होता है !"

बात अकस्मात आई और मैं असमंजसमें पड़ा. जीवनको हम पश्चिम के लोग वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखते हैं और समझते हैं उस सम्बन्धमें अन्तमें कुछ अज्ञेय न रह जाएगा. इससे ज्ञानकी दीप्ति सब ओर ले जाने में हमारा साग्रह विश्वास है. हमें झिझक नहीं है, बल्कि साहस है. यह हम मानते हैं. फिर भी मुझमें जाने कहां से झिझक हो आई.

कहा, "यह क्या निरी वैयक्तिक और महत्त्वहीन बात नहीं है ?"

आचार्य नें गंभीर भाव से कहा, "नहीं. महत्त्व से हीन होने के लिए यहां कुछ नहीं है."

मैंने धीमेसे कहा, "दो व्यक्ति नहीं मिल पाते, इससे अलग हो जाते हैं. इसमें अनोखा तो कुछ नहीं है."

"नहीं, अनोखा कुछ नहीं. पर दो मिल कैसे पाते हैं, यह तो फिर भी जाननेको रहता है ना. यह सदा अनोखा है. मैं कहूं कि बिना खोए मिलना नहीं होता और खो जाने पर फिर अलग होना नहीं होता—तो तुम्हें कैसा लगेगा ?"

स्वीकार किया कि मेरी कुछ समझ में नहीं आया.

वोले, "छोड़ो—फिर विवाह करोगे ?"

मैंने कहा, "विचारनेसे तो होनहार नहीं होता. विवाह अनायास आ जाएगा तो हो जाएगा. लेकिन आपका चित्त उधर क्यों गया ?"

"तुम्हारे लिए. क्योंकि तुम अपनी वात न लेकर ज्ञानार्जन के पीछे पड़े हो. अपने से अलग, सुनो, किसी को न जान सकोगे—जय को, इला को, मुझको, किसी को नहीं. तुम उत्सुक हो, जिज्ञासु हो, और यह अनुचित नहीं है. लेकिन अपने में से न जानोगे तो पूछ-ताछकर तथ्य जमा कर के कितना जान सकोगे, मैं कह नहीं सकता."

मैं विस्मित भावसे आचार्यको सुनता और देखता रहा. मालूम हुआ कि यह पराङ्मुखी नहीं वल्कि पराक्रमी व्यक्ति है. किसी क्षितिज पर उसकी मनीषा रुकना नहीं जानती. प्रयत्न उसमें थकता नहीं, सदा पार की टोहमें रहता है. सच एक है इससे अनन्त है. इधर आर नहीं है, इस लिए उधर वहां कोई पार भी नहीं है. यह जानता है, और यही ज्ञान उसमें श्रद्धा लाता है, शायद भक्ति भी लाता है. पर रुकाव नहीं लाता, प्रश्न को उसमें मंद नहीं करता. प्रश्न अपनी ओर मुड़ कर केवल स्वस्थ होता है, कम तीव्र नहीं होता.

"हां," मैंनें कहा, "मैं इसीपर व्यस्त हूं. मेरे चार विवाह हुए, चार तलाक. हर वार भगवान के साक्ष्यमें हमने दुहराया कि जीवन में मरण में साथ होनेके लिए हम मिल रहे हैं. पर भगवानकी साक्षी और हमारी प्रतिज्ञा किनारे कहां रह गई, पता न चला, और सुभीता होते हम अलग ही हो गए. यहां...विवाह नहीं है, किसी ओरसे उसकी मांग नहीं है, फिर भी क्या है कि दोनों एक दूसरेके लिए विश्वास और आश्रय का अभिन्न अवलम्व वन गए हैं, मैं कुछ कह नहीं पाता. और देखता हूं कि आप यों अनुमत न हों पर गहरी अंगीकारता में उसे स्वीकार कर सके हैं. यह सव मेरे लिए कठिन हो रहा है, समझ उसे समा नहीं पाती."

आचार्य मुसकराए, "तुमने इस पर इधर-उधर का साहित्य तो पढ़ा है ?"

"पढ़ा तो है, पर वह मदद नहीं देता."

"विलबर," आचार्य सहानुभूतिपूर्वक बोले, "हम भगवान को उपासना के लिए मानते हैं, पर हर दो के बीच वह हमेशा मौजूद है. नफ़रत में भी वह है. हर सम्बन्धको वह थामता है. अलगपन ही है जो अनीश्वर है. पर ईश्वर के सिवाय और है कुछ नहीं, इससे निरा अलगपन भी कहीं नहीं है. विवाह में हम एक नहीं होते, भगवान में ही एक हो सकते हैं. विवाह पर तलाक आएगा, लेकिन भगवान के आगे आने को क्या रह जाता है? मैं नहीं जानता कि तुम समझ रहे हो. पर और शब्दोंमें उस बात को कहूं, तो कैसे? जहां कोई रीति नहीं, रूढ़ि नहीं, कोई रूप नहीं, कोई दायित्व नहीं, सच पूछो तो भगवान वहीं रहता है. और फिर रहने के लिए वहां कोई रिक्त नहीं रह जाता. जय कुछ हो, अहं-परायण हो. विषम भी हो, पर इस जगह वह बहुत ही खरा है. बीच में भगवान के सिवा वह किसी आश्रय या साक्षी की आवश्यकता में नहीं रहता. इस उसकी आत्म-प्रतीति पर मैं सब कुछ हार रहता हूं. अन्यथा उसे राज से अलग करना कुछ कठिन न था."

मैंने कहा, "इला की ममता शायद आप को परिपूर्ण न होने देती हो."

बोले, "नहीं, ममता जयकी भी है. शायद जयकी ही है. उसके बचपन को तो अधिक लोग जानते नहीं हैं, मैं जानता हूं. वह बेहद निरीह था. अधिपति पर आक्रोश ले आता हूं और देखता हूं वह उचित है. पर निरीह बालक जब आंखोंमें आजाता है तो मुझसे कुछ नहीं होता. बाण गिर रहते हैं और मैं असमर्थ हो आता हूं. मेरी याद मुझे कोमल करती है, सो भी नहीं. कमबख्त अपने अधिपतित्वमें अब भी वह निरीह है. इससे इला भी कुछ और नहीं कर पाती, संग रहे आती है. और मुझे अपने क्रोध में भी उसे क्षमा करना पड़ता है, और मैं भी अपने यहां रहे आता हूं और होनहार को भगवान की लीला जान आलोचना को पीलेता हूं और प्रार्थना को बुला लेता हूं. पर मैं यह अपनेको क्या ले बैठा! मैं तो तुम

से तुम को पाने चला था."

इसके वाद मेरी वातें हुई, जो यहां अनावश्यक हैं. उनकी दिलचस्पी का पार न था और अपनी चारों पत्नियां और तीनों संतानों के वारे में मैंने कहा और उन्होंने जाना. इस विधि मैंने पाया कि मैं हल्का हूं और कृतज्ञ हूं और आचार्य के लिए मेरे मन में आपूर्ण प्रणमन भर आया है.

शामको फोन इलाने लिया. मैंने वताया कि आचार्यको किसी माध्यम द्वारा वात सुनना प्रिय नहीं हुआ. जय सीधे उनसे कुछ कहें, तो शायद वे ध्यान पर लें.

इलाने सुन लिया और अपनी ओर से कुछ नहीं कहा. मेरे पास अधिक जोड़नेको क्या था. इस तरह एक मिनटमें वात खत्म हो गई और इला ने फोन रख दिया. मुझे यह अच्छा न लगा. जैसे विश्वास खुला था, वह वंद होरहा हो.

मैं तनिक खिन्न हूं. मन पर इन चीजों का असर नहीं होना चाहिए, पर होता है. वह क्या मन है जिस पर असर ही न हो ? अप्रभावित रहने को सिद्धान्त तक वनाया जाता है. लेकिन वह गलत है. असर पत्थर पर नहीं दीखता, इसीसे वह पत्थर है. एक यहां का (भारत का) योग आदमी को शायद पत्थर वनाना ठानता है. मुझे उसमें अश्रद्धा है. जीव को जड़ नहीं वनाया जा सकता. इसीसे वनाने की कोशिशमें पुरुपार्थ-सा अनुभव हो सकता है. पराजयमें से हठ और हठयोग निकलता है. पराजय संकेत होना चाहिए था कि साधन की दिशा मुड़े, पर हठ उपजने पर जो हो थोड़ा है.

भारत के धर्म के साथ यह हठवादिता भी देखता हूं. क्या दोनों का साथ होना अनिवार्य है? धर्म जो उजलाता है, हठ जो केवल जलाता है!

पश्चिम के हम जो घटना में होता है उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकारतामें लेते हैं फिर उसके 'क्यों?' की खोजमें चलते हैं, 'होना चाहिए'को लेकर 'है' से हटते या उसे दवाते-कुचलते नहीं हैं. भारतमें इसीकोसाधना मान लिया गया है कि यथार्थ को आदर्श से दावे रखा जाए. यथार्थके विद्रोह

की सुनी न जाए, बल्कि उस आवाज पर आदर्श के रव का और घोर उन्नाद किया जाए. किंतु प्रत्यक्ष यथार्थ सत्य का उद्‌घाटन ही है; जबकि आदर्श में हो सकता है हमारे हठका अहं और असत् ही हो, तथ्य विशेष न हो. ईश्वर कह कर इंद्रिय-विषयोंके अस्वीकरण और उनके निराकरण की राहसे हम अनीश्वर तक पहुंच सकते हैं. जैसे जगत् ईश्वर में से न होकर स्वयंमेव ही होगया हो ! यह विरोध अनिष्ट है.

पर मैं वहकूंगा नहीं. समझ सकता हूं कि जय आदि के पल-पलकी कीमत है. पर फोन यों बन्द करना शिष्टता भी नहीं है. नहीं, मन पर बोझ न लूंगा, उनसे सफाई की आशा रखूंगा.

५ मार्च—

आचार्यके पास जानेका यह तीसरा दिन था, पर वही अंतिम हुआ. सवेरेके समाचार-पत्रोंमें एक वक्तव्य पढ़नेको मिला. मैंने जाते ही पूछा,

"आपने आज का अखबार देखा ?"

आचार्य व्यस्त थे. धोए कपड़े उतार कर उन्हें तह कर रहे थे.

मैंने दोहराया. "आज का पत्र आपने देखा होगा."

उपरनेको चौहरा कर उस पर हाथ फेरते हुये बोले, "वक्तव्य ना ? हाँ, पढ़ा. आओ, बैठो".

मैं चटाई पर बैठ गया. मेरे बैठनेके दो मिनट अनंतर तक वह कपड़े तहा कर रखते गए. फिर सामने बैठ कर बोले, "तुम्हें विस्मय है शायद. पर मैं जय को जानता हूं. वह स्पष्ट नहीं है तो कुछ नहीं है."

मैंने कहा, "लेकिन खुद उन्होंने फोन पर मुझसे उल्टा कहा था".

बोले, "नहीं. वह भी सीधा ही था. क्या इसे तुम अब झूठ मानोगे कि वह मुझे बंद नहीं रखना चाहता ? और तुम तो डिप्लोमेसी माननें वाले हो ?"

मैंने कहा, "उस नाप से क्या आप लोगों को भी नापना होगा ? मैं कह सकता हूं कि जय मेरे साथ हार्दिक थे. फिर यह क्या बात है ?"

हंस कर बोले, "बात बहुत गूढ़ नहीं है . जय ने प्रेस वालों को यही कहा ना कि मेरे जैसे के लिए जेल के सिवा दूसरी जगह नहीं है. यह भी कि खुली अदालत में मुझ पर मुकदमा चलाना भी सरकार जरूरी नहीं समझती. इसको तुम अन्याय कह सकते हो, पर बात बेसाफ नहीं है. इस स्वच्छताकी सबको तारीफ करनी होगी."

कहकर आचार्य मुसकराए. क्या उस में व्यंग्य था ? लेकिन मैल मुझे नजर नहीं आया.

बोले, "ध्यानसे वक्तव्यको देखोगे, तो व्याख्याकी जरूरत न होगी. मैं खुद उस वक्तव्यका वकील हो सकता हूं. एक पार्टी मेरी रिहाई का शोर मचाती है. वह पार्टी वैध है और खुलकर कर काम करती है. जतलाना यह चाहती है कि मैं उनका हूं. वह विरोधी पार्टी है. विरोधी पार्टी के पास लोकतंत्र में काफी वैधानिक हक होता है. जय इस चालमें न आना चाहे तो उसका क्या दोष ? पार्टी मेरे नाम पर अपनी ताकत बढ़ाती है. यह सच है कि मैं पार्टी का नहीं हूं, न साथ हूं, न उस रूपमें उससे सहानुभूति रखता हूं. पार्टीवाले यह जानते हैं. पर मेरा जेलमें होना प्रचार के निमित्त उन्हें अनुकूल पड़ता है और मेरी रिहाई की मांग उन्हें बल-संगृह और लोक-संगृह के लिए एक मुद्दा देती है. जय मेरे प्रश्न को इस प्रपंच से अलग रखता है यह ठीक ही करता है. उसका कहना कि यदि व्यक्ति वैधानिक मार्गका अवलंबन नहीं करता, फिर भी निरंतर राजदोष की बात कहता है, तो वह राजनीतिक कर्म नहीं रहता, प्रकट राजद्रोह हो जाता है. रचनात्मकता उसमें नहीं, सहयोगकी संभावना उसमें नहीं, इसलिए राज्य के पास उससे और उसके विचारोंसे लाभ उठानेका कोई उपाय नहीं रह जाता. फिर भी उससे होनेवाले अलाभकी संभावना कम करने का कर्त्तव्य राज्य के लिए अवश्य है, इसलिए जेल ही उसके लिए जगह है—"

आचार्यने एक क्षण देखा, जैसे पूछते हों कि वक्तव्यका आशय अन्यथा तो नहीं है.

मेरा स्वीकृतिसूचक मौन पाकर वह वोले :

"वक्तव्यमें देखोगे, यह भी कहा गया है कि आचार्य देशके अग्रगण्य और विश्व के मान्य पुरुषों में से हैं. हमें प्रतीक्षा है कि राज्य के विपय में आचार्य की नीति और विचार कव रचनात्मक होते हैं. राज्य के एक साथ नष्ट और खंडित होनेमें किसीका लाभ नहीं है. सरकार वदल सकती है और प्रस्तुत सरकार किसी समय अपना आसन छोड़ने को तैयार है. लेकिन राज्यकी रक्षामें ही आज देश और उसका नागरिक सुरक्षित है, इसलिए उसे केवल नकारात्मक प्रहार के समक्ष अरक्षित नहीं छोड़ा जा सकता. यह भी कहा गया है कि आचार्य का स्वास्थ्य हर तरह ठीक है और उनकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखा जाता है. मुलाकात और पत्र व्यवहार के विपयमें सामान्य नियमका वंधन उन्हें अस्वीकार्य नहीं हुआ है, वल्कि स्वेच्छासे उसतकका लाभ उठाना उन्होंने छोड़ दिया है. सरकारके पास ऐसी कोई खवर नहीं है कि इस व्यवस्थामें वह असंतुष्ट हैं. इस संवंधमें आचार्य के लिखने या कहने पर समुचित रियायत करने में सरकार को आपत्ति न होगी...

तुमने शायद इन शव्दों पर लक्ष्य नहीं किया, मुझे तो कहीं तनिक भी आपत्ति की वात नहीं दीखी, वल्कि मेरे प्रति अतिरिक्त ध्यान के लिए मुझे और कृतज्ञ होने का कारण ही जान पड़ा."

आचार्य का सद्‌भाव स्पष्ट था. वह सर्वथा अविचलित और प्रसन्न थे. किन्तु मुझे यह सव जाने क्यों अच्छा नहीं लग रहा था.

मैंने कहा, "राज्य क्या देवता है कि उसके लिए व्यक्ति को कैद में डाला जाएगा? और आप उसका समर्थन करेंगे ?"

वोले, "हां, राज्य देवता ही है, और यह कदाचित् अच्छा ही है कि और वहुत से देवता मिट रहे हैं और सव जगह यह नया देवता पुजने में आरहा है. अव वलि होती है तो इसकी वेदीपर. वहुत मिटकर एक देवता जव रह जाएगा तो उसका गिरना भी आसान हो जाएगा. इससे मुझे यह सवठीक मालूम होता है. राज्य मुरझा कर अनावश्यक होने से पहले वहुत

स्फीत और पुष्ट हो, तो इस लक्षणको शुभ ही मानना चाहिए. चींटी के पर निकलते हैं, तो क्या ठीक मृत्युके पहले ही नहीं?"

उस क्षण आचार्य को देखकर मैं यह जान सका कि क्यों आवश्यक होता है कि सन्त शहीद हो. कारण, उसका नियम अपने में है, बाहरके समर्थन की अपेक्षा में नहीं है. समाजका नियमन करने वाला राज्य सदा समर्थन चाहता है. अतः आत्म-समर्थित व्यक्तिको सामने पाकर उसे जैसे चुनौती मिलती है. उसके लिए तब आत्मरक्षाकी आवश्यकता हो आती है. इस आत्मरक्षा में जरूरी होता है कि सन्त को वह दुष्ट माने और उसे समाप्त करनेका हर उपाय रचे. जैसे सन्त राज्य की आवश्यकता का स्वयं इनकार हो. इस तरह वह अराजनीतिक होकर भी अनायस बड़े से बड़ा राजनीतिक क्रान्तिकारी हो आता है.

मैंने कहा, "राज्य को बलि लेते आप देखते जाएंगे और इसीमें से मानेंगे कि इष्ट भविश्य आएगा ?"

बोले, "नहीं, आगे बढ़कर मैं अपनी और अपनोंकी बलि दूंगा. इसी में से एक दिन राज्य बलि लेना भूल जाएगा. वह शक्ति का नहीं, प्रेम का होना सीखेगा. उपाय एक यही है."

"अर्थात्, हृदय परिवर्तन ?"

"हां, हृदय परिवर्तन. पर वह परिवर्तन प्रिय नहीं होता, बहुत ही कष्ट कर होता है. इससे पूरी जिद बांधकर आदमी अपने ही हृदय-परिवर्तन से लड़ता है. शासक अपनी आदतके वश है, हर पल कष्ट पाता है, पर आदतसे लाचार हुकुमतमें गर्व मानता है. सबसे कटकर ऊपर चढ़ा बैठा वह अकेला भी हो आता है, लेकिन इसी अपनी अद्वितीयता को चूसकर वह अपना कष्ट भुलानेकी कोशिश करता है. उसके इस मोहको बाहरसे तोड़ा नहीं जा सकता. बाहरसे तो वह मोह बनता ही है. बाहरी प्रहार अपने कष्ट की पहचान से उसे दूरले जाता है. उपाय अंदर गड़े कांटेको पकाकर ऊपर खींच लाना ही है. शासकके लिए किसीको शासनाधीन बनाना आवश्यक है. उसको इस रोग से मुक्ति देने के लिए शासन का

प्रबल विरोध नहीं, उसका सहज अस्वीकार अधिक परिणामकारक होगा. यानी शक्ति की अधीनता और आतंक का अस्वीकार. मुकाबलेमें संघर्ष-शक्तिका निर्माण करने लगनेसे गर्व उसका टूटता नहीं, और बढ़ता है. इसलिए हिंसा को अधिक हिंसासे हरानेकी सोचना और उसे औचित्य बढ़ाने का साधन देना ही है, हिंसा की हार वही होगी जो अहिंसा से होगी. घृणाको व क्रोधको प्यारसे और नम्रतासे ही जीता जाएगा.इसमें त्रिकाल जितनी भी देर लगे तो लगे, पर उपाय दूसरा नहीं. लेकिन अनुभव तो बताता है कि इससे त्वरित भी कुछ दूसरा नहीं है."

मैंने कहा, "एक जमाना था कि गांधीने इसका प्रयोग किया था. पर क्या भारत उस राह को अब भूल नहीं गया है ?"

जैसे आचार्य कुछ सोचते रहे, "गांधी !" और एक भरी-सी सांस छोड़ी फिर कहा, "वह भारत का न था, जितना मानव का था. मानवता उसे भूल नहीं सकती. भूल यही हुई कि उसको भारतकी राष्ट्रीयता का समझा गया. पर राष्ट्रीयता पर आसन बांधकर लोग उसे पाएंगे कैसे ? नेहरू उसे नहीं पा सका. अब जयवर्धन—" कहते हुए वह ठिठके.

मैंने आंख ऊपर की और उन्हें देखा. उनके चेहरे पर कष्ट था.

"—वह भी उन्हें भूल रहा है !"

मुझे उस कष्टने छूआ. तो भी साहस बांधकर कहा, "गांधीको गए तो पौन सदी होने आई है. क्या व्यतीतको याद रखना होगा ? "

"जयवर्धन कहीं यही तो नहीं समझने लगा ? सब बीत जाता है, पर प्यार जीता रहता है. कौन अपने प्रेम को भूल पाता है! इससे प्यारके जो लोग आए, मानवता उन्हें भूल न सकी. वे सदा उसके अंतरंग में धड़कते रहेंगे. कर्म का पराक्रम तो थोथा गर्व है. वह डूब जाता है और सम्राट मरने के साथ ही मर जाता है. पर प्यारमें मर कर आदमी अमर होता है. भारतने अपने तात्कालिक लाभ में कर्मिष्ट गांधी को पकड़ा, इससे वह भूल में पड़ गया. पर मनुष्य ने तो उसका प्यार भोगा था, इससे वह कभी न भूल पाएगा. और विलबर, सच कहो, तुम्ही में क्या

गांधी धड़कता नहीं है, जिन्दा नहीं है ? "

मैंने प्रश्न बचाते हुए कहा, "हम लोग जयवर्धन को शांति-मार्ग का, गांधी-मार्ग का अनुयायी मानते हैं."

"ठीक मानते हो. पर गांधी राज्य का न था, पद-पदवी का न था. धरती पर पांव-पांव चलता था और आंख नीचे रखता था."

"पर नेहरू क्या उन्हीं के आदेश और आशीर्वाद से राज्य पर नहीं आए थे!"

"नेहरू को राज्य का आशीर्वाद दिया, पर अपने साथ उस निर्मम ने क्या किया ? जैसे नेहरू के लिए भी प्रायश्चित किया. सबको पाससे हटा दिया और निरा एकाकी चल पड़ा वहां जहां आग लगी थी. गांधी की इस पीड़ा-गाथा को समझने से तुम इनकार करोगे ? "

"लेकिन नेहरू ने गांधी का नाम चमकाया. भारत दुनियाके नक्शेके एक कोनेमें न रह गया, बीच में आ गया. भभक उठने वाली दुनिया में नेहरू शान्ति का दूत बना. छावनियां दोनों ओर जब लस थीं और सिर्फ़ राह में कि पहल कौन करे, तब नेहरू निडर और निहत्था, दोनों के बीच पहुंचा और कहा तुम्हारी लड़ाई दुनियाको तबाह करेगी, इसका तुम्हें हक नहीं है. दुनिया की जुबान बन्द हो, लेकिन मैं उसकी जुबान बनता हूं जब कहता हूं कि दुनिया लड़ाई नहीं चाहती और तुम्हारी मजाल नहीं है कि दुनिया के लोगों पर तुम जंग का कहर ढाओ. उस आवाज में लगन थी, चुनौती थी, आस्था थी. वह अनसुनी नहीं की जा सकी. बमों पर पहुंचे हाथ पीछे खिंच आए और धमकियोंकी जगह बातचीत ने ली और दुनिया को सांस मिला. यह नेहरूका चमत्कार किसका था ? क्या उसका अपना था ? या उस गांधी का था जो नेहरूके दिमाग में न सही दिल में तो धड़कता ही था. आप ठीक कहते हैं. विचारके और कामके गांधीको नेहरू दिमागसे हटा सकता था, पर प्यारके गांधीकी धड़कन तो नेहरू के अन्दर कभी चुप नहीं हो पाती थी.करिश्मा था तो उसी का."

आचार्य ने कहा, "मैं नेहरू को जानता हूं. उसके दिन मैंने देखे हैं.

भुलाए नहीं जा सकते वे शानके दिन. लेकिन ऊपर महिमा, थी तो क्या नीचे चैन भी था ? तरक्की थी, पर क्या सुख भी था ? नेहरूकी प्रेरणा जैसे सपनेकी थी. कहीं वह प्रीतिकी होती तो—? पर जो मिलता है उस से हम ज्यादा नहीं चाह सकते. इतिहास के रंगमंचका वह नायक हो, यह भाव जैसे सदा नेहरूके साथ रहा और उसे थामे रहा. इसीसे बड़े बड़े करतब उससे हो गये. पर यह भारतभूमि जो नत-नम्र थी और प्रार्थना की थी दौलत और ऐशकी बन उठी. जैसे भारत आजाद हुआ तो जल्दी-से जल्दी उसे अमेरिका या किसी भी संपन्नसे संपन्न देशके मुकाबलेका बन जाना था. शास्त्रकी जगह प्लान आया और शक्ति बड़े नक्शोंमें लगी. छोटे-छोटे लोग और छोटे-छोटे काम जैसे दंग हो कर देखते रह गए, और देशने ऐसी तरक्की की कि भगवान उसे भूल गया और अब यह जयवर्धन"—कहते कहते फिर वह रुके.

"वह भी भौतिकताके फेर में हैं ?" मैंने कहा.

"–उस वेगको कमसे कम रोक तो नहीं पा रहा है. लेकिन मैं उसकी-सी कठिनाइयों में नहीं हूं, इससे कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं है."

"पर कोई राजसीपन मैंने वहां नहीं देखा. जैसे हो तो वह अलग हो, जयवर्धन को छूता न हो."

"हां, दिखावा नहीं है. पर मनमें सत्ताका मोह हो तो और भी खतरनाक है, क्योंकि वह पकड़में नहीं आता."

"सत्ताके अनेक उपयोग हैं. क्या उसे अनुपयुक्त छोड़नेकी सलाह आप देंगे? राज्य एक शक्ति है. गांधीने भी उसका उपयोग किया. उपयोगके लिए ही जयवर्धन वहां हों तो क्या हर्ज है ? नेहरूकी तरह राज्य उनके हाथमें मशालके मानिंद भी नहीं है. वह कम घूमते हैं और कम बोलते हैं और कम दीखते हैं. क्या आप—"

उन्होंने बात मुझे पूरी करने न दी. बोले, "नहीं, मैं जयवर्धनकी बात तुमसे न करूंगा. मैं बंदी हूं और वह मेरे बहुत निकट है. लेकिन राज्य शक्ति नहीं, शक्तिके उदयमें बाधा है. शक्ति है वह तो नकारा-

त्मक, यानी अ-शक्ति. उसके सहयोग या उपयोगका प्रश्न नहीं है. शक्ति एक है—वह जनशक्ति, लोक शक्ति, प्रेम शक्ति. राज्य उसीके नाम और बल पर छत्र-दंड-धारीके रूपमें खड़ा होता है. यह केवल माया है, दम्भ है. यह एक हथकंडा है. डाकू दया कर सकते हैं, उपकार कर सकते हैं. लेकिन हमारा काम उस उपकारके क्षेत्रको या परिमाणको बढ़ाना नहीं है, उससे उस डाकूपनको उतार लेना है. अपने और औरोंके उपकार को नहीं, पहले उसके उपकारको देखना है. राजपर पहला उपकार यह है कि उसे अपने राजपनकों भूलने दिया जाए. उसमें से लाभ लेना उस के दंभको बढ़ावा देना है. नहीं, मुझसे यह नहीं हो सकता. यह भ्रम है कि राजसे लाभ होता है. अर्थलाभ चाहनेवाले भ्रममें रह सकते हैं, आत्मलाभ जिन्हें इष्ट है वे भ्रम नहीं पाल सकते. उन्हें स्वयं राजके भ्रम-को तोड़ना है."

मैं आचार्यको देखता था. ऐसा उद्दाम आत्मवाद पेशेवर अराजक-वादियों में भी मैंने नहीं पाया. पर वह संयत था. लगा, यह आदमी है जो अपना मत जीता है.

कि आचार्य हंस कर बोले, "पर नहीं, हम बड़ी बात नहीं करेंगे. जितनी बड़ी उतनी वह बेकार होती है. धरतीपर हम पैदा होते हैं. आस-मानमें उड़े फिरनेसे हम बड़े नहीं हो जाते. यह तो वही हुआ कि गीध सोचे कि में ऊंचा हूं. आसमानको न देखनेका ही इससे सुभीता होता है. गीध अगर अगम ऊंचेसे सड़ी लाश देखकर क्षणमें उसपर आटूटता है, तो न उस में दूरदृष्टि है, न गति-वेग है. वह त्वरा जिसमें पड़कर हम अपनेको अपनेसे ऊंचा उठा मान लेते हैं ऐसी ही अमानुषिक है. वह अंधी ताकतके बस हो रहना है. मनुष्य कुछ है तो विवेक है. वह है कि आस-पासको पहचाने और उस से एकता साधे. यह उड़े फिरना और घातमें दूर देखना और वहां झपट टूटना ऐसा ही है जैसा आदमी का मुड़ कर गीध बनना. उस पर चक्र वक्र रोमांसको चोगा पहना देनेसे अस-लियत बदल नहीं जाती. इस से, विलबर, क्या मुझे इजाजत दोगे कि

तुम्हें चरखेका पहला पाठ दूं ? कपास तो सीधी खेतसे मिलती ही है.—"

कहते हुए उन्होंने चरखा पास खींचा. उनके सचे विश्वासमें मुझे 'हां' 'ना' करनेका अवसर ही न रह गया. चरखे के अलावा भी कुछ साधन थे. एक पोटलीमें कपास थी. हठात् मैंने कहा, "मैं उत्सुक हूं."

और आचार्यनें कपासको लेकर मेरे सामने हाथके छोटे नन्हे औजारों से साफ़ किया, पौनियां बनाईं और मुझे निमंत्रण देते हुए कहा, "लो, आओ, आजमाओ तो. बेहद आसान है."

लिखते अजब मालूम होता है कि मैंने वह सब आजमाया, यद्यपि काम मुझ से कुछ ठीक नहीं हो सका. आचार्य के आग्रहसे तकुए पर चढ़ा कर रुईकी पोनीको खींचा भी जिसमें से तार तो क्या अलबता रुई की रस्सियां सी खिचती मालूम हुई. आचार्यको हंसी आई और मेरी झेंप पर उन्होंने मुझे बढ़ावा दिया और सांत्वना दी. इधर मैं भी हंस आया और विश्वास दिया कि चरखा चलाना सीख लूंगा. इस तरह हम हल्के हो आए, अपना अपनापन जैसे हमारे पास न रहा, न परिस्थितियोंका विभेद रह गया. और मुझे यह अच्छा लगा.

अंत में मैंने कहा कि अब मैं इजाजत लूंगा और कल आऊंगा.

बोले, "नहीं, कल नहीं आओगे. कपाससे सूत निकालने तक की सब विधि देखली है, अब किसलिए आओगे ? मेरे पास तो और ज्यादा नहीं है."

"पर मुझे अभी बहुत कुछ जानना है."

"उसका पात्र मैं नहीं हूं."

"पर क्या मैं कुछ नहीं कर सकता, जिससे आपके बीचकी दूरी दूर हो ?"

"पर तुम भूलते हो, भाई. वह दूरी नहीं है, निकटता है. दीवारों से दूरी नहीं बनती. निकटता न सह पाने पर कभी जबरदस्ती दीवारें बीचमें खड़ी कर ली जाती हैं. कहा न कि ईश्वरकी करनी है. हम, तुम या कोई इसमें कुछ नहीं कर सकते."

"लेकिन मुझे विश्वास है, वंदी आप जयके मार्गमें वड़ी वाघा है. मुक्त आप वाधाकी जगह वल हो आएंगे."

आचार्य वोले, "क्यों वृथा वोझ अपने कंधों मानते हो ? वह वोझ कंधोंका है नहीं. जिन मनों पर होनेके लिए है उनपर अव भी वह वोझके मानिंद है और अपना काम कर रहा है. चुपचापका वही काम ईश्वर का है. क्या तुम उसमें विश्वास नहीं कर सकते और अपने कर्तृत्वके दायित्व को वीच में से हटा नहीं ले सकते? हम जो आगे वढ़कर समारंभ पूर्वक करते हैं, क्या जानें असल होने में वही वाधक होता हो. इसलिए अव कल न आओगे और चरखे के पाठ को याद रखोगे."

मैंने सुना. वाक्य वड़े अतर्क्य मालूम होते थे. उनमें अर्थ न था, पर आचार्य के भावमें गहरी सार्थकता थी. मैं उनकी मुद्राको ध्यानमें ला सकता हूं. कुछ था जो एकदम अनुल्लघनीय था. मानो और संभव न हो, कहीं कुछ और होने या कहने सुनने का अवकाश न हो.

और सचमुच मैं देखता हूं, यह दिन अंतिम है. आगे वहां जाना न होगा. द्वार वंद है, इसलिए नहीं. पर जैसे उधर गति ही निषिद्ध है.

तीन दिन वाकी हैं. जयकी ओरसे निषेध न हुआ तो भारतमें मैं कुछ इधर-उधर भी हो लूंगा. सतहके नीचे भी कुछ शक्तियां हैं. प्रत्यक्ष नहीं हैं. इससे कुछ अधिक ही महत्त्वकी हैं. राजनीतिक आंगनके लोग गहे जा सकते हैं. हो सकता है, असल जो हों तनिक भीतर हों. महसूस करता हूं कि यहांके जीवनमें और सूत्र हैं, उनसे संपर्क साधना होगा.

६ मार्च—

फोनपर मिली तो फिर इला. मैंने कहा कि जय स्वयं क्या मुझे दुर्लभ ही रहेंगे ! वताया गया कि जय ने ही मुझे इला को सोंप दिया है. मैं इस वातको समझ न सका.

पूछा, "क्या मतलव ?"

इलाकी खिलखिलाहट कानोंमें पड़ी. तो इला हंसती भी है! तव कैसी लगती होगी !

वोली, "यह उन्हींसे पूछिएगा."

मैंने कहा, "हँसी नहीं, सच पूछता हूं क्या वात है ?"

वोली, "कहते थे, यह विलवर कामकाजी नहीं हैं और भेद लेने आए हैं जिसे वह तत्व कहते हैं. वह सव मेरी तुम हो, इसलिए देखो तुम्हीं उन्हें संभाल लेना. जरूरी कुछ हो और जितना हो उतना ही मुझतक लाना."

क्या यह मुझे अपमान मालूम हुआ ? मुझे धक्का लगा. जैसे कूट-नीति और राजनीतिमें नहीं हूं, तो महत्त्वका भी नहीं हूं. एकाएक वातको झेलना मुश्किल हुआ. जैसे मैं सचिवको सौंपा जा रहा हूं. मेरे अहंकारको चोट लगी.

मैंने कहा, "क्या मैं दूर रखा जा रहा हूं ?"

हंसकर वोली, "हां, कुछ-कुछ. लेकिन—"

मैंने पूछा, "क्यों ?"

वोली, "शायद इसलिए कि विचार दूर रहता है और वह धैर्य रख सकता है."

मैंने खीझकर कहा, "सचमुच मुझे अनुभव हो रहा है कि मेरे धैर्यकी परीक्षा हो रही है."

वोली, "आप विश्वास खोएंगे ? दार्शनिक होकर ? वह सुनेंगे कि आपने संशय किया तो उन्हें कष्ट होगा."

यह वाक्य और इससे भी अधिक ढंग जिससे वह कहा गया, मुझे छू गया.

मैंने कहा, "आपके पितासे मेरी मुलाकात खत्म हो गई. उन्होंने ही खत्म कर दी. तीन दिन मेरे पास वाकी हैं. उनसे पूछिए कि इस समयका क्या उपयोग वह सुझाते हैं. क्या मैं स्वतन्त्र उपयोग कर सकता हूं ?"

उधरसे तत्काल कहा गया, "निश्चय आप स्वतंत्र हैं."

देखा कि मैं गलत समझ लिया गया. मेरे शब्दों में उसकी गुंजाइश थी. जल्दीसे कहा, "मेरा आशय यह नहीं. मुझे परामर्श चाहिए और हर समय मेरा सही बीतना चाहिए."

"अच्छा, पूछूंगी, तीसरे पहर आप मालूम कर लीजिएगा."

मुझे यह रुचिकर न हुआ. आजकी तारीख फिर यहीं बीती और बेकार. सोचा, क्यों मैंने अपना कार्यक्रम स्वतंत्र नहीं बना लिया कि समयका सदुपयोग होता.

कहीं यह हमारा समयके उपयोगका खब्त ही तो नहीं है ? क्या अपने लिए मिल गया एक दिन हमें भारी हो जाना चाहिए ? पर हम पश्चिमवालोंका कुछ ऐसा ही स्वभाव बन गया है. जैसे अपना सामना सहना हमें असह्य हो.

कुछ पत्र लिखे और बस्तीकी गलियोंमें घूमा. मालूम होता है, समय एक नहीं है. यह सदी इक्कीसवीं है, पर कहीं चौदह ही चल रही है. हो सकता है, दूसरी जगह कहीं अभी पांचवी-छठी ही हो. हम समयका स्व-तंत्र नाप रखते हैं, पर यह हमारा हठ है. वह मिथ्या है. इतिहास एक विद्या है, जिससे हम बहलते हैं. जैसे हम परकार-पैमानेसे ब्रह्मांड खींचते हैं, वैसे इतिहाससे काल घेरते हैं. पर समय अनुभूति में है, चेतनासे विलग सचाई वह नहीं है. इतिहास किंतु स्वयं उसीको सचाई और सार्थकता पहनानेका प्रयास है. अच्छा कालयापन है, पर आगे भला उसमें क्या सार है ? चेतना समयसे नहीं चलती, बल्कि समय उससे चलता है. ऋषि हो गए जिन्होंने समयके पार देखा, और अब और आज भी जीव हैं जो क्षणमें ऐसे बंद हैं कि उन्हें उसके होनेका भान नहीं है. यहां भारतमें जय हैं, आचार्य हैं और यहीं ये गलियां भी हैं ! मालूम होता है, आदिम और अंतिम साथ रह सकते हैं. समयकी अनंतता पलतकमें फैली है. अतीत और भावी हम कहते हैं, पर सब व्यतीत और सब भवितव्य यहां इस पल भी है.

मनको अजीब लगा. ध्वनिके वेगसे तेज हम उड़ते हैं, लेकिन इस जगह है कि जीवन सरकता भी नहीं है ! क्या जीवन समग्र है ? क्या विश्व एक है ? मानवता इकाई है ? फिर यह विषमता क्या है ?

समझ नहीं पाता. चित उदास है. होता है, यह जानना-भागना व्यर्थ है. जहां जीवन मद्धिम है और रुक सा गया है, लगता है कि उसमें रम जाऊं और वहीं स्फूर्तिका वेग प्रस्फुटित कर सकूं तो क्या यह अधिक सार्थक न हो ! लगता है यही है. परम सार्थकता, परम इष्ट यही है. आदमी कुछ न चाहे, कहीं न जाए, अपने आसपास धड़कती धमनियोंमें अपनेको ऐसा खो दे और रमा दे कि वहींसे चेतन्य फूट उठे, और अवसाद था वहां प्रसन्नता खिल आए!

नहीं, यह मेरे जैसेके लिए भारी है. प्रेमका यह गंभीर विषाद-और-अनुकंपामय रूप मानो एकको ऐसा बिठा दे सकता है कि सदाके लिए उड़ना भूल जाए,—तो क्या यह क्षतिकी बात होगी ? यीशु कुछ गिनतीके वर्ग-मीलके क्षेत्रमें पांव-पांव घूम लिए और गिनतीके बरस जीकर चले गए, एक क्षणको भी वह धरतीसे पांव उठाकर उड़े नहीं, तो क्या इसमें जीवन की कोई क्षति हुई ? या कि वह जीवन इस विधि और धन्यता पागया ? गांधी पांव-पांव चला और कभी हवामें न उड़ पाया, तो क्या वह अकृतार्थ ही रह गया ?

कहीं ऐसा तो नहीं कि विस्तारमें माया है और आत्मा कूटस्थ है. ...इन बातोंमें ऐसा खोया कि तीसरा पहर कब बीत गया पता न रहा. चेत तब हुआ जब फोनने कहा कि दिल्लीसे बात कीजिए.

आवाज आई, "मैं जय हूं, बिलबर. और तुम सारा तीसरा पहर कहां खो गए ? इतनी नाराजी !"

मैंने हड़बड़ा कर इनकार किया और माफी मांगी और कहा, "कहिए, आज्ञा ?"

हंसतासा उत्तर आया, "कहिए हज़रत आप कि मेरे लिए क्या आज्ञा थी ?"

मुझे सहसा याद नहीं आया कि क्या बात थी. और कुछ असमंजस में रह गया.

जय ने कहा, "तीन दिन कैसे बीतें, यही न ! क्यों ध्यान, मनन, आसन, निदिध्यासन—तत्वज्ञ के लिए उपायों की कमी है ?"

अब समझा. सीधे कहा. "आप कहां चाहेंगे मैं जाऊं या मिलूं ?"

वही हंसी का जवाब आया. "मैं क्यों चाहूंगा कि कहीं जाओ. आराम बड़ी चीज है. भागते तुम लोग थकते नहीं हो ? बस आराम करो. वहां मुश्किल हो, तो आ जाओ, यहां आसान पाओगे."

"पर मैं घूमने आयाहूं और—"

"कहो, भटकने. मेरी मानो. जगह स्वास्थ्य की है. कुछ न करो और एकांत लूटो."

"मेरा विचार चिदानंदजी के पास होते आने का है, अगर अनुमति हो."

जय ने तत्क्षण कहा, "जरूर. और आकर मुझे बताना कि क्या मेरे लिए कहीं आशा है. सुना था उन्हें मालूम है, नरक में ठीक कहां मेरे लिए जगह नियुक्त है."

बात हल्केसे कही गई. उसमें मैंने कुछ तिक्त न पाया. कहा, "इसी-लिए जाना चाहता हूं. देश का बड़ा भाग उन्हें मानता है, शायद उतना ही बड़ा जितना कि आपको. आपके भारत का यही विस्मय है. यहाँ बहु-मत ऐसे दो के साथ हो सकता है जो परस्पर विरोधी हों. तर्हें जीवन में हमारे देश में भी हैं, पर यहां की हद नहीं. तो आपकी राय है, हो आऊं ? सुना है, मिला अभीतक नहीं हूं. देखना है कि कौन भारत है आप के बाद जो उन में मूर्त होता है और क्या दोनों में कहीं मेल नहीं है ?"

"ठीक है, खोजो. शोधक जो ठहरे. और जहां मेल की जगह दीखे, मुझे बताना."

"क्षमा कीजिए, उनके उत्पातों की कथा सुनी है. उन्हें सब छुट्टी है

और वह खुले हैं, और आचार्य जेलमें हैं जो आपको आत्मीय मानते हैं ! यह क्या है ?"

"यह नियम है, भाई. कहो, होनहार है. विरोधीको जेलमें डालने वाला मैं कौन हूं ! आचार्यकी और बात है. पर वह छोड़ो, वे 'उच्च-नीति'की बातें हैं."

यह जैसे अजब व्यंग्यसे कहा गया. मैंने कहा, "याने, धर्मनीतिकी ?"

उसी ध्वनिमें कहा, "जी नहीं, महाशय, शुद्ध राज्यकी नीतिकी, समझे ?"

कहकर हल्के वह हंसे. राज्यके 'ज्य' पर जोर ज्यादा था, जैसे मैं समझनेमें भूल न करूं.

अजब लगा. जयके शब्द एक ओर यहां होते हैं, आशय कहीं दूसरा और दूर होता है. पर शब्द वक्र होने से आशय और भी सीधा देते हैं, इतना कि आगे कहनेके लिए कुछ नहीं छोड़ते. वह आशय अर्थसे बड़ा होता है. सच, बड़ा अजब लगता है. इतनी उम्रमें यह बात मैंने अधिक नहीं पाई. इस सामर्थ्यके लिए आदमीको अवश्य अत्यन्त जीवंत होना होगा.

क्या मैं टाला गया हूं ? पर वैसा अनुभव न हुआ.

जयने कहा, "अब मैं फोन पर न मिलूंगा, इला की आवाज क्या मुझसे मधुर नहीं है ? या तुम्हें स्वर भारी भाता है ? तुम उसके विषय हो, क्योंकि राजनीतिक नहीं हो. जानते नहीं कि मैं इतना आसनपर हूं कि अपने और अपनोंके लिए वक्त नहीं पा सकता. वक्त निकालना अवैध होगा, क्योंकि आसन राजनीतिक है और इससे समय मेरा राजनीतिकों का है. व्यर्थ कहो, पर इस व्यर्थताके लिए तो मैं यहां बैठा हूं. जानते हो, मुझ पर कब्जा रखनेके लिए राज्य कितना वेतन और कितना भत्ता और कितना क्या कुछ खर्च करता है ! इतना नहीं समझोगे, और अपनी दार्शनिकता भूल कर नाराजी ठान लोगे ?—ठीक है न ?"

कहा, "सच ही मैं नहीं समझा था. अब समझता हूं और—"

"तो ठीक, और मेरी छुट्टी !"

फोन उधरसे बन्द होगया और कुछ देर मैं इधर रिसीवर हाथमें लिए असमन्जसमें रह गया.

नहीं. मैं इस आदमीको पसंद या नापसंद नहीं कर सकता. वह दोनोंसे बाहर है, ऊपर है, इतना स्वयं है. और लगता है, यही आकर्षणका कारण है. अपनी सहृदयतामें विश्वस्त होकर ही आदमी इतना निर्मम हो सकता है. हृदयहीन या दुर्बल-हृदय ही भावुक हो पाता है.

आजका दिन गया, पर अफसोस नहीं है. बल्कि कृतज्ञ हूं.

८ मार्च—

अवस्था पचास-साठ वर्षके बीच कहीं भी. फहरी दाढ़ी. लंबे बाल. सुंती देह. मंझोला कद. सीधी-सतर मुद्रा. चश्मे से ढंकीं छोटी तेज आँखें. देखकर मन प्रभावित हुआ. पर क्या खिंचा भी ? जैसे मैं समीक्षककी आंखोंके समक्ष हूं. वे आंखें जांचकर आंक लेना चाहती हैं, अंक देकर फिर अमुक श्रेणीमें अलग बिठा देंगीं. कुटी से बाहर आकर उन्होंने ऊपर से नीचे तक मुझे देखा. मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया. उनका एक हाथ मानों आशीर्वाद में जरा उठा, और वह स्पष्ट अंग्रेजी में बोले :

"क्या मुझे अंग्रेजी में अभिवन्दन करना होगा ? संस्कृत जानते हैं ?"

बताया कि मैं संस्कृत नहीं जानता हूं.

बोले, "आपको अन्यथा तो न लगेगा यदि दुभाषिया बीच में हो और मैं संस्कृत में बात करूं. हमारी भाषा संस्कृत है, विशेषकर तत्व की."

मैंने झिझकते हुए कहा, "आप तो प्रभावशाली अंग्रेजीके अधिकारी जान पड़ते हैं. तब एक अतिरिक्तको कष्ट देना क्या वृथा न होगा ?"

"यदि आपको आपत्ति न हो तो ये कुछ यहां के अंतेवासी वैसे भी हमारी बातचीत में साथ होंगे. इनमें कोई दुभाषिए का कामकर सकता है."

मैंने फिर निवेदन किया कि बात दूसरे के माध्यम से आकर यदि हो

तो कुछ फीकी ही पड़ सकती है. क्या यह उत्तम न होगा कि हम सीधे परस्परको प्राप्त करें.

"जैसी इच्छा" चिदानंदजी ने कहा. "अपवाद का अवकाश में रखता हूं, यद्यपि मेरे लिए यह पीड़ा की बात है. भाषाभर समान हो तो परस्पर की उपलब्धि सीधी हो सकेगी, यह आवश्यक नहीं है. समुद्रोंने बीच में आकर हमें भिन्न बनाया है. भेद भाषा का नहीं है, प्रकृति का है. लेकिन आइये, हम खड़े न रहेंगे."

अपेक्षा थी वह हाथोंमें मेरी बांह लेकर साथ आगे बढ़ेंगे जैसा अक्सर भारतमें मेरे साथ हुआ है. पर उन्होंने संभ्रम रखा, मुझे छुआ नहीं. एक स्थानपर ऊंची एक चौकी पड़ी थी. आसपास फरश साफ और चिकना था. एक साथीने बढ़कर चौकीपर आसन बिछाया. मैं पास फरशपर बैठा और लगभग साथ ही वह चौकी पर विराजे. दूसरे साथी लोग भी चौकी के आसपास अर्धचन्द्राकारमें बैठ गए. तभी मालूम हुआ कि और कुछ दर्शकगण भी आगए और आरहे हैं. अंतेवासियोंमे दो के हाथमें कागज-पेंसिल हैं.

स्थानका प्रभाव पड़ा. आशासे अधिक मैंने उसे विशाल पाया और स्वच्छ. एक उद्यानका यह भीतरी भाग था. एक ओर सुंदर भव्य बंगला था, लेकिन जहां हम थे उसे कुटी ही कहना चाहिए. चिदानंदजीके अपने आवासका यह भाग था. कमरा बड़ा और खुला था. तीन ओर दरवाजे थे. सज्जा कहीं तनिक नहीं. चूनेकी चिकनी दीवारें और समान चिकना फरश. सब सफेद. यहांतक कि किसी दीवारपर खूंटी भी नहीं.

मैंने कहा, मैं क्षमाप्रार्थी हूं कि विशेष पूर्व सूचनाके यहां आगया. हमलोग भारतकी प्राचीनतासे प्रभावित रहे हैं. हमारा देश अर्वाचीन ही कहिए. उस जीवनसे और परम्परासे हम अपरिचित हैं जिसकी जड़ें कालमें गहरी गई होती हैं. शायद इसीलिए हमें स्वच्छंद होने की सुविधा है. हम नीचे मूलसे खिंचे नहीं हैं, इसीसे शायद ऊँचे उठते जानेको स्वतंत्र हैं. उस उन्नतिका, हम अनुभव करते हैं, दूसरा पक्ष भी हो सकता

है. गहरे कालमें मूल न रखने से परिवेशमें फैलते जानेका सुभीता हो जाता हो, पर जीवनमें स्थैर्य शायद जड़ से आता है. वेग हम अनुभव करते हैं, पर यह भी प्रकट हो रहा है कि वह बहुत अपर्याप्त है. भारत-का ही वर्तमान है जो अतिशय प्राचीन अतीतसे अपनेको अविच्छिन्न मान सकता है. हम बढ़ते जाते हैं और छोड़ते जाते हैं. याद हममें कम है और क्षणके भोगमें हम तृप्त हैं. लगता है, यह समग्रता नहीं है. यही देखिए, आप हैं और आपकी यह कुटिया है जो आदिमकी याद दिलाती है, और पास यह आधुनिक बंगला है. दोनों विरुद्ध नहीं हैं, निकट हैं, जैसे एक हैं. भारतमें यह होता आया है. पुरातनको अधुनातनसे टक्कर नहीं लेनी पड़ी है. एक प्रवाह रहा है, परम्परा रही है और विरोध उसमें लीन होते गए हैं. इससे हम बाहर वालोंको विस्मय होता था जब हम पश्चिम-के भौतिकवादपर आपकी भर्त्सना सुनते थे. यह भी मालूम होता था कि आप भारतकी राजनीति और राजनेतृत्वसे इसलिए खिन्न हैं कि वह पश्चिमसे मोर्चा नहीं लेता है, बल्कि उसको समा लनेकी कोशिश करता है. यदि आपका बल आपके राष्ट्र-नेताको मिल सके, तो भारत क्या सर्वथा मूर्धन्य न हो जाए ! यहांसे मैं दिल्ली जाऊँगा. अगर आपका कुछ इस दिशा में सन्देश ले जा सकूं तो मानूंगा, मुझसे कुछ सच्ची सेवा हो सकी है."

स्वामी चिदानंदजीने ध्यानसे सुना. उनके चेहरे पर कोई रेखा नहीं दीखी. क्षणके लिए वह चुप रहे, जैसे मेरे प्रश्नको स्तब्ध खड़े रहनेको कह दिया गया हो. उस कुछ पल की शांतिमें मुझे मालूम हो गया कि अकृतार्थता मेरे भाग्यमें है. शिला गली नहीं है और जो सामने आने वाला है सुविचारित होगा, संवेदना उसमें हो या न हो.

स्वामीजीने कहा, "भारतको मूर्धन्य बना देखनेकी मुझमें आसक्ति नहीं है. वह जो एक भूखंड है, व्यवस्थाकी गणनामें वही आता है. पर मेरे निकट वह आत्मा है. मूर्धन्य मैं चाहता हूं भारतको नहीं, भारतीयता को. कारण, वह विश्वजनीन है, वह शुद्ध मानवीय है. भारतीयता खोकर

भारत मुकुट बने या रसातलमें डूबे, मुझे कुछ लेनादेना नहीं—"

शब्द गंभीर थे. मैंने बीचमें कहा, "किन्तु जयवर्धन और और देशोंके राजनेताओं की तरह नहीं हैं."

"जयवर्धन!" स्वामीजीने अनायास नाम दोहराया. निगाह उनकी मुझ पर न थी, मानो अपने नासाग्र पर थी. बोले :

"नहीं, व्यक्तियोंकी चर्चा आवश्यक नहीं है. राज्य भारतीयता से विमुख नहीं जा रहा है, क्या यह विश्वास आप मुझे दिलाना चाहते हैं ? आप विदेशी हैं, और आपको वह अनुकूल मालूम होता है. क्या यही प्रमाणहै कि वह भारतीयताके अनुकूल है?"

देख सका कि मैं विकट पुरुपके समक्ष हूं. मैंने भी कहा, "भारतीयता क्या आवश्यक तौर पर वह है जो किसीके विमुख और प्रतिकूल हो!"

स्वामीजीने बुरा नहीं माना. विचलित नहीं हुए. बोले, "हां, वह केवल भावात्मक नहीं है. उसमें निपेधकी शक्ति है जो 'नहीं' न कह सके वह निर्बल है. भारतीयता निर्बलता या दुर्बलता नहीं है, वह केवल आराधना और उपासना नहीं है. वह प्रबल कर्तृत्व भी है. अधर्मने यही माना है कि कर्म सब उसका है. धर्मके पास केवल अकर्मको रहने दिया गया है. कुछ सांसारिकों ने धर्मको इस तरह छोटा और अपने लिए निरापद कर लिया है. किन्तु भारतीयतामें वर्चस्व है. ब्राह्मण यहां प्रधान रहा है, क्षत्रियको वशवर्ती हो रहना पड़ा है. तलवार उसके हाथमें है, इसीसे उसका काम केवल रक्षाका है. ब्राह्मण निस्पृह है, निरस्त्र है, इसीसे मरण देनेका काम उसके भागका है. साधुके त्राणके साथ दुष्टके नाशका भी काम जरूरी है. यही धर्म संस्थापन है. वे धर्म को नहीं समझते जो नाश से डरते हैं. वे अहिंसाको भी नहीं समझते. जगत्व्यापार कोई इकहरी प्रवृति नहीं है. यहां उत्पत्तिके साथ नाश भी देखते हैं. हर गति से स्थिति चलित होती है यद्यपि पुष्ट भी होती है. प्रतिकूलतासे भारत कभी डरा नहीं है. हम खुल कर

उस सबके प्रतिकूल हैं जो पदार्थोन्मुख है, आत्मोन्मुख नहीं है. हम मर्यादाहीनता के प्रतिकूल हैं, भोगाचारके प्रतिकूल हैं. और क्या आप कह सकते हैं कि राज्य इस बारेमें शिथिल नहीं है ?"

कहकर वह चुप हुए और मेरी ओर आँख उठा कर देखा. मैंने संकेत समझा, कहा:

"राजाओंको आपके पुराणकालमें क्या हर तरहकी छूट नहीं रही ?"

चिदानंदजीने कहा, "काल अब पौराणिक नहीं है. न कोई अब राजा है. राज्य अब शासन नहीं है, समाजव्यवस्थाका अंग है. समाजनीति से वह स्वतंत्र नहीं हो सकता, बल्कि वहां तो उसकी और दृढ़ता चाहिए. वहां अमर्याद व्यवहार और भी नहीं सहा जा सकता."

"क्या निजी जीवन, निजी संबंध जैसी चीज और उसका अवकाश आपके विचारमें कहीं नहीं हैं ?"

"स्वच्छंदता के अर्थ में, हां, कहीं नहीं है. और सर्वथा निजीय कुछ नहीं है."

मैं हठात तीव्र हुआ. कहा, "तो सब राज्यका है ? कानूनका है ?"

"नहीं. समाजका है और नीतिका है. कोई उससे बाहर नहीं है."

"कहां है समाज जिसकी नीतिको आप इतना अमोघ कहते हैं ? राज्यसे अलग कोई समाज नहीं है. राज समाजका मुख है, मस्तक है."

स्वामी दृढ़तासे बोले, "नहीं, राज केवल समाजके हाथका उपकरण है. राज बनते बिगड़ते हैं, उठते-गिरते हैं. समाज सनातन है और उसकी नीति ध्रुव है. नैतिकतासे अलग जीवन टिक नहीं सकता. यह सुविधाका प्रश्न नहीं है, सनातनताका प्रश्न है. और नीतिके स्रोत हमारे धर्मशास्त्र हैं. समाज राजसे नहीं चलता, धर्मसे, धर्मज्ञसे, धर्मशास्त्रसे चलता है. धर्म ही है जिससे, लोकमत के माध्यमसे, शासन अनुशासनमें रहता है. यह निरा बुद्धिका प्रमाद है जो राज्य को सपूर्ण स्वत्वाधिकारी मानता है. यह सोवरेन्टीका शब्द और विचार आप

और उन पश्चिमके लोगोंसे चला है जो शक्तिसे दबते और शक्ति से दबाते आए हैं. राज्यको सौवरेन मानलेना उन्होंने सिखाया. पर इतने राज्य ध्वस्त होते देख कर क्या अब भी बुद्धिका प्रमाद टिका ही रहेगा? सौवरेन्टी कहीं है तो धर्म-नीति के नियमोंके साथ है. वे शाश्वत हैं और अमोघ हैं. उनके भंग पर न व्यक्ति, न राज्य, न कोई, न कुछ टिका है, न आगे टिक पायगा. संपूर्ण विश्वको जो धर्म धारण करता है, उससे च्युत होकर जो टिकने और उठनेकी सोचता है, वह पहलेसे भ्रांत है. जगदीश्वर अपनी करुणा में ही उसे सहते हैं अन्यथा आज ही वह गिरा हुआ है."

देख सका, उनका विश्वास अगम है, कठोर है. उसमें से ही दर्पी और जयी वे नेता निकलते हैं जो इतिहासके हाथों खेलते हुए वैसे ही संहार करते हैं जैसे आदमीके हाथों खेलती तलवार. तलवार स्वयं कुछ नहीं करती, ऐसे ही ये लोग कुछ नहीं करते. जाने किस तरह वे अपनेको सब द्विधासे उबार लेते और निरे आयुध बन जाते हैं. देखकर उन्हें मोह होता है. झपटनेको उद्यत व्याघ्र जैसे सर्वथा सहज, सुन्दर और संगत जान पड़े, ऐसे ही ये लोग अनिवार्य और अमोघ हो आते हैं. कहीं रंध्र नहीं, कहीं संशय नहीं. मानो सर्वथा एकाग्र और तत्पर....

मैंने कहा, "धर्मशास्त्र !—वे क्या जरा-जीर्ण नहीं होते ? क्या वे आदमीके ही बनाए नहीं हैं जो मर्त्य है ? अपने समयके बाद वे अवश्य जकड़ बन जाते होंगे."

"नहीं, वे अपौरुषेय हैं. पुरुषके द्वारा निसृत हैं, प्रणीत नहीं हैं. क्षण होते हैं कि हम स्वयं नहीं रह जाते, केवल मानवोत्तरके माध्यम हो आते हैं. धर्मशास्त्र उन्हीं क्षणोंकी अभिव्यक्ति हैं. कर्तृत्व उनका आदमीके पास नहीं है. उनकी उपयोगिता इसलिए सीमित नहीं है, कालातीत है."

मैंने क्षमा मांगी और कहा कि क्या आप दो हजार या अधिक वर्ष पहलेके मानोंसे आजको नापना और चलाना चाहेंगे ? स्वामीके मुख पर मुसकराहट आई, लेकिन प्रसन्नतासे अधिक उसमें काठिन्य था.

वोले, "दो हजार, तीन हजार कहकर समयकी गणनाको हम वड़ा प्रकट करना चाहते हैं, यही न ? पर विश्वात्माके निकट वह पलके समान है. वेश वदला, परिवेश वदला, पर यह समझना प्रमाद है कि आदमी मूलतः आदमीसे कुछ दूसरा हो गया है. पर दूसरा भी हो जाए, धर्म-नीतिके लिए दूसरा होनेकी तव भी आवश्यकता नहीं है. वह एक है, अखण्ड है और उससे तत्सम है जिसकी कृपापर काल स्वयं जीवित है. काल उसको ही कैसे काट सकेगा जिसपर उसका अस्तित्व टिका है."

मैंने कहना चाहा कि विज्ञान—

पर स्वामीने समय न दिया और वोले, "हां, विज्ञानकी ही कहता हूं. काल अव नष्ट हो गया. उसके अवीन अव विचार नहीं है, उससे उत्तीर्ण है. काल स्वयं विचाराधीन है. गतिकी पूजासे क्या हम लगभग पार ही नहीं पा चुके ? इससे यह वात पुरानी हुई कि हम आगे वढ़ आए हैं. आगे-पीछे सव भ्रम है. ये माया के शव्द हैं. मनका अविनय है जो उनमें ध्वनि पाता है. पूर्वजोंका जो अविनय सिखाता है वह ज्ञान नहीं है, वही है जो अविद्या है. अकृतज्ञता होगी अगर अतीतकी श्रद्धा हम खो देंगे. हम हैं तो उसीपर हैं. नीचेकी धरती मिटाकर, उठना तो क्या, हम खड़ेतक न रह पाएंगे. सनातन की अवहेलनापर जो वढ़ना चाहता है वह विक्षिप्तके समान है."

यह मेरे लिए अधिक हो रहा था. जैसे ज्ञान अनिमंत्रित सिर पर आ रहा हो. निवेदन किया, मैं दिल्ली लौट रहा हूं. कुछ मुझे वहां ले जाने योग्य दीजिएगा ? मैंने आते समय जयवर्धनकी सम्मति ली थी. उनका आग्रह था कि मैं आपकी सेवामें अवश्य पहुंचूं.

पूछा, "किसलिए ?"

"केवल आपके लिए. आपके सानिध्य,आपके परिचय लाभ के लिए."

"वह मुझ से क्या चाहते हैं ?...मैं विवश हूं, अधर्मकी जय चाह नहीं सकता, क्योंकि चाहनेसे भी वह जय हो नहीं सकती. अपना निर्णय वह स्वयं करें. लेकिन अधर्मसे मोरचा लेनेका काम अनिवार्य ही है,

और उसमें कोई शैथिल्य लानेका अवकाश भी नहीं है."

मैंने कहा, "आपपर किसी प्रकारका प्रतिबंध नहीं है. आपके लोग जगह-जगह राज्यके विरुद्ध उग्र प्रचार कर रहे हैं. आप स्वयं यह मुझसे या किसीसे अधिक जानते हैं. क्या इसका आपपर तनिक भी प्रभाव नहीं है कि जयवर्धन चुप हैं और आपके प्रति पूज्यभाव रखते हैं ?"

स्वामी हंसे. विलक्षण वह हंसी थी. जैसे वह स्वयं प्रसन्न न थी. वोले "संस्कृत का पद है:—धर्मो रक्षति रक्षितः. एक दिन चाह कर भी जयवर्धन मेरी रक्षा नहीं कर सकेंगे, और मुझे उठ जाना होगा. इसलिए आज भी मुझे यह समझनेका अवसर कहां है कि मैं सुरक्षित जयवर्धनके कारण हूं. क्या उनका या आपका कोई निश्चित प्रस्ताव है?"

मैं अचरजमें पड़ा, वोला, "निश्चित प्रस्ताव ?"

वोले, "तो शायद आपको ज्ञात नहीं है. प्रस्ताव हो भी सकता है."

मुझे सचमुच ज्ञात न था कि स्वामीमें और जयवर्धनमें कोई वार्ता-सूत्र रहा है. वाहर तो यह बात कभी आई न थी. इससे ऐसा अनुमान भी मेरे लिए दुर्लभ था. किंतु मुझे जयवर्धनकी क्षमता जाननी चाहिए थी. सक्रिय शत्रुको तनिक शत्रु न मानना, मित्र तक मानना, उसके लिए शक्य था. राजनीतिक पटुताके लिए यह आत्मिक सामर्थ्य बड़ी सुविधाकी वस्तु है. जो भीतर कुंठा नहीं लेता, ग्रंथि नहीं उपजने देता, वह अवसरपर किसीसे किसी प्रकारकी वार्ता आरम्भ कर सकता है.

मैंने कहा, "नहीं. प्रस्ताव किसी प्रकारका नहीं है और होगा तो क्या मैं उसके लिए उपयुक्त पात्र हूंगा ?"

वोले, "सुनो. गोब्राह्मण-प्रधान संस्कृति ही भारतीय हो सकती है. तदनुकूल यहांकी राजनीति हो, वैसी ही अर्थरचना—यह वात अत्यंत स्पष्ट है. इससे जौ भर इधर-उधर जाना नहीं हो सकता. ब्राह्मण वह जो शक्तिके प्रयोग और अर्थके अर्जनसे उदासीन है. वह व्यक्ति समाज के शीर्षपर न होगा तो समाज विग्रह और तनावका क्षेत्र वना रहेगा. समर्थ मनमानी करेगा और चतुर अर्थके हथकंडेसे प्रधान वना दीखेगा.

स्वार्थ और अहंमान आदमीकी प्रेरणा होंगे और समाज छीनझपटका अखाड़ा बना रहेगा. और गौ वह नहीं है जिसके मारनेसे इतनी खाल मिल जाती है और जीनेसे आध पाव दूध नहीं मिल पाता. वह तो प्रतीक है, और हम वह सभ्यता चाहते हैं जहां पशुजगतके साथ संबंध हमारा खाद्यका या शिकारका नहीं, उपयोग और सहयोगका हो. मशीनी नहीं मानवीय सभ्यता हम चाहते हैं. वह नहीं जहां सींगोंसे और खालों से ड्राइंगरूम सजें, बल्कि जहां थे वे वहीं की शोभा बढ़ाएं. पशुओंको अपने पेटमें हम नहीं चाहते, बल्कि अपने खेतों और द्वारोंपर चाहते हैं. जाकर कहना, अगर जयवर्धन सुनना चाहें, कि जबतक इस दिशाकी ओर राष्ट्रको लेजानेवाली उनकी राष्ट्रनीति नहीं बनती हमारे बीच कोई समझौता होना संभव नहीं है."

"उसके क्या कुछ सूत्र आप मुझे दे सकेंगे ?"

स्वामीकी आंखोंमें तेज दीखा, भ्रकुटिमें बल, बोले, "वह आवश्यक नहीं है. लगता है आवश्यक होगा भी नहीं."

मैंने कहा,"जहां तक मैं जानता हूं, उनकी आस्था मशीनमें नहीं है. उसके कारण होनेवाले जीवनके एकांत केन्द्रीकारणमें नहीं है. लेकिन भारतको अपनी आर्थिक और आत्मिक प्रतिष्ठामें दुनियांके बीच उन्हें सम्भाले रखना है. इसलिए वह एकांगी नहीं हो सकते. उनके इस दायित्व के प्रति सहानुभूति रखकर आप क्यों न मान पाएं कि सहयोगका मार्ग संभव होसकता है."

उनकी दृष्टि उसी तरह मुझपर अटकी रही. चेहरेका कसाव कम नहीं हुआ, मेरे ही शब्दोंको दोहराते हुए बोले, "हो सकता है संभव ? कहते हो तुम कि हो सकता है ?"

मैंने अनायास कहा,"क्यों नहीं हो सकता ? जयवर्धन—"

देखा स्वामी दृष्टि गड़ाए मुझे देख रहे हैं. मैं रुका. एक-दो क्षण कोई शब्द उनसे बाहर नहीं आया. फिर बोले, "मैं नहीं समझता हूं कि हो सकता है."

"आप प्रयत्न तो कीजिये."

"प्रयत्न ?" कहा और एक पल रुके रह गए. फिर बोले, "शायद तुम जानते हो—नहीं, विवाहसे भी अब नहीं चलेगा. एकदम सदाके लिए उसे दूर कर देना होगा. रामने सती सीताको वनवास दिया था. वह सती नहीं, सीता नहीं....यह सम्भव है ? कहते हो, सम्भव है ?"

बात अचानक आई और जोरसे आई. मैं अविश्वासकी सी निगाहसे स्वामीको देखता रह गया. एकाएक कुछ कह नहीं सका. प्रतिरोध भी न सूझा.

बोले,"तुम न समझोगे. जीवन एक है, जगत एक है और कुछ यहां छोटा या तुच्छ या निजी नहीं है. वह अनिष्टकारिणी है तबतक राज्यका क्षेम नहीं है. यह क्या दुस्साहस है कि न विवाह करती है, न साथ छोड़ती है, न लज्जित होना सीखती है. हमारा देश मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रको जानता है, हमारा आदर्श रामराज्य है. मुझे यही विस्मय है कि भारतीय जन कैसे इस अधमाचारको एक क्षणके लिए भी सह सका और सह रहा है. कभी तो मेरी भारतीय आत्मामें से आस्था ही हिलती मालूम होती है. अबतक विद्रोहमें उसे फूट पड़ना चाहिये था कि सब अस्त-व्यस्त हो रहे. पर नहीं, देखता हूं, कलंक सिंहासनपर शोभा पारहा है. यह विपर्यास जबतक समक्ष है, किसी सहयोग, किसी संभावनाकी बात ही नहीं उठती."

मैंने कहा "किन्तु—"

बोले, "नहीं, इसमें किसी किंतुका अवकाश नहीं है."

लगभग आर्तभावसे मैंने कहा, "लेकिन आप मिले हैं ? आपने जाना है, पूछा है, समझनेकी कोशिशकी है ?"

"हां, जानता हूं, समझता हूं. खून मेरा भी लाल ही है. इससे जानने समझनेको जो है, सब अंदरसे जानता हूं. एक आकर्षण है जिसके हम सब वशमें हैं. कौन उसे नहीं समझेगा. धर्म कब उससे लड़ता है. इस मेरे आश्रममें अनेक दंपति हैं. सृष्टिकी लीलाके मूलमें वही

आकर्षण है. लेकिन असत्य हो और मर्यादा हीनता हो और वह समाजके शीर्षपर—नहीं, तुम नहीं समझोगे. उससे सब विश्रृंखल हो जाएगा. भारत जिस ध्रुवपर अवतक टिका है, उसका भ्रंश हो जाएगा. भारतकी उस निष्ठाको तुम नहीं समझ सकते. पर सहस्राब्दियोंको उसी बलपर वह चुनौती दिए अमर रहा चला गया है. सोचता हूँ कि विधाताका कैसा कदर्य व्यंग्य है कि एक असती नारी भारतभूमिके शासन शीर्षपर होनेका दंभ रख पाती है !"

"आप भूलते हैं, वह महामान्य आचार्यकी कन्या है."

"तभी मैं और समझ सकता हूं. धर्मशास्त्रके पारायणमें से ही जो आचार्यने शिथिलताको समर्थन दिया, उसीने इस घटनामें अपना परिणत रूप पाया. नहीं, बालभर शिथिलताको स्थान नहीं देना होगा."

पूछा, "उनसे आप मिले हैं ? मिलेंगे ?"

बोले, "क्या कहते हो ? शिव, शिव, शिव !"

मैंने कहा, यद्यपि कहना अनधिकृत था, कि वह आपके प्रति भक्ति रखती हैं.

तमककर बोले, "जाकर कहो, उसे भक्तिका अधिकार नहीं है. यह भी कहना कि राज्यका और अपने जयका शुभ चाहती हो तो वह वहांसे अपनेको एकदम दूर कर ले. नारी होगी और तनिक भी भारतीय रक्त होगा तो वह समझ सकेगी कि यही न्याय्य है और बलिदानमें से ही सुख फलता है."

मुझे अच्छा न लग रहा था. कहा, "स्त्री-पुरुषके बीच क्या एक ही संबंध है, विवाह ? क्या दूसरा कोई सहयोग संभव नहीं ? जो साथ रहें परस्पर विवाहित ही हों ? मैत्री, सहानुभूति, करुणा क्या इस तरहके सहज सात्विक संबंधोंको आप समाजमें संभव न बनने देंगे ? स्त्री-पुरुषके बीच क्या सब संबंध शारीरिक मान लिया जाएगा और इसको आप श्रेष्ठ और उपादेय गिनेंगे ? विवाहसे इतर सब आपकी निगाहमें संदिग्ध होगा और ऐसे समाजको आप उन्नत कहेंगे ? मुक्त कहेंगे ? मेरी

दृष्टिसे वह मर्यादा नहीं जकड़ होगी और इस तरह जीवनकी स्वच्छता वढ़नेके वजाए कलुषित होगी. जहां संबंधोंमें अनायासता न रह जायगी, केवल एक उपरी वैध-अवैधका विचार पहना हुआ रहेगा, वह समाज पीला, जीर्ण और जड़ पड़ जायगा. मै पश्चिमका हूं, पर वहांकी जीवन-विधिका विश्वासी नहीं हूं. लेकिन यह मानना होता है कि वहां व्यक्ति स्वच्छंद हों पर स्वच्छ भी हैं. यहां नैतिकता है पर निर्जीवताके साथ और अचरज न होगा अगर अंदर मैल और मवाद भी जमा पड़ा हो."

अनुभव किया कि मैं ज्यादा कह गया. स्वामी अचल भावसे सुनते रहे, मानो अप्रसन्न न हों. मेरा कथन सीधा प्रहार ही था. अपेक्षा थी कि प्रतिप्रहार आएगा, पर वह नहीं आया. स्थिर और अडिग विश्वास-की वाणीमें उन्होंनें कहा, "हो सकता है, पर शीर्षपर आदर्श रहेगा, संयम रहेगा, मर्यादा रहेगी. पाप समाप्त न हो, पर उस का स्थान निम्न होगा. इसमें विपर्यय सहा नहीं जा सकता. सहानुभूति रखी जा सकती है पर मूल्यमें व्यतिरेक नहीं लाया जा सकता. तुम लोगोंका मैं प्रशंसक नहीं हूं, यह न मानना. पर जीवनके मूल्योंमें जो तुमने गड़बड़ उपस्थित करदी है वही संकट है. अच्छेके साथ वुरा अवश्य है, पर अच्छे वुरेमें भेद मिटेगा तो प्रलय आजायगी. हमारा, मेरा, आग्रह यही है. न समझना कि आसान काम है. ममताको मारकर इसमें निर्मम वनना होता है. ममता का मूल्य जानता हूं, पर कुछ अपनेको इनकार करके निर्मम वनगे, जिससे हमारे मान और मूल्य निर्भ्रांत रहें,"

निश्चय प्रश्नका यह पक्ष मेरे सामने न आया था. स्वामीके प्रति मेरा मान वढ़ा .

सहसा वोले, "इला मेरी कन्या नहीं है. होती तो जीवित न रह सकती."

सुनकर सन्न रह जाना पड़ा, पूछा, "आपके कोई कन्या है ?"

"नही."

"परिवार में—?"

तीनों ओरके विस्तार पर आँखोंसे संकेत करके हल्के स्मितसे कहा, "सब यह परिवार ही है."

हिम्मतसे आगे पूछा, "क्या आपने विवाह नहीं किया ?"

"नहीं, नहीं हुआ. लेकिन—तुम उधर न जाओ. वहां पीछे काफी मूर्खता और उलझन है और उत्सुकता उत्तम नहीं है."

हिन्दू साहित्यमें एक शब्द है जितेन्द्रिय. मुझे वह शब्द याद आया. उसका क्या अर्थ है ? क्या अर्थ वह है जो समक्ष मूर्त है ? अंदर समाधान था. प्रशंसा थी, पर शंका भी थी.

किंतु मैंने उधरसे ध्यान हटाया. पूछा, "क्या यह हो सकता है कि आपके प्रचारमें रचनापर इतना बल हो कि आलोचनाके लिए व्यक्तिगत होनेका अवसर न रहे ?"

बोले, "सत्यमें व्यक्ति नहीं सब समष्टि है. इससे व्यक्तिके नाशसे यहां कुछ घटता नहीं. व्यक्तिगतसे डरना व्यक्तिको महत्त्व देना है."

"आलोचना," मैंने पूछा, "क्या अकसर रचनामें बाधा नहीं है ?"

तत्क्षण कहा, "अकसर वह रचनामें अनिवार्य है."

भीड़ हमारे चारों ओर थी. उसमें मैं एक बेचैनी भांप सका. स्वामी में तनिक विचलन न था. किंतु शिष्यगण अशांत दीखे, उन्हें जैसे सहनेकी कम आदत हो. गुरुके लिए गुरु पदका ही उन्हें अभ्यास हो, उनसे ही किसीको वादमें पड़ते वे न देख सकते हों.

देखा कि स्वामीने भी यह देखा. बोले, "आपका अब समय न लूंगा. देखो, आपको आश्रम तो दिखाओ. क्या मैं क्षमा मांगूं कि मैं साथ न चल सकूंगा ?"

संकेतका अंश पर्याप्त था. शिष्यगण उठे और मेरे लिए बैठे रहना संभव न हुआ. मैं कुछ और भी जिज्ञासा रखता था. असलमें आश्रमों को मैं समझना चाहता था, यह कि वे बनते कैसे हैं, पलते कैसे हैं. लेकिन अवसर न था. भीड़ आतुर थी कि गुरुके पाससे छीनकर मुझे अलग ले जाए.

फिर मुझे आश्रम दिखाया गया. वहां की व्यवस्था और अनुशासनका मुझपर असर पड़ा. गुरूके चारों ओर शिष्योंकी भीड़ जमा हो जानेको मैंने अनुशासनहीनता समझा था. पर जानना हुआ कि मानो वह व्यवस्थाका भाग था, जिससे गुरू स्वयं जवतक न चाहें अकेले न पड़ें, सदा वातावरणका वल आसपास रहे और उन्हें ऊंचा उठाए रहे.

यह संख्या और संप्रदायका वल क्या व्यक्तित्वके पक्षमें अवलता नहीं है? महिमाका जुटाया हुआ मंडल अन्दरके अभाव, अन्दरकी महिमा-हीनताका सूचक ही तो कहीं नहीं है? इससे शायद असाधारण वह है जो ऊपरसे सर्वथा साधारण है.

···मैं बंगलेमें हूं जो वस्तीसे अलग है. एक टेकरीपर अकेला, एकांत···शाम रात्र वन आई है. अंधेरा जमता जाता है. सव ओर खुला विस्तार है. कुर्सी डाले वरामदेमें वैठा हूं. सोचता हूं, खोजाता हूं, और फिर सोचने लग जाता हूं. पर सोचनेमें शव्द नहीं हैं, निःशव्द नीरव, मानों सोचना हो ही न. एक गहरी उदासीनता हो जो उतरती और भीतर व्यथाकी पटलतामें जमती जाती हो. यह समीष्ट-व्यापार भी कैसे ताने-वानेसे वुनता है! भारत भी क्या विलक्षण देश है! ···क्या होगा? जयवर्धन टिकेगा? उठेगा? या चारों ओरसे जो आवर्त घिरता और कसता-सा आरहा है उसके पाशमें उसे डूवना और टूटना होगा? प्रवल शक्तियां हैं यहां, और वे व्यक्ति-निरपेक्ष हैं. जैसे आदिम हों और अपनेसे दूसरा कुछ जानती न हों. उनके वीच वर्द्धनका क्या होगा? विस्मय है कि शक्तियोंके इस विकट व्यूहसंतुलनमें से फलित होकर जयवर्धन वहां कैसे पहुंचा, जहां है! लगता है वह निश्चिंत है, असावधान है. आसनकी उसे स्पृहा नहीं है, और यह निस्पृहता, निःस्वताही राजनीतिके खेलमें उसे सहायक हुई है. उसके पक्षमें वही वड़ा वल रहेगी. यह अध्ययन निश्चय ही मार्मिक है और पता चलता है कि मनुष्यके कृत्य और कृतित्वमें से परिणाम उतना फलित नही होता है जितना अव्यक्त शक्तियोंके संघातमें से वह निष्पन्न होता है. व्यक्ति

का काम इसलिए करना नहीं है, अधिक वह न-करना है. बस वह अपनेमें न रहे, समर्पित एवं शून्य हो रहे. गुणकर्मको अपने भीतर और बाहर प्रवर्तित और प्रवृत्त होता रहने दे. इससे आगे क्या है जो उसे विचारना और पाना है ?—शायद यही सब है.

रात गहरी घनी हुई जा रही है. आवाज नहीं है. पर रातके मौनमें जैसे एक अपना अलग स्वर हो. कोई बोल नहीं रहा है, न पशु, न पक्षी, न कीट, न भृंग, न पतंग. चहुं ओर सब शांत है और निस्तब्ध. पर शांति जैसे अभाव न हो. एक विचित्र स्पंदन है, एक कंपन जो अपनी व्याप्तिसे ही स्थिर है. रात जागती है. रात जो सबको सुलाती है उसमें ही कौन उसे जगाए रखता है ? कौन है जो जागता है ? कौन है जो सृष्टिको अपनी गोदमें सुलाता दुलराता असोया बैठा है ? सच ही वह कुछ अब जागा है, जिसे दिनमें सो जाना होता है !

...क्या सोना होगा ही ? इस आरामकुरसीपर बैठे जागते ही पलकोंपर रात नहीं बिताई जा सकती ? पर सब सोएं तब योगी ही जागता है. मुझे उस हिम्मतसे बचना होगा. चलूं, सोऊं.

शांति, शांति, शांति !

९ मार्च—

(सवेरे) यह क्या है, यहांसे वहां होते रहना ? नहीं, अब जाने भागनेका जी नहीं है. घरसे दूर हूं, जयवर्धनकी ओर जानेका कार्यक्रम है, पर क्यों ? यहांसे वहां, अबसे तब क्यों ?...यह मेरी क्या दशा है ? क्या यह अवसाद है ? प्रमाद है ? जीवनका अभाव है ? पर अभाव मालूम नहीं होता, भराव ही लगता है. आवश्यकता निःशेषसी जान पड़ती है. अभावके चाबुकसे चोट खाकर ही न इधर-उधर हम फिरते-भागते हैं ! पर किसका अभाव ? कुछ जान नहीं पड़ता है और कहीं जानेको जी नहीं है.

यह अलसता ही तो नहीं है ? मृत्यु शायद इसीकी चरम होती होगी. एक अनंत विश्राम. समझ सकता हूं कि जीवनकी पूर्ति क्यों मृत्यु नहीं है, क्यों बार-बार जीवनको मौतमें डूबकर फिर-फिर जी आना जरूरी होता है.

जयवर्धनको तार दूं और एक दिनकी मोहलत लेलूं. उस चौबीस घन्टेके एक दिनमें तल तक डूब लूंगा और यह मेरे लिए अच्छा होगा. इतनी निर्जनता मुझे और कहां मिलने वाली है !

साथ स्वामीसे अपनी शांति भी बनानेका अवसर पालूंगा. आते समय दूरी थी. जानता हूं, स्वामी निकटता नहीं चाहते. पर मेरे लिए दूरीमें पूर्ति कहां है ! वह विचारमें रह सकते हैं, ऊपर और अलग. मुझे तो संसारमें रहना है, पास और मिलकर...

बिचारी इला ! स्वामी महाशय इलाको कहेंगे, जयवर्धनको भी तो कह सकते हैं कि वह क्यों साथ है ? पर जैसे पुरुष साथ किसीका लेता नहीं, सिर्फ साथ देता है. पुरुषके पक्षमें क्या यह उसकी अहंता ही नहीं है, जैसे स्त्री ही है जो साथ पकड़ती है. अवलंबिनी वह है, पुरुष केवल अवलंब है.

किन्तु मैं देख सकता हूं कि इला वहां है तो अवलंबिनी बनकर नहीं, अवलंब देनेवाली बनकर. उसकी आंखोंको मैंने देखा है, अब यहां बैठे भी देख सकता हूं. क्या होगा उसके बिना जयवर्धनका, बस यही चिंता और वासना उसे वहां रोके है. माना वासना है, पर क्या उससे सात्विक भी जगतमें कुछ है ? वही नहीं तो जगतको एकत्रित थामे हुए क्या है ? क्यों नहीं सब छिटककर कण-कण हो जाता है, क्यों ब्रह्मांड एक और अखिल है ? क्यों सब परस्परापेक्ष है, और एक दूसरेके प्रति परिक्रमा देता हुआ घूम रहा है ? क्यों सब विच्छिन्न, विमुक्त, विलग नहीं है ? क्यों सब जैसे एक आत्म है, और नहीं है इसीलिए हो पड़ना चाहता है ?

...ठीक, जाना कल होगा. स्वामीसे फिर मिल लेना होगा. जानता हूं, वह यहांके राजप्रकरणमें संवादी स्वर न बन पाएंगे, विवादी ही

रहेंगे. कारण, पुरुष हैं और भीतर उनके नारी नहीं है. पर मुझे अपनी शांति रखनी है और इसके लिए दूरसे भी निकटता रखनी है.

रात ग्यारह बजे.

इसबार इच्छा करके एकांतमें मिल सका. बताया कि मैं भारतका हितैषी हूं. बाहरी हूं, इससे यहां किसी ओर मेरा स्वार्थ हिलगा हुआ नही है. कोई मेरा राजनैतिक अभिप्राय नहीं है. सिर्फ इच्छा है कि भारत वह पूरा करे जिसकी सबको, खासकर हम पश्चिमवालोंको, उससे आशा है. आपने शायद समझा कि मैं किसी प्रयोजनसे आया हूं, भारत आने में ही वैसा कोई प्रयोजन नहीं है. सिवाय इसके कि मैं उसके अन्तरंगके दर्शन पासकूं और देखूं कि मैं कहांतक उसके साथ एकात्म हूं. एक ऐसे देश की आवश्यकता है जो विश्वके आत्मको, उसके अंतःकरणको मूर्त करे. जैसे व्यक्तिकी वैसे देश और विश्वकी भी एकता अंतरंगमें से है. किसी बाहरी बनावमें से उसे घेर जुटाना असंभव है. राजनीतिकोंके प्रयत्न इसी दिशा में रहते हैं. वे वहींतक सफल हो सकते हैं, रंच उससे आगे नहीं, जहांतक हृदयमें एकता सिद्ध होसकी है. देखता हूं आप नूतनके ऐसे मोहमें नहीं हैं कि पुरातनसे विग्रह ठन आए. यह अच्छा है और आपमें बड़ी संभावनाओंके दर्शन मुझे होते हैं. किन्तु कल एक छोटीसी बातको लेकर आपने जिन भावनाओंको व्यक्त किया, वे आवश्यकसे मुझे कठिन मालूम हुई. क्या इला और जय इस कारण कि सही नहीं हैं और भी स्नेह और सहानुभूतिके पात्र नहीं हो सकते ?

आज उनमें वह सख्ती और दूरी न थी. किंतु दृढ़ता कम थी यह कहना कठिन होगा. बोले :

"सहानुभूति ठीक. कौन जाने अंदर वह हो भी, पर वे सब हमारे राग हैं. रागमें से न्याय तो नहीं हो पाता और न्यायके कामको कहीं किसीपर तो आकर पड़ना ही है. जिनपर वह भार पड़ता है वे भाग्यवान न हों, पर वे बच नहीं सकते. मुझ जैसोंसे समाजको सिवा न्याय-विचारके और क्या मिलता है ? इसीसे हमें निस्संग रहना चाहिए. जिसे सब

अपने हों वह किसीको भी अपना नहीं सकता. कहा था तुमको कि इला मेरी बेटी होती तो जीती न रह सकती. पिता बेटीको कब मारता है ! पर न्याय-विचारके सामने पिता कोई रह कब जाता है. लेकिन इस विषयको आप छोड़दें. भारतकी आत्मा अविचार न सहेगी, और मैं विवश हूं."

मैंने कहा, "क्या परमात्मा सबको क्षमा नहीं करता ?"

बोले, "लेकिन परमात्मा ही तो परमात्मा हैं, हम मनुष्य हैं. उसके दंडमें क्षमा है. हमारे लिए ये दो हैं. दंड द्वारा क्षमा देना हमारे वशमें नहीं रखा गया. इससे दंड देकर खुद अपनी व्यथा बढ़ा सकते हैं. किसीमें क्षमा हो तो हो, अन्यथा क्षमा हमारे लिए नहीं है. लेकिन मैं पूछूं, कि बंधु, यह सब आग्रह क्यों ? तुम तो विशेष उसे जानते नहीं. या जानते हो ? इतनी उस विषयमें तुम्हें दिलचस्पी क्यों है ?"

मैंनें बताया कि मैं मिला हूं, और आपकी उग्रभावनासे दिलचस्पी और जग आई.

क्षणभर चुप रहे. फिर पूछा, "बहुत सुन्दर है वह ?"

मैं जान न सका कि प्रश्नमें क्या है. मैंने कहा, "वह युवती नहीं हैं."

"तभी पूछता हूं, बहुत सुंदर है ?"

"विशेष सुंदर तो नहीं है, क्या आपने कभी नहीं देखा ? "

"यही समझो."

"तो देखा है ?"

"न. नहीं देखा ही मानना चाहिए. फिर क्या आकर्षण है ?"

"आकर्षण !" मैंनें आश्चर्यसे कहा, "मैं आशय नहीं समझा."

"तुममें उसका प्रभाव है," हंसकर कहा. और फिर गंभीर होआए, बोले, "पर क्या तुम सचमुच समझते हो कि मैं उसका कुछ बिगाड़ सकता हूं ? या वह ऐसा समझती है ?"

मैंने उनकी ओर देखा. कहा, "यह प्रश्न अनुचित है. किसीने दया नहीं चाही."

बोले, "वही कहता हूं. राज्यकी सब सुरक्षा साथ है, फिर एक व्यक्ति क्या विचार रखता है, इसकी चिंता तुम्हें या किसीको क्यों हो ?"

मैंने कहा, "वह चिंता स्वयं आपके खातिर हो सकती है."

उन्होंने उत्तरका जाने क्या आशय लिया. बोले, "अपने विचारका परिणाम मैं भोगनेको तैयार हूं. क्या कोई संदेश है ?"

बात दूर जा पड़ी. मैंने झट कहा कि क्या मैं बता नहीं चुका कि मैं निष्प्रयोजन हूं और स्व-भावमेंसे यहां आया हूं.

उसी भावमें, जैसे चुनौती झेलते हों, वह बोले, "मेरा निर्णय स्पष्ट है और आरम्भसे वह प्रकट और समक्ष रहा है. पाप पदपर पहुंचकर घना ही होता है, हल्का नहीं होता. और कह देना कि इन शब्दोंकी पूरी जिम्मेदारी मैं ले रहा हूं और इसके हर परिणामका मैं स्वागत करूंगा."

मैं स्वामीकी इस भावनाको समझ न सका. क्या कुछ अंदर आशंका है ? फिर नहीं तो क्या है ? मैं न्याय-विचारके साथ एक गंभीर निरा-विष्टता निरपेक्षताकी आशा करता था.

कहा, "राज्यको कुछ करना होता तो देरका कारण न था. फिर आज आप यह क्या कह रहे हैं !"

वह प्रकृतिस्थ हुए, जैसे अपना उद्वेग उन्हें असंगत प्रतीत हो आया. बोले, "यही कि राज्य माने कि वह स्वतंत्र है. कल जो करना था और नहीं किया वह आज करना चाहे तो बाधा नहीं है."

मैंने उनकी ओर स्थिरतासे देखा. धीमेसे कहा, "सुनता हूं, आपके आश्रमको प्रदेशके और केन्द्रके राज्योंसे सहायता मिलती है."

बोले, "हां. मिलती है."

"आपको वह अस्वीकार्य नहीं होनी चाहिए ?"

"क्यों, वह जनताका पैसा नहीं है ?"

मैंने कहा, "पर जनतासे नहीं, राज्यसे आता है !"

"राज्यका काम है कि वह अपना स्वधर्म देखें. उसकी सब आय लोककल्याणमें जानेके लिए है."

"क्या सहायताके लिए आवेदन देना पड़ा था ?"

"हो सकता है, पर राज्यकी यह भूल है कि माने कि पैसेके साथ प्रश्रय जाता है. सेवाकी सब प्रवृत्तियां जनताके पैसेकी अधिकारिणी हैं. राज्य यदि इसमें सेतु बनता है तो आशय यह नहीं कि वह उसमें अपना मतंव्य मिलादे. यदि यह है, तो राज्य बाधा है. हो सकता है कुछ अंशमें यह हो भी. जाकर सूचना दीजिएगा. उस पैसेके साथ कुछ भी अपेक्षा बंधी हो, तो उसे बंद किया जा सकता है. देखता हूं, आपको बहुत कुछ मालूम है और आप स्वयंसे अधिक हो सकते हैं,······इला क्या मुझसे कुछ अपेक्षा रखती है ? स्पष्ट कहिए."

मेरा विस्मय बढ़ा. क्या इन दोके बीच सीधा भी कुछ है, या था ? मैंने फिर बताया कि मैं इस समय तनिकभी स्वयंसे अधिक नहीं हूं और मेरी दिलचस्पी वैयक्तिक दीखती भी है तो वह सिर्फ अंततः तात्विक होनेके लिए.

"शायद तुम नहीं जानते," वह बोले, "तुम उपयोगमें लिए जा रहे हो. कह सकते हो कि तुम्हारे यहां आनेके पहले उन लोगोंको पता न था, या यह एक दिन तुम्हारा यहां अधिक ठहरना उन्हें अनुकूल नहीं हुआ है ?"

स्पष्ट था कि स्वामीका अनुमान उधरसे सहज हिलनेवाला नहीं है. जैसे अंदर काफी कारण हो कि वह मानें कि इला और उसके कारण जयवर्धन उनकी ओरसे स्वयं निरपेक्ष नहीं हो सकते, बल्कि उन्हें व्यग्र-तक रहना चाहिए. मैंने कहा कि उनका अनुमान व्यर्थ है और उसका कोई आधार नहीं है.

स्वामी मुसकराए, जिसमें मुझे अपने प्रति संशय मालूम हुआ. मैंने वहांसे बातको हटाना चाहा, यद्यपि नहीं चाहता था कि वह एकदम

बहुत दूर जा पड़े. कहा, "छोड़िए. किंतु प्रश्न है कि इलाके संसर्गसे राज्य मुक्त हो तो फिर इलाका क्या हो ? या जयवर्धनको पदच्युत किया जाए ?"

स्वामीने मुझे देखा, जैसे तौलते हों. रुककर कहा, "जयका स्थानापन्न मिलना मुश्किल है."

"किंतु पिता जेलमें हैं और लगता है, जयवर्धन पद पर रहेंगें तबतक अनुकूलता शायद इसीमें देखी जाए कि वह जेलमें रहें. समाजमें मुक्त होकर इला भयंकर आवर्तका केन्द्र बन सकती है. आप क्या यह सब नहीं सोचते जब कहते हैं कि इलाके संपर्क-दोषसे राज्यको बचाना होगा ?"

मानो मुझे बारीकीसे देखते हुए उन्होंने कहा, "वह सब सोचना न्याय विचारका भाग नहीं है."

मैं जाने क्यों छुट्टी न देना चाहता था, कहा, "प्रस्तुत विचारका भाग तो है. आप उससे मुक्त नहीं हो सकते."

सावधान होकर बोले, "मुझपर वह भार नहीं है.

"किसपर है ?"

बोले, "मुझे निश्चय है तुमपर नहीं है."

मैंने बुरा न माना. कहा, "वह तो मुझे भी निश्चय है. लेकिन आपपर वह भार क्यों नहीं है, यही मैं जानना चाहता हूं."

"इलाके भविष्यके निर्णयका भार, क्यों, क्या इलापर नहीं होना चाहिए ?"

"पर वह तो वहां नहीं रह जाता जब उसकी इच्छा समाप्त होती है और उसे राजभवनसे निर्वासन मिलता है." मैं रुका, फिर धीमेसे कहा, "क्या विवाहमें उपाय होसकता है ?"

तनिक चौंके. बोले, "विवाह ! क्या कहते हो ? वह संभव है ?"

"आपको निश्चय है, संभव नहीं है ?"

"तुमने कहा, युवती नहीं है."

"हों प्रौढ़—विवाहमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए और उसमें उपाय भी दीखता है."

मैं अपने वावजूद यह सव कहे जारहा था. जाने अंदर क्या प्रेरणा थी. सामनेका व्यक्ति जैसे व्यूह हो और मेरा काम उसे तोड़ना हो. सहसा आदमीमें यह क्या जाग जाता है, कहना कठिन है. वुद्धि चुनौती पाकर जैसे फन फैला उठती है और छोड़ना नहीं जानती. असत्यका यही अलाभ है, समक्ष वालेकी वुद्धिके दर्पको वह जगाता है और संवन्धकी स्निग्धताको समाप्त करता है. मैं दूसरी ही वृत्तिसे आया था, आकर हठात यह किस प्रकारकी स्पर्धामें ठन पड़ा. अजव लगरहा था, पर जैसे मैं अपने हाथमें न था.

वोले, "अप्रस्तुतका विचार व्यर्थ है. व्यर्थ यों भी है कि जय उसका त्याग न करेगा."

मैंने कहा, "जयपर दायित्व है. रामने सीता छोड़ी, सीता जो पत्नी थी और सती थी. अव तो और लोकराज्य है. जनमत जगे और मांगे तो जयवर्धनके लिए दो ही राह हैं. दायित्वसे गिरे, या इलाको त्यागे. क्या इतना स्पष्ट नहीं है ?"

वोले, " क्या आशय है तुम्हारा ?"

कहा, "आशय और कुछ नहीं है. आपकी वात सोचता हूं. जनमत असंतुष्ट हो सकता है. मर्यादाका भारतमें मान रहा है. और असंतोष वह गहरा हो तो विस्मय न होगा. गहराईसे उठे और संगठित होकर किसी व्यक्तिमें मूर्त्त वनकर वह असंतोष सामने आए तो क्या यह न होगा कि राहें सिर्फ दो रह जाएं और आजके शासनको उनमें से एकको चुनना पड़े. यह अवश्य है कि रामके समय एक धोवीकी वात सुन गई. अव प्रेसके जमानेमें वातको हजारों-लाखों कंठोंसे आना होगा."

"हां आना होगा, पर क्या मैं समझूं कि तुम उसे उत्तेजना देरहे हो ?

"नहीं, भारतकी भलाईकी वात जरा वस खुलकर सोच रहा हूं."

"सहमत हो कि जय और इलाका इस तरह साथ रहना उनके और भारतके लिए संकटका कारण हो सकता है ?"

मैंने कहा, सहमतिका प्रश्न नहीं है. लोकमत जो समक्ष है."

स्वामी रुके. बोले, "ठहरो, मुझे समझने दो. तुम क्या हो, क्या चाहते हो ?"

मैंने नम्रतासे कहा, "देखते हैं आप, मैं विदेशी हूं. कामधामसे उप-राम पागया हूं, सिर्फ भारतमें भविष्य देखता हूं और इस नाते यहां हूं. यदि निश्चय होजाए कि इस राह भारतके भाग्यको चमकना है, तो मेरा योग उधर क्यों न होगा."

स्वामीने गौरसे मुझे देखा.

"तुम पर विश्वास होता है. लेकिन विदेशी हो."

"इसीसे मुक्तहूं और सच मानिए, कहीं हिलगा नहीं हूं. एक बार यह निश्चय होना चाहिए कि आपका मार्ग भारतके उदयका मार्ग है, फिर आप मुझे सेवाके लिए उद्यत समझ सकते हैं."

बोले, "सेवा ! क्या सेवा ? मैं मतलब नहीं समझा."

मैंने बहुत धीमेसे, जैसे बिलकुल उनके कानके लिए हो, कहा, "जय का शायद मुझे विश्वास प्राप्त है. इलाका भी. क्या मैं आपके कुछ काम आसकता हूं ?"

तेज परखकी निगाहसे वह कुछ देर मुझे देखते रहे, फिर कहा, "उनके संबंधोंको बारीकीसे देखना और मुझे लिखना."

अबोधसा बनकर मैंने कहा, "क्या लिखना होगा ?"

"कुछ प्रमाण हैं कि सम्बंध अवैध हैं. प्रमाण पाना" और फिर मानो किसी ओरसे आत्मसमर्थन पाकर बोले, "निराधार किसीको लांछन देना ठीक न होगा और लोकमत उस बारेमें जल्दी भी कर जाता है"

मैंने कहा, "प्रमाण, यानी पत्र ?"

"हां, या किसी दूसरे तरहका प्रमाण, साक्षी या कुछ."

"प्रमाण हुआ तो फिर आप क्या करेंगे ?"

"फिर मैं जान लूंगा कि क्या करूंगा. पर बड़ी बात यह जानना है कि क्या कुछ करनेका औचित्य है ? अवकाश है ?"

मैंने कहा, "यह नाजुक काम आप मुझे सौंप रहे हैं."

बोले, "हां, काम गंभीर है, पर अनिवार्य है. संशय पर हम आगे नहीं बढ़ सकते."

मुझे अपने अंदर बुरा मालूम हुआ. व्यक्तिगत संबंधोंको मैं पवित्र मानता आया हूं. उन्हींमें उत्सुकताकी आंख रखना मुझे घिनौना लग रहा था. पर सामनेवाले व्यक्तिकी उधर लगन पाकर भीतर तक उसकी तहमें जानेकी कोशिश किए बिना भी मुझसे रहा न जाता था. निश्चय यह स्वभावकी दुर्बलता है. जितना आदमी दे, उतना ही पा लेना बस है. उससे आगे दूसरेकी कुरेदमें जाना अनुचित है और मैं अपने व्यवहार पर खिन्न हूं. लेकिन उस समय मैंने कहा :

"अनुमान क्या कच्चा मालूम होता है ?"

बोले, "नहीं, फिर भी प्रमाण रखकर बढ़ना ठीक होगा. क्या तुम नहीं जानते कि प्रमाण हाथमें हो तो उसे अस्त्रकी तरह इस्तेमाल करनेका सुभीता हो जाता है. फिर जितना कोई कुशल हो उतना ही अचूक प्रयोग हो सकता है."

जैसे तड़ककर सामने बिजलीकी लकीर खिंच गई और उसकी चमकम सहसा सब प्रत्यक्ष हो आया. ऊपरका सब खो गया, अंदरका भयंकर सब उघर आया. मुझमें कंपनकी एक लहर व्याप गई. एकाएक कुछ बोल नहीं सका.

उन्होंने कहा, "प्रमाण अवश्य होगा. और तुम पा सकोगे." आवाजमें दबा सीत्कार जान पड़ा. वह फुसफुसाहट तक मंद हो आई. पर अपने धीमेपनमें ही जैसे वह और तीव्र हो. "तनिक आधार दो तो देख लूंगा, वह कैसे वहां रह पाती है. उसको हटाकर लाना ही होगा."

मैंने कहा, "पापाचार क्या वह इतना घोर नहीं है कि जीनेका अधिकार ही वहां प्रकृत न रहकर समाप्त समझा जाए ?"

जाने मैं यह कैसे कह गया. मेरे अंदर उत्सुकताका शैतान आ जनमा था और उसने मेरे वाक्यको यथोचित पैनी धार भी दे दी होगी.

स्वामीने सुना, कहा, "नहीं. मरनेसे भी बड़ा दंड जीने देना है. नहीं, इलाको मरने नहीं दिया जा सकता. वह तो आसान था, पर वही न होगा. जीवित लाना और रखना होगा."

मैंने धीमेसे सुझाया, "क्या उसमें खतरा नहीं है ?"

"स्त्री !" कहा और जैसे एक उत्कट भर्त्सना और चाहना उस एक संबोधनमें कुट-सिमटकर गंध देतीसी जल आई. "वह सदा भूलना जानती है. नहीं तो सिखाया जा सकता है."

यह क्या हो रहा था ! मैं अपने पर विस्मित था. जैसे मैं सामनेके व्यक्तिके निकट दूर न था. अपरिचित न था, जैसे उसीका भाग था. कुछ उसमें लहककर उसे ऐसा विमुग्ध कर गया था. जैसे अब मैं अलग व्यक्ति न था, अवयव था, उपलक्ष था.

मैंने सुना आश्वासन-सा देते वह कह रहे हैं, "स्त्री कोमल है. जानते हो क्यों ? इसलिए कि बल चाहती है. बलका प्रयोग चाहती है. उसके बिना वह अशान्त है. सुनते हो, सब खतरेको शांत करनेका उपाय है. और स्त्रीके लिए है वह पुरुष."

मेरे लिए असह्य हो रहा था, जैसे उत्सुकताका दानव परास्त हो रहा हो और उससे भीषण-तर कुछ समक्ष हो. जाने कैसे विनम्र होकर कहा, "तो मेरे लिए क्या आज्ञा है ?"

"प्रमाण खोजना और लिखते रहना."

मैंने कहा, "जो आज्ञा,". और फिर अधिक देर नहीं ठहरा.

स्वामी साथ आए, अपने कमरेके द्वारपर संकेत दिया, और शिष्यके आने पर कहा, "साहबको जाओ पहुंचा आओ."

देखा, मेरी नहीं, आश्रम की अत्यन्त भव्य गाड़ी है. कहा, "मेरी गाड़ी तो है !"

शिष्यने कहा, "आइए, आपको कष्ट न होगा."

मुझे असमंजस हुआ. पूछा, "क्या उस गाड़ीको वापस जानेको कहा गया था ?"

शिष्यने नम्रतासे कहा, "जी. देर होनेपर सदा आश्रमकी गाड़ी अतिथिको पहुंचा आया करती है."

"किंतु इतनी देर तो मुझे कल भी हुई थी."

"सार्वजनिक भेंटका तो समय नियत है. एकांतमें अधिक समय भी लग जाता है. इसीसे यह नियम है."

देखा कि गाड़ीमें ड्राइवरके बराबर दो व्यक्ति और हैं. हम दो पीछे बैठे. साथीने पूछा, "क्या कल फिर आना होगा ? मैं किस समय सेवामें उपस्थित होऊं ?"

शायद साथी ज्यादा कह गया.

मैंने कहा, "कल! कल तो अनिश्चित है."

"क्या कल ही जा रहे हैं ?"

"शायद."

बंगलेपर साथी भी मेरे साथ उतरा. अंदर आकर बैठा और पूछा, "क्या मेरे लिए कुछ आज्ञा है ? किसी प्रकारकी आवश्यकता—"

मैंने कहा, "सब आपकी कृपा है."

"किसी तरहकी असुविधा हो, तो आप चाहें आश्रममें ही विश्राम कर सकते हैं."

मैंने कहा, "नहीं, यहां मुझे किसी प्रकारका कष्ट नहीं है."

"हम लोगोंको ही समागम लाभ होता. आप विश्रुत विद्वान हैं."

मैंने कहा, "दया है. फिर अवसर हुआ तो सद्भाग्य पाऊंगा. आपने साथ आनेका कष्ट किया, उस उपकारके लिए आभारी हूं. अब आप जा सकते हैं. और गुरुवरको मेरा नस्कार दीजिएगा."

कहकर मैं उठा और व्यस्त दीखनेका प्रयास किया. साथी कुछ ठिठका प्रतीत हुआ. फिर चला गया.

अब लिख रहा हूं और रात गहरा रही है....वायुमें भी अभिसंधि

की खुनक मालूम होती है !....वाहरका यह जगत अपनाही तो प्रतिविम्ब है !...शांत हो तो वाहर शांति. शंकित हो तो वाहर शंकाकी ही आशंका! ...सोचता हूं कलकी रात, और आजकी यह रात !...सिर घूम रहा है! सोना न हो पाएगा...क्या होगा ?...(माथा हाथमें लेकर वैठता हूं. सुध नहीं है कि सहसा निश्चय उदय होता है)

सवेरे, साढ़े तीन वजे इस वंगलेसे निकल चल देना होगा. तय, जा ही रहा हूं. हो सकता है, सवेरेसे ही घेरा जाय और आश्रममें मुझे गुरुके पास चाहा जाए. मैं वचना चाहता हूं.

देखता हूं, आध्यात्मके साथ कुछ नहीं है जिसका मेल नहीं हो सकता. आदमीकी संभावनाओंका पार नहीं है. धौला, काला, सव है और इतने आस-पास कि एकमेक.

...हवा अव स्वच्छ है. वही है जो घड़ी पहले थी. पर मानव-स्पर्श-से कैसी वह गंधीली थी और घोटती थी. अव मुक्त है और मुक्तिका आह्वान उसमें है. नहीं, जगत स्वतंत्र नहीं है. वह आत्मपरक है....

१० मार्च—

दिल्ली. अधिक समय व्यस्त रहना पड़ा. कई रोजसे काम छूट गया था. सव संवाद पूरे किए और भेजे...उपस्थित होना मिला इलाके समक्ष.

इलाने हंसकर कहा; "मैं जगह ही भरती हूं ! आप जयको चाहते हैं. पर उनका कहना है, आपका संरक्षण मैं लूं. यह अन्याय है, पर—क्या किया जाय !...वापूसे मिले ? क्या लाए ?"

मैंने सव वतलाया. यह कि वह प्रसन्न नहीं हैं और वाहर आकर आप लोगोंकी कोई कठिनाई कम नहीं करना चाहते. यद्यपि उन्हें लगता है, वाहर आनेसे वह आप लोगोंके लिए अधिक वड़ी असुविधा वनेंगे.

वोली, "आप जानते हैं, मैं उन्हें नहीं मिल सकती. इस निषेधमें शायद कारण उनका अपने ही हृदयका अविश्वास है. वह मुझे वहुत

प्यार करते रहे हैं और सामने होकर मुझे निराश करना उनके लिए कठिन है."

पूछा, "आप स्वामी चिदानंदको जानती हैं ?"

सहसा चिहुंकीं, बोलीं, "चिदानंद ! आप वहां गए थे ?"

"हां.—"

"लेकिन मुझे किसीने नहीं बताया."

मुझे यह आशा न थी. पूछा "क्या जयसे मालूम नहीं हुआ ?"

"उनसे कभी कुछ मालूम होता है ! पूछती हूं उतना कहते हैं—बाकी बातें जैसे खुद भूले रहते हैं."

मैंने कहा कि मैंने अनुमति ली थी, बल्कि उनका आग्रह था.

"मैं जयको नहीं समझ सकती. चिदानंदको खुला रहने दिया जाता है, इसपर मुझे विस्मय है. लेकिन तुमने क्या पाया ?"

मैंने कहा, "गम्भीर विद्वान."

हंसकर बोली, "वह तो हैं, लेकिन कुछ और तुम्हारे मनमें—"

"आप कबसे और कैसे उन्हें जानती हैं ?"

"पुरानी बात है. जयको जाननेसे पहलेसे जानती हूं. जय मुझे उन्हीं-के यहां मिले थे."

यह मेरे लिए नया था. इस तरहकी सूचना अबसे पहले कहीं मेरे देखनेमें नहीं आई थी. मैंने जानना चाहा कि क्या परिस्थितियां थीं कि जय वहां मिले और—

बोली, "वह उन्हींसे पूछिएगा. बहुत छुटपनमें मेरी मांका देहांत हो गया था और बापू अपनी सार्वजनिक व्यस्तताओंसे परेशान थे. इससे शिक्षाभ्यासके लिए मुझे वहां भेजा गया था. पर वह बीती बात है और कुछ उसमें कहने-जाननेको नहीं है."

"सुनता हूं, शासनके प्रति स्वामीके लोग तरह-तरहके उत्पात उठाते रहे हैं. पूछा नहीं आपने कि क्यों यह सब सहा जाता है और कार्र-वाई नहीं की जाती ?"

"उनका एक उत्तर है," इला बोली. "वह सब मूलमें राजनीतिक नहीं है, व्यक्तिगत है. राज्यकी सहायता व्यक्तिगतके लिए नहीं ली जा सकती. कहते हैं कि मैं खुला हूं, अवश्य प्रहार मुझपर किया जा सकता है. शासन सिर्फ मेरा कर्त्तव्य है, मेरे सिरका छत्र या हाथका दंड नहीं है. उसे अपनी सुरक्षाका अस्त्र बनानेवाला मैं कौन हूं."

मैंने कहा, "लेकिन अधिपतिका व्यक्तित्व राज्यकी पहली संपदा है और उसकी सुरक्षा पहला कर्त्तव्य."

"होगा. पर वह अपनेको उस प्रकार संपदा या संस्था नहीं मानते, मूलमें गिनतीका एक अंक ही मानते हैं, वह भी शून्य. इससे ऐसी चीजोंको कभी गिनतीमें नहीं लेते. बल्कि चाहते हैं, विरोधियोंके सामने जा पहुंचें और अपनेपर उनसे सीधा प्रहार मांगलें. विलबर, इसीसे मैं उन्हें क्षणके लिए नहीं छोड़ सकती. ऐसा उदासीन आदमी, जो यहां रहता ही नहीं जाने कहां रहता है. सच, उनका कोई ठिकाना नहीं है. रक्षामें उन्हें रखा नहीं जा सकता. पर वही रक्षा उनके लिए हर पल जरूरी है. मेरे तो सांस नहोंमें बसते हैं. बहुतसी बातोंको मैं अपने तक ही रोक लेती हूं. जब गंभीर खतरा होता है तो बात उन तक नहीं पहुंचने देती. स्वयं ही व्यवस्था करकरा लेती हूं. कहीं उन्हें पता चले तो सब छोड़ पहले वह उसीमें झुक पड़ें."

"लेकिन फिर तुमने इसकी व्यवस्था क्यों नहीं की."

"क्यों कि यह वह सदासे जानते हैं और ताकीद है कि स्वामीके या उनके दलके खिलाफ कुछ न किया जाएगा. क्यों कि, वह कहते हैं, मैं जो छुटपनमें वहां रहती रही हूं ! यह भी तो कहते नहीं झिझकते कि मुझ-पर उनका नहीं स्वामीका हक ज्यादा है !"

मैंने दोहराया, "हक ?"

बोली, "वह तो हर बात हंसीमें कहते हैं, लेकिन—तुमने क्या देखा ?"

मैंने कहा, "अवस्था उनकी काफी है, ज्ञान भी कम नहीं है. पर आग

बाकी है. क्या कुछ कारण है कि वह आपको कष्ट पहुंचाना चाहें ?"

विस्मयसे बोली, "कष्ट ! नहीं, वह मुझे कष्ट नहीं पहुंचाना चाहेंगे. लेकिन जयके लिए—"

मैंने कहा, "मैंने कुछ दूसरा ही देखा है. जयको वह और प्रतिष्ठित चाहते हैं. उनके हितमें तुम्हें ही अलग देखना चाहते हैं. मानते हैं कि अवमाचारके मूलमें तुम हो."

हंसकर बोली, "हां, शायद यही मानते हैं, लेकिन—"आगे फिर वह हंसकर रह गई और स्पष्ट कहा नहीं.

मैंने कहा, "मनमें कुछ बैठ जाय तो उसकी पूर्तिमें वह कहीं हद मानकर ठिठक जानेवाले आदमी नहीं मालूम हुए. वह कुछ भी कर सकते हैं."

"किसलिए कुछ भी कर सकते हैं ?"

"तुमको जयसे अलग करनेके लिए."

"हां, कुछ भी कर सकते हैं. पर हद है. वह हद बाहरसे नहीं मनके अन्दरसे आती है. जानती हूं, एक हद पर उनको रुक जाना पड़ेगा"

"क्यों ?"

"क्योंकि पुरुष पुरुष है. स्त्रीके पक्षमें वह निर्बल है."

मैंने कहा, ''क्या आए रोज पुरुषके हाथों स्त्रीकी हत्या नहीं होती रहती है ?'

"होती है, पर आत्महत्या भी होती है. और वह हत्या आत्महत्या-का ही और दारुण रूप है. नहीं, स्वामीसे वह बहुत दूर है, यद्यपि—"

मैंने कहा, "आप रुक गईं !"

एक अनबूझ हंसी उनके चेहरे पर दिखाई दी. उसमें विद्रूप था, पर करुणा भी थी.

''आदमी क्या चाहता है ? क्यों उसको ही चाहता है, जो उससे आगे कहीं और देखरहा है. ..क्या यह पहेली नहीं है, विलबर ? शाश्वत पहेली. क्या तुम लोग इसे खोल पाते हो ? क्षणकी सम्मुखता है, यों सम्मुखता

में प्रेम नहीं है. जाने क्यों वह विमुख के प्रति है. पर यह बुरी चीज नहीं है. इसमेंसे निकला काठिन्य भी अन्तमें इतना बुरा नहीं है. लेकिन—"

"लेकिन" मैंने कहा, "मुझे डर है कि आप गलत समझती हैं. स्वामी में सिद्धान्तकी कोर है और उसका काठिन्य गलता नहीं है.

"होगा. पर क्या, सच, आदमीमें सिद्धान्त कुछ होता है. क्या वह एक गांठ नहीं है जिसको हम खुद ही कस लेते हैं, और सिद्धान्तका नाम दे देते हैं, सिर्फ इस सुभीतेके लिए कि जिम्मेदारी टल जाए, हमारी न रहकर निर्वैयक्तिक हो जाए. सिद्धान्त सब शब्दमें है. रक्तमें वह कुछ और बनकर रहता है."

मैं अचरजमें आगया. इला वह कह रही थी जो गहन और गुह्य है. हम लोग भी कहां वहां जा पाते हैं जहां शब्द सहारा न हो सकें. इला किस अनायास भावसे वहीं की बात कह निकली थी.

और भी अचम्भेमें मुझे डालती हुई वह बोली, "सोचती हूं, चिदानन्दजी को चिट्ठी लिखूं. आपकी क्या सलाह है ?"

मैंने कहा, "चिट्ठी लिखो ! क्या चिट्ठी लिखो ?"

"उनके कई बार संदेशे आए. मैंने किसीका उत्तर नहीं दिया. बरस पर बरस होते गए हैं. उत्तर इसलिए नहीं दिया कि वे सच न थे. उनमें था कि मैं राज्यका अनिष्ट करनेसे बचूं. राज्यका इष्टानिष्ट इतना उनके मनमें है, यह मेरा हृदय नहीं कहता. इससे मुझे बहुत बुरा लगा. मैंने संदेशकी स्वीकृति तक कभी न दी. उत्पात बढ़ते गए और एक बार तो बवंडर-सा मच आया, जैसे भारत रसातल को चला जाएगा अगर... मैंने बापूको कहा कि विवाहकी अनुमति दें, अन्यथा संकट है. बापूने एक न सुनी. जान पड़ता है जयकी बात ही वह सुननेको तैयार थे. पर जय जानते थे कि बापूकी निगाहमें वह योग्य नहीं हैं. इससे अधिक वह स्वयं अपनेको अयोग्य जानते थे. इससे कुछ न हुआ. तूफान उठता गया कि सब निगल लेगा. मैंने जयको उकसाया कि संभलो और जो मूलमें है उसका समयपर उपाय कर लो. जयने सुना पर बिलकुल

नहीं सुना. कोई प्रतिबन्ध नहीं किया. राज्यकी ओरसे उंगली तक उठने नही दी गई. बहुत हुआ तो दो पंक्तियोंका वक्तव्य भर दे दिया. तुम तो जानते हो. कहा कि मैं अधम नहीं हूं. यह कभी न कह सकूंगा. देशकी विधानसभाके आगे शीघ्रसे शीघ्र अपना निवेदन रख देनेका मेरा निश्चय है, अपने लिए निर्णय जिससे मागूं वह साधन विधानमें दूसरा नहीं है. इतनेसे जिसे संतोष न हो वह अपने हाथमें न्याय लेकर मुझे किसी समय जीवनसे मुक्त कर सकता है. मैं नित्य अबसे दस दिन तक अमुक स्थान पर अमुक समय घूमता मिल सकता हूं....भरसक व्यवस्था होगी कि कोई व्यवस्था न हो. हम सब ईश्वरके हाथमें हैं,... मूर्खता ही थी, पर इन छींटोंसे तूफान एकदम ठण्डा होता दीखा. विधान सभाके मिलते ही तुम जानते हो उन्होंने अपने लिए निर्णयसे भी अधिक दंड मांगा. सभाने उल्टे अपना उनमें विश्वास दोहराया. इस विश्वासके विरोधमें केवल दो मत थे. दण्डके पक्षमें उन दो में से भी समय पर एक न निकला. विश्वासके प्रस्तावमें दो मतके असहमत होनेसे जयको संतोष न था. अतः उन्होंने सीधे अपने प्रति दण्डके पक्षमें मत मांगा. अब वे दो विरोधी मत भी चुप दीखे. इससे दण्ड पानेका जयके पास कोई अवसर न रह गया. कहते थे, दण्डके पक्षमें एक भी मत होता तो मुझे इस आसन त्यागनेसे कोई रोक न सकता. पर निरुपाय हूं. बताओ इला, क्या करूं...तबसे मुझे भी लगने लगा कि दमनसे अधिक परिणाम कहीं आत्मदमनमें न हो...उफान मिटा, पर जानती हूं, मूल मिटा नहीं है. ...यह बताओ, चिट्ठी की जगह खुद ही जाकर मिल लूं ?"

"क्या कहती हैं आप !"

बोली, "जयका मन देखकर चलूं, तो मुझे कुछ ऐसा ही करना चाहिए, यद्यपि मेरे अपने मनके अन्दरसे ऐसा कभी नहीं आता."

"तो आप निश्चय ही ऐसा नहीं करेंगी."

"अपनी होकर निश्चय ही मैं ऐसा नहीं करूंगी, लेकिन जय कुछ

नहीं कहते. इससे मैं और उनकी वन आती हूं और मूर्खता की वातें सोचने लगती हूं."

"वह राज्याधिप हैं. तुम उन्हें कोई ऐसी वैसी वात करके नीचे नहीं ला सकतीं."

"यही तो कठिनाई है. उनकी अपनी प्रतिष्ठाके लिए और भी मैं उनके मनकी राह नहीं चल सकती. विलवर, तुम मेरा कष्ट समझ सकते हो न ?"

मैंने धीमेसे कहा, "हां, और मैं कृतज्ञ हूं."

"तो चिट्ठी लिखूं ?"

"जयसे पूछिए."

"नहीं, मैं उनसे नहीं पूछूंगी. वह वताएंगे ही नहीं. जरा हंस देंगे और मैं और भूल जाऊंगी कि वह क्या चाहते हैं और मुझे क्या करना चाहिए. शायद चाहते हैं कि मैं अपने मनसे चलूं. पर मेरा मन मेरा नहीं है. मैं वड़ी अकेली रहती हूं...कभी जो हो सकता कि वह मुझे अपने कब्जेमें ले लेते...ऐसी भी हालतमें तो नहीं हूं, कि अधिकार-पूर्वक अपनेपर कब्जा मान लूं या मांग लूं. मुझे मेरी स्वतंत्रता नहीं चाहिए. पर कहां है वह कि जिसके तालेमें उस स्वतंत्रताको मैं वंद कर दूं. जय तो कोई ताली थाम सकते नहीं. वह तो, लगता है, उल्टे अपनी स्वतंत्रता लेकर ऐसे आते है कि चाहते हों मैं कृपा करूं और वह सब उनसे छीन फेंकनेका उपकार कर दूं...लेकिन वह सह सकते हैं. मैं अपनीं स्वतंत्रता सचमुच नहीं सह सकती. वताओ, चिदानंदके वारेमें क्या करूं ?"

मैंने कहा, "मुझे नहीं मालूम होता कि उसमें आपके लिए कुछ करने को है."

वीचमें ही वह जोरसे वोली, "है, जरूर है. नहीं तो किसके करने-के लिए है ? फिर वात उठ रही है. अखवारोंमें चर्चा है, अनुमान हैं, कल्पनाएं हैं. विदेशनीतिके दो-एक मामले सीधे नहीं पड़े हैं. जयकी

लोकप्रियता गिराव पर लगती है. जय इसमें कुछ करेंगे नहीं. विश्वकी एकताके लिए राष्ट्रमें स्वयं गिरना भी पड़े तो उन्हें चिंता न होगी. भारत अवसर देखता है कि वह विश्वमें प्रमुख पद पाए. आगे बढ़कर उसके प्रमुख बननेमें जय एकताकी सेवा नहीं देखते. साथी-राष्ट्र जयकी इस नीतिसे असंतुष्ट हैं. विरोधी संतुष्ट दीखते हैं तो साथियोंके लिए यह और भी असंतोषका कारण है. इससे राष्ट्रके लोगोंमें भी एक असंतोषकी लहर है. चिदानंद उसका उपयोग करनेसे न चूकेंगे. अब क्या करूं ? भारतमें अब भी पुरानी बारूद है. जल्दी वह भड़क सकती है. स्त्रीका लांछन उछले, तो गहरे मनमें उसे अब भी यह प्रिय है. इससे मैं ही जयके अनिष्टमें साधन बनाई जाऊंगी. कहां जयकी रक्षा सोचती हूं, कहां मेरा ही नाम प्रहार की कटार बनेगा...बताओ, जा के चिदानंद से मिल आऊं ?"

विवश-सा बोला, "मैं कहूंगा, नहीं. और गईं तो वहां क्या कहिएगा ?"

"कहूंगी, पाप पुण्यकी बात न करो. सीधे मनसे कहो, क्या चाहते हो ?"

पूछा, "कुछ कारण है कि आप सोचें कि जो कहते हैं वही नही हैं जो वह चाहते हैं ?"

"हां, चाहनेकी भाषा समीक्षाकी नहीं होती. वह पाने या मिटानेकी होती है. वही असल है. बाकी शाब्दिक है. सीधे पूछ लूंगी कि बता दो, क्या चाहते हो ? जयवर्धनकी जगहपर किसी और को राजपर चाहते हो ? मुझसे अलग जयवर्धनको राजपर चाहते हो ? मेरे साथ जयवर्धनको राजसे गिरा देखना चाहते हो ?...या मुझे ही अलग चाहते हो ?... तो यह भी बताओ कि मुझे फिर कहां और क्या देखना चाहते हो ? ...मैं तंग आ गई हूं. कभी लगता है कि अपनी बलि दे दूंगी या बलि ले ही लूंगी. पन्दरहसे ऊपर सालसे यह झमेला चल रहा है और जयके लिए सबसे बड़ी उलझनकी यही चीज रही है, अगर्चे कभी एक शब्द

इस वारेमें उन्होंने नहीं कहा. जानती हूं, मेरे लिए, लांछनसे मुझे वचाने के लिए, कोई त्याग नहीं है जो वह न कर सकेंगें. राज तो क्या प्राण भी कोई चीज नहीं है. नहीं कर सकते तो व्याह नहीं कर सकते ! और वह इसलिए कि...विलवर, मालूम नहीं मैं क्या कह रही हूं. इन वातोंको इससे पहले कभी इस तरह सोचा भी न था. पर अव—इस सवके लिए मुझे माफ कर दीजिएगा."

सच ही वह वेहद अशांत और अनाश्वस्त थीं. कहा, "क्या मेरी सेवा किसी काम आ सकती है ?"

चुप सोचती-सी रहीं, फिर वोलीं, "चिदानंदको कुछ देरके लिए भी हटाया नहीं जा सकता तो उपाय यही है कि मैं जाऊं और मैं ही चुप करूं."

मैंने कहा, "आपका जाना—नहीं, मुझे वह ठीक नहीं मालूम होता."

"तो कहो न उनसे कि स्वामीकी स्वतन्त्रता खतरनाक होगी और वह कुछ प्रवन्ध करें."

"वह न मानेंगे ?"

"नहीं. शायद कानपर न लेंगे. लेकिन फिर उपाय भी और नहीं है सिवा इसके कि मैं जाऊं और—"

"उन्हें यहां नहीं वुलाया जा सकता ?"

"वह नहीं आएंगे."

"तुम वुलाओ, तो भी नहीं आएंगे ?"

"कौन जाने. लेकिन क्या करूं, जयसे कहकर देख नहीं सकती ?"

मैंने कहा, "यह कुछ विचित्र तो न लगेगा ?"

वोली, "अवश्य विचित्र लगेगा. पर मैं कह नहीं सकती. कहूंगी तो वड़े नाराज होंगे. उल्टे वह कर निकलेंगे जिससे उन्हें नुकसान होगा. मेरे सिवा किसीको ध्यान नहीं है कि क्या अनिष्ट सिरपर मंडरा रहा है. जयको पता है, पर वह अपने अनिष्टको टालेंगे नहीं, निकट खींचेंगे.

दूसरे सवको जयके इष्टानिष्टसे मतलव नहीं. हम यहां स्वार्थोंके किस जंगलमें रहते हैं, तुम्हें क्या वताऊं. मुझे तो सांस लेना कठिन होता है. कभी लगता है, जय ही ठीक है कि चाहते हैं कव यह झमेला छूटे और मैं गलत हूं जो कर्त्तव्यकी वात कहकर उनके यहां वने रहनेमें योग देती हूं. वोलो, तुम कहोगे ?"

"यह कि स्वामीको कुछ देर कैदमें रखा जाए ?"

"कैद या निगरानी जो वह समझें. तूफान जरा थम जाए, तव हर्ज नहीं है. पर अभी तो चिदानंदको चुप रखना होगा. नहीं तो—तुम जानते हो."

मैंने वादा किया. अगर्चे मुझ विदेशीका यह काम नहीं होना चाहिए.

वाहर विस्फोट नहीं है, पर गड़गड़ाहट रह-रहकर सुन जाती है. अखवार सुलग रहे हैं. ऐसी अवस्थामें इलाका मन समझ सकता हूं लेकिन लगा कि तलकी तह अभी दूर है. मुझे जो विश्वास मिला उससे शायद मेरा साहस वढ़ा. वात-वातमें मैंने पूछा :

"आप ही कुछ दिनोंके लिए अलग रहनेकी व्यवस्था करलें, तो क्या यह आसान न होगा ? और क्या किंचित यह सहायक भी न होगा ?"

जैसे सुनेपर विश्वास न हो, वोली, "मैं, अलग ?"

मैंने उतनी ही दृढ़तासे कहा, "क्यों ?"

विस्मयसे मुझे देखा, फिर हौलेसे कहा, "तुम नहीं जानते."

यह उत्तर मुझ जिज्ञासुके लिए और भी चुनौती वना. मैंने कहा, "क्या नहीं जानता? संकट सामने है, उसकी भयंकरता नहीं जानता ?"

फिर उसने लगातार कुछ देर तक मुझे देखा. वोली, "नहीं जानते. कुछ उतना भयानक नहीं हो सकता. तव उन्हें सांस लेना मुश्किल होगा. अव तो आगमें वैठे भी वह शांतिमें हैं क्योंकि सवेरे शाम मैं हूं और मिलकर प्रार्थना हो जाती है. मेरे विना वह न होगा और उसके विना वह जी न पाएंगे."

मैं नहीं समझ सका. प्रार्थनाकी शक्तिको नहीं जानता यह नहीं, पर इलाकी कातरताको समझना मुश्किल हुआ. कहा, "क्यों ? भजन-प्रार्थना आपके विना क्यों नहीं हो सकती ?"

"विलवर," हताश-सी वह वोली. "प्रश्न न करो, मान जाओ."

मैंने दृढ़तासे कहा, और शायद दृढ़ता मुझमें गहरे वैठी जिज्ञासामें से आरही थी, "कहीं आपने पीछे पाया कि उस समय आप अपनेको अधिक महत्त्व दे गईं कि जव शायद स्वयंको शून्य समझना चाहिए था—"

इलाकी आंखें फटी-सी रह गईं. आर्त वनी-सी वोली, "विलवर !" और आगे कुछ न कह सकी.

मैंने निर्दयतापूर्वक कहा, "क्षमा कीजिए, किंतु क्या ऐसे समय भी आप अपने मोहसे ऊपर न उठ सकेंगी ?"

क्रोधमें वोली, "वन्द कीजिए. आगे एक शव्द मैं न सुनूंगी."

मैंने और भी निर्मम होकर कहा, "मानपर चोट लगी है शायद. यह वुरा नहीं है, लेकिन मानपर वढ़ी रहेंगी जवकि—?"

सहसा ही स्वर शांत और संयत हो आया. जैसे साम्राज्ञी हो, अनु-लंघनीया हो. कहा, "मिस्टर हूस्टन, क्या मैं आपको अव जानेके लिए कह सकती हूं ?"

मैंने पहचाना. पहचाना कि मैं अधिकारसे वाहर जा रहा था. मिला विश्वास ही मेरा अधिकार था. हठात् नारीके मर्मका उद्घाटन चाहनेवाला मैं कौन था ! उसकी रक्षामें कातर हो-हो आई इला यदि सहसा ही महामाननीया और अतिदुर्लंघनीया वन आई तो इसमें विस्मय क्या !

मैंने सिर नवाया और कहा, "मुझे खेद है."

वह देखती रहीं.

अपनी जगह में खड़ा हुआ, फिर सिर नवाया और एक कदम पीछे हटा.

वह देखती रहीं.

"मैं माफी चाहता हूं." और कहकर एक पग पीछे और हटा.

वह देखती रहीं.

"शायद अब मुझे नहीं आना चाहिए...अच्छा." और फिर मैंने तीसरी बार सिर नवाया, और कहा, "नमस्कार. विदा !"

वह देखती रहीं, देखती ही रहीं. हिली न डुलीं. मैं बाहर आ गया.

कभी यह क्या हो जाता है ! दो के बीच कुछ वह घट आता है जो दोनों नहीं चाहते. फिर भी दोनों विवश होते हैं. दोनों ओर दोनोंका अपनापन थम जाता है, या जम जाता है, और अपने बावजूद समयके किनारे खड़े बस देखते भर रह जाते हैं, कि वे कर रहे हैं जो वे नहीं कर रहे हैं, फिर भी जो हो रहा है ! और बस वे भारी और छटपटाता मन लिए, तृणसे भी असहाय, होती होनहारके करनहार हुए चले जाते हैं. घड़ी बीत जाती है. फिर लगता है कि हुआ सच न था, फिर भी वह हुआ जी पर बैठ जाता है और कोई उपाय नहीं रहता कि उसे अनहुआ किया जा सके !

२१ मार्च—

आवश्यक बुलावेपर सवेरे ही मिलना हुआ. यह समय कामकाजी है. मैं तैयार था कि मेजके आरपार भेंट होगी और पांच मिनटमें छुट्टी हो जाएगी. पर महलोंके पार, जयके आवासके पास, घासपर एक दरी बिछी थी और दो-एक तकिए पड़े थे. मैं पास पहुंचा कि तभी जय कमरेसे निकले. बदनपर एक सिली बनियान और नीचे मद्रासी तहमद सी बंधी धोती. बढ़ते हुए आकर मेरी बांह हाथ में ली, बोले :

"आज कसरत होगी, नीचे बैठना होगा. पेंट है तो क्या, धरतीमें आराम मिलना चाहिए. क्योंकि जगहमें तुम घिरते नहीं चाहो उतना फैल सकते हो...तुम्हारा पुर्जा पाया. लो बैठो."

मुझे समय नहीं मिला. जयने किनारे पर अपने पांवसे चट्टी उतार

दी थी पर मुझे अवसर न दिया कि मैं जूता खोलूं. लगभग धकेला-सा जाकर टांगें फैला मैं एक मसनदके सहारे टिक आया. देखा जय दरीके किनारे, नंगे पांव घासपर टहल रहे हैं, स्वयं नहीं बैठे हैं, मैं भी उठने को हुआ.

मुड़कर देखा. बोले, "बैठो, बैठो." और पास आकर खुद उसी मसनदपर आ बैठे.

बोले, "बिलबर, क्या बात है ? इला रो रही थी."

"मैं अपराधकी माफी चाहता हूं."

"क्या अपराध ?"

"उन्होंने कुछ नहीं कहा ? कुछ तो हुआ होगा जिससे उन्हें कष्ट पहुंचा."

जैसे उन्होंने सुना नहीं शीघ्रतासे बोले, "उसे लगता था, उसने तुम्हारा अपमान किया और वह खिन्न थी. उसका ख्याल न करना. बात यह कि सब चाहते हैं वह मुझे छोड़ दे. मैं तक चाहता हूं. फिर जो साथ रखता है वह हम सबसे कुछ बड़ा ही होगा. तुम भी शिक्षक बनोगे और अनिवार्यसे लड़ोगे ? दया न करोगे उस पर जिसने भविश्यमें अपनेको छोड़ दिया है ? सुनो, वह मुझे नहीं छोड़ सकती. नहीं छोड़ेगी, और कुछ कहना है ?"

यह एकदम क्या था ? मनको अच्छा नहीं लगा.

कहा, "मैं जानेकी अनुमति चाहता हूं."

"यानी अनुमति मेरे पास है." कहकर किंचित मुस्कराए और अमोघ से बने बोले, "ऐसा है तो मैं दूंगा तभी तो वह तुम्हें मिलेगी...देखो, इला दुखी है, तभी साम्राज्ञीके इस सब आडम्बरमें रहना उसे झिल जाता है जानता हूं तुम कुछ नहीं चाहते, जानना चाहते हो...क्या जानना चाहते हो ?...ज्ञान मेरा देवता नहीं है, पर सत्य मेरा भी देवता है. आवरणमें मैं विश्वास नहीं रखता.. तुम बताओ, क्या जानना चाहते हो?"

कहना चाहा, "मुझे दुख है—"

पर समय न मिला. वह कहते गये "विलवर, स्त्रीको निरावरण न चाहो. श्रावरण वह स्वयं हटाएगी. तव तक धैर्य चाहिए, वल्कि इतना धैर्य कि तव हम स्वयं उसे श्रावरण दें...हां, तो क्या चाहते हो ?"

मैं इस वेगको स्वस्थतासे न ले सका, जिज्ञासा श्रन्दर मंद होगई. वोला. "कुछ नहीं."

जैसे मेरा उत्तार उवर लिया ही न गया, वोले, "मैंने इलासे कहा है कि तुम वाहरी नहीं हो. सत्यकी शोवमें हो, इसलिए एक तरह श्रपने हो. स्वार्थ भीतर रोककर ही लोग वाहरी हो पड़ते हैं, यों कौन श्रपना नहीं है. इससे मेरा काम जानना नहीं कि तुम क्या चाहते थे या चाहते हो. इला कहीं रोक पैदा न करेगी. मेरे पास कुछ छिपा नहीं है, सव खुला है. श्रौर पाप तो मैं श्रौर चाहता हूं कि घूपमें श्राए. भीतर सील रहने देने में से तो वह उपजता है, फिर श्रंवेरेकी लपेट देनेसे वह श्रौर सड़ता है।"

"इलाका मानना है कि चिदानन्दका वाहर रहना वड़ा श्रनिष्ट कर सकता है, श्रौर..."

"तुम तो उन्हें मिलकर श्रा रहे हो. क्या कहते हैं ?

"सरल तो वह मुझे नहीं मालूम हुए."

हंसकर कहा, "हां विरल हैं," फिर एकदम गंभीर हो श्राए. वोले, "श्रौर क्या कहते थे ?"

"उत्पात उनके लिए श्रसंभव नहीं हैं."

वोले, "तुम वचकर कह रहे हो. तत्वज्ञ हो, संकेतोंसे ही कहोगे. पर प्रमाण हैं कि इन दस वर्षोंमें हुए अनेक वल्कि अधिक उत्पातोंके मूल वह हैं."

कहकर वह चुप हो गए.

मैंनें कहा, "तो ?"

मेरे उस 'तो' का मुंहसे उत्तर न श्राया. श्राया तो इस रूपमें कि वह

खड़े हुए श्रौर कंधेपर मुझे उंगलीसे हल्का-सा टहोका दिया. मैं भी खड़ा हो आया और वह मुझे साथ लेकर, स्वय नंगे पांव, घासपर टहलने लगे.

कहा, "मुझे तुमसे कुछ अपनी बातें करनी हैं, पर—जानते हो, इला चिदानन्दकी कभी अनुग्रहीता रही है?"

मैं चुप रहा.

"उनकी उसपर ममता स्वाभाविक है और—"

कहते-कहते वह रुक गए. उनका हाथ पीठपरसे घूमते हुए मेरे कंधे पर आया और वहां दवाव देकर उन्होंने आगे कहा, "—और हमारा साथ रहना अस्वाभाविक है."

जैसे मेरे शरीरने सीधे इस 'अस्वाभाविकता' को स्वीकार नहीं किया. कंधेकी सिहरनने कह दिया कि नहीं, यह मुझे अस्वीकार्य है. यों मैं चुप रहा.

वह कहते गए, "प्रश्न है कि इस अस्वाभाविकताका विरोध क्यों न हो? विरोधमें तीव्रता भी क्यों न हो. उत्पात भी हों तो क्यों न हों? और मैं कौन हूं कि राज्यकी शक्तिको और साधनको उनके विरोधके उपयोगमें आने दूं? यह प्रश्न है, विलवर, और तुमसे चाहता हूं कि बताओ राज्य क्या चीज है?"

मैंने कहा, "राज्यका लोकहितके प्रति दायित्व होता है."

"लोकहित—वह क्या चीज है?"

मैंने चाहा कि जयकी तरफ देखूं पर वह मेरे कंधेके बराबर थे, और निगाह उनकी घासपर थी.

"क्या एक दिन" वह बोले, "राज्यको खत्म नहीं होना है? तब लोकहितका क्या होगा? क्या तब वह अधिक ही संपन्न न होगा? और राज्य—लोकहित करता है? पुलिससे? सेनासे? दमनसे, हिंसासे? बमसे, बारूदसे? क्यों, विलवर, वह 'लोकहित' ही है ना जो इन सब चीजोंसे हुआ करता है?"

मैं बोल नहीं सकता था. बात तर्ककी न थी, वेदनाकी थी. वेदनाका साक्षी ही हुआ जा सकता था.

"विलबर, चुप क्यों हो ? मैं तुमसे सहायता चाहता हूं. मैं राज्यके कर्त्तव्यकी सीमा देखना चाहता हूं. जानना चाहता हूं कि कहां वह रुक जाता है. वह रेखा जहांसे आगे जानेका उसे हक नहीं. शक्तिके अंदरसे उस रेखाको जाना नहीं जा सकता. शक्ति मद है, इससे तुमसे पूछ रहा हूं. कह रहा हूं कि लाओ वह रेखा खींचकर दो, नहीं तो हम राजपर बैठे लोग सब खा जाएंगे. एक दूसरेको खाकर तृप्ति न होगी तो अपने को खाएंगे. देखता हूं, चुटकीका काम है और चिदानन्द समाप्त दीखेंगे. पर प्रश्न है, क्यों ऐसा हो ? इसलिए कि ईश्वर नहीं है और राज्य है?"

मैं चुप ही रहा. बोलना गलत होता. उसकी अपेक्षा भी न थी.

"इला मेरे पास रो गई. उसका डर, जानता हूं, मेरे लिए है. पर उससे अधिक भी है. चिदानंद उसे पापिष्ठा समझते हैं. पर उसके मनमें है कि कहीं वह उसे प्रिय भी तो नहीं समझते ! प्रियतासे अपने भीतर लड़कर ही तो उसे पापिन नहीं समझते ? यह डर बड़ा है. खुलकर कहती नहीं है, पर प्रकट है. और इसमें से, वह मानती है कि, जघन्यसे जघन्य कर्मकी सूझ निकल आ सकती है...यानी हत्या तक की जा सकती है. ठीक है, मान लेता हूं...की जा सकती है. घोर अपराध सदा भीतरके इसी असत्‌मेंसे, इसी द्वन्द्वमेंसे उपजा करते हैं. अचरज न होगा, मेरी हत्याका षडयंत्र किया जाए. अचरज न होगा अगर अब भी वह हो रहा हो...पर मैं कहता हूं, विलबर, अगर चिदानन्दमें इलाके लिए आकर्षण है, तो इसमें क्या अन्यथा है ? क्या मुझमें वह नहीं है ! संसारमें कण है कोई जो उससे रीता है ?...पर चिदानन्द अगर हठमें विमुखता धारनेके कारण ही उसको अपने भीतर बारूदके मानिंद स्फोटक बना बैठे हैं, तो यह उनकी अपनी और आत्माकी समस्या है. उसमें मैं कौन ?...इसीलिए कहता हूं कि मुझे क्या हक है कि मैं उधर एक क्षणका भी ध्यान दूं ? राज्यकी शक्ति

राजकीय और राजनीतिक शक्तियोंसे मोर्चा लेनेके लिए है. इसमें कुछ राजनीतिक नहीं है. और मैं इसकी सूचना भी नहीं लेना चाहता हूं... मेरा जीना-मरना किसीके लिए बड़ा हो, मेरे लिए वह बड़ा नहीं है. बूंद सागरमें गिरे और डूबे, इससे अधिक या कम और हो क्या सकता है ? इससे सोचता हूं कि नागरिकताके लिए जो कानूनकी सामान्य व्यवस्था है उससे अधिक इस विषयमें मेरी रक्षाके लिए या उत्पातके निरोधके लिए और कुछ नहीं किया जा सकेगा."

हम घासपर घूमते रहे थे. इधरसे उधर, उधरसे इधर. उनका एक हाथ उसी तरह दाईं ओरसे आकर मेरे बाएं कंधेपर पड़ा था. कभी वह वहां दाब दे आता था, कभी निष्क्रिय हो आता था. कभी उसको बढ़ाकर बांहके पुट्ठेपर से दबाते और मुझे पास लेते, और कभी उस हाथकी उंगलियोंसे हंसलीके पास धीमे-धीमे थपकी दे आते. शायद ही आंख उठाकर उन्होंने मेरी ओर देखा. निगाह घासपर थी. पर लगता था वह घासपर नहीं, कहीं पार है. धरतीके पारके पातालमें भी नहीं, उससे भी गहरे पाताल अपनेमें है. पातालमें नरक होगा, लेकिन उसके भी पातालमें क्या सचमुच भगवानका आवास है ? मालूम होता था अपने उसी भगवानसे उनका झगड़ा चला है. वहीं वह कभी प्रार्थी बनते हैं, कभी निर्णायक बनते हैं, और हर समय वह रहते हैं जिसे कोई छू नहीं सकता, पा नहीं सकता. पागल किसे कहते हैं ? यह पागलकी पहुंचसे भी पारकी अवस्था है.

मैंने कहा, "व्यक्ति विचारसे परे नहीं हो सकता. विचारके लिए समाजकी ओरसे राज्यकी संस्था है. इससे उसके अनुशासनसे, दंडसे कोई बाहर भी नहीं हो सकता. आप अपने आपको क्यों इतना महत्त्व दें कि उपलक्ष आप हैं तो इसी कारण हिंस्रवृत्ति पर आंख मीच ली जाए ? राज्यके शीर्षपर होनेसे ही क्या आपको यह अधिकार मिल जाता है ?"

बोले, "आओ, अब जरा बैठें."

एक ओर पड़ी तीन कुरसियां थीं और बैठने पर उन्होंने कहा, "तुम कहते हो राज्यके शीर्षपर होनेसे ही मुझे यह अधिकार नहीं हो जाता. यानी, सब अधिकार छिन जाता है ? मैं यह नहीं मानता. मानना पड़े तो मैं इसी समय यहां से हट जानेको तैयार हूं. अहिंसामें अधिकारका प्रश्न नहीं है, क्योंकि वह धर्म है. प्रश्न है तो हिंसाके अधिकारका, यही कह सकते हो कि अमुक सीमा तक हिंसाका अधिकार लेकर राज्यकी संस्थाका निर्माण होता है. पर अहिंसाके धर्मसे उसे मुक्त मानें तो वह संस्था (राज्य) मानवी नहीं रहती दानवी हो जाती है. मैं इस अपने अधिकारको कभी नहीं छोड़ूंगा कि मुझे जो अपना दुश्मन माने, उसे मैं कहूं कि नहीं दुश्मन नहीं है, दोस्त है. कोई विधान इस मेरे अधिकारको नहीं छीन सकता."

मैंने कहना चाहा कि इतिहास—

पर जयने कहने न दिया. बोले, "इतिहासको न लाओ. इतिहास अपनेमें कुछ नहीं होता. हम बनाते हैं, वैसा उसे बनना होता है. वह बौद्धिकोंका देवता है जो अपने टांगनेको खूंटी अन्यत्र चाहते हैं. इतिहास-में रह सकते हो कि जैसे नेहरू रहता था. उसे उद्धृत नहीं कर सकते कि जैसे अध्यापक किया करते हैं. मुझे लगता है वह वर्तमानके लिए समर्थन व्यतीतमें से ढूंढ़ना है. नहीं, बिलबर, इतिहासके भूतको न जगाओ. आखिर हम जीवित हैं और मैं पूछता हूं, कोई मुझे मारना चाहता है तो उसके हाथों मुझे मरनेका अधिकार क्यों नहीं है ? क्यों जरूरी है कि मैं बचाव करूं ?"

"कोई मारना चाहता है ?"

"हां, शायद...और क्यों न चाहेगा ! शासनके आसनपर आदमी प्रेमसे और प्रेमके लिए नहीं पहुंचता. अहंकारके बलपर वहां पहुंचना और उसीके बलपर रहना होता है. इससे जो भीतरसे सम्राट है वह सिंहासन नहीं पाता, सूली पाता है. वहींसे फिर पूजा पाता है. जो राजासन पाता है वह वैर जगाता है. कोई कारण नहीं कि लोग मुझे प्रेम

करें...यही सोच रहा हूं और तुमसे पूछता हूं कि राज्यका यह महाभीम यंत्र जिसके विवर्तचक्रमें कोई आजाए तो पिसे बिना रह नहीं सकता—क्या उसका समर्थन पीसनेमें ही है ? मैं हजार बार सोचूंगा क्योंकि सौ अपराधी बचें तो हर्ज नहीं. पर एक निरपराव दंड पा जाए तो शासकके लिए नरक ही है...ठीक कहो, चिदानंदको तुम अपराधी समझते हो ?"

मैंने धीमेसे कहा, "आचार्य आपकी जेलमें हैं !"

मेरे शब्दमें, हां, व्यंग्य था. जयने ऊपर देखा, सांस ली. कहा, "हां" फिर आगे बोल पानेमें उन्हें समय लगा, कहा, "पर वह मुझे स्नेह करते हैं. वह मुझे दुश्मन नहीं समझते. वह बात व्यक्तिगत नहीं है, राज-नीतिक है. और—पर छोड़ो, तुम जानते हो."

मैंने कहा, "चिदानंद उनसे निर्दोष नहीं हैं."

"पर दोष क्या है ?"

"आप ही ने तो कहा कि प्रमाण हैं."

"विलबर, तुम्हारे यहां एक कहावत है. उन दो में से युद्धकी बात मैं नहीं करूंगा, पर प्रेममें सब क्षम्य है—यह कभी जरूर लग आता है."

"आप प्रेम कहेंगे ?"

"और क्या कहूं, विलबर ? दूसरे किसमें मति भला इतनी मारी जाती है. चिदानंद घायल है, पागल है, ईर्ष्या उसे जला रही है. यह मैं अनुमानसे नहीं, अनुभवसे कह रहा हूं. वह आग क्या होती है, जानता हूं. स्वयं इला नहीं जानती कि वहां ईर्ष्या हो सकती है. डरती है, पर डर-का कारण कहीं दूसरी तरफ है, इसका ठीक आभास उसे नहीं है. उसकी निजकी आत्माकी रक्षाकी चिंता और सिद्धांत-प्रीतिसे अधिक निजी भी वहां कुछ है, यह इलाकी उदात्त वृत्ति अंगीकार करना नहीं चाहती. इसीसे डर है, निश्शंकता नहीं है...मैं एक बात पूछता हूं...आज्ञा दूं तो इला टालेगी नहीं. यहां उसका उपयोग क्या है, बल्कि है इसलिए उल-

झन ही है. अगर में कहूं कि वह जाए और अभी चिदानंदके यहां रहे, आचार्य जव वाहर आना स्वीकार करें तो फिर वहां चली जाए—इसमें तुम्हारी क्या राय है ?"

मैंने गौरसे जयको देखा, कहा, "आप शहीद वनना चाहते हैं, यह मोह नहीं है ?"

जयने हाथ वढ़ाकर मेरा हाथ दवाया कहा. "इसीसे वह नहीं हो रहा है. लगता है, यह कर्म सहज न होगा, काम्य होगा, लेकिन धर्म क्या दूसरा है ? कामनाका होम ही धर्म नहीं है ?"

मैंने कहा, "आप जानते हैं, होम नहीं, यह सेवन है."

"हां" मानो आभार मानतेसे वोले, "मैं साफ नहीं हूं. तलमें अंधेरा है. प्रकाशकी एक रेख यदि वहां मिल जाये, इला आती है और उसे मैं कुछ नहीं वता सकता. पूछती थी कि वह चिदानन्दके चली जाए ? मैं कहने को था कि हां ! पर वह मुझे निर्विघ्न करने जाना चाहती थी. इससे वह भी नहीं कह सका. क्या विचित्र है कि विवाह के अभावमें भी वह यहां रुकी है और में वाधा नहीं दे सकता !"

सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ कहा, "आपकी दृष्टिमें विवाह-विधि वहुत वड़ी चीज है ?"

"हां, वहुत वड़ी चीज है, उस लकीरसे स्वर्ग और नरक अलग होते हैं."

"सिर्फ लकीरसे ?"

"हां, 'सिर्फ' लकीरसे...विलवर, क्या लकीर ही नहीं है, जिससे स्व-देश और वि-देश वनते हैं और जिनपर युद्धहोते हैं. लकीर भी नक्शे पर, असलमें कहीं नहीं, फिर भी आदमी अपना और दूसरोंका लहू उत्सव-उल्लासके साथ वहाते हैं—उसीकी आन रखनेके लिए !...लकीर वड़ी चीज है, विलवर. मिटाते हो, पर वह वीचमेंसे मिटती नहीं है. कुछ देर के लिए ओझल होती है, तो आस-पास यहां-वहां फिर वनी खड़ी दिखाई देती है."

लकीर होनेके इतने तीव्र समर्थनके लिए में कम तैयार था. जयकी ओरसे वह आएगा, यह आशा नहीं थी.

मैंने कहा, "फिर विवाहमें क्या बाधा है ?"

"बाधा सब भाग्य है."

"भाग्य ! मैंने कभी नहीं माना कि आप भाग्यवादी हो सकते हैं."

"मैंने कभी नहीं पाया, बिलबर, कि कुछ मेरे वशका है. तिनका तक उसके हिलाए हिलता है."

"पर जहां आप हैं, वहां—"

"विवशता से हूं...पर हटो नहीं, बताओ वह क्या है, जिसकी अपेक्षा-से अपने धर्मको और निर्णयको पाना होगा. सच, बड़ी ही विडंबना है कि निर्णय मिलता नहीं, कभी बनाना भी पड़ता है. क्यों यह बुद्धि मिली है जो एक साथ दो सिरों को देखती है और ऐसे स्वयं अपनें लिए त्रास रचती है. 'यह' या 'वह'?—पूछता हूं इनमें से क्या एक सदाके लिए मिट नहीं सकता ? मिट जाए तो विकल्प कट जाए. लोग उपाय रचते हैं. नाना उपाय. कभी पीते है इतनी कि 'वह' मिट जाता है, 'यह' ही रह जाता है. वे क्षणको घर लेते, और कालको समाप्त कर देते हैं. पर समाप्त वह होता नहीं कि फिर सामने खड़ा दीखता है. और मदहोश पाता है कि मद उतर रहा है, होश चढ़ा चाहता है, फिर पीना होगा ! बिलबर, तुम कहो, उपाय है ? लगता है कुछ नहीं है, सिवा इसके कि 'वह' रखो, 'यह' खो दो. 'यह' तो रख नहीं पाओगे, इससे 'वह' ही रखने की ठानो तो ही चलेगा. और अन्तिम 'वह' भाग्य है, ईश्वर है; और 'यह' मैं हूं, हम हैं. अपनेको मिटानेसे ही चलेगा. और यहां कुछ नहीं है...विवाह नहीं हो सकता."

"क्यों ?"

"कन्याका दान करे वह पिता कहां है ? उनकी अनुमति कहां है?"

"कन्या-दान !" मैंने अचंभेसे कहा, "कन्या चीज है जिसका दान हो ? विवाहकी नागरिक-विधि क्या नहीं है ?"

"मेरे लिए नहीं है. कारण, मेरे लिए वह ग्रहण नहीं है, स्वीकरण है."

"इलाका आत्म-निवेदन, स्वार्पण तो समक्ष है, फिर—"

"नहीं, वह पर्याप्त नहीं है...पर प्रश्न है, विवाह बीचमें नहीं है तो वह रुक क्यों गई है, रोकी क्यों गई है ? जीवनके साथ बराबर यह प्रश्न लगा आया है. बाहर उसकी गूंज रही है और मैं सुनता रहा हूं. उससे अन्दरका प्रश्न कुछ कम कष्टकर ही हुआ है. उसी कारण वह टलता जा सका है. प्रतीक्षाकी है कि विद्रोह जैसा कुछ उठे. और मैं अपनी आत्माको लेकर इस राज्यसे अलग फेंक दिया जाऊं. तब इन आत्मिक प्रश्नोंसे सुलझनेको ही मैं रह जाऊंगा. पर वह समय नहीं आया है."

"लेकिन" मैंने कहा, "यह तो प्रश्न ही नहीं है. विवाह बेहद सापेक्ष चीज है. समाजकी सुविधासे वह नियमित होता है. एक जीवनमें अनेक विवाह होते हैं और अनेक विध होते हैं. मैं बिलकुल आपकी दुविधाको नहीं समझ सकता."

बोले, " समझनेको है भी नहीं और जो कहते हो वह ठीक है. सामाजिककी मेरे लिए स्थिति नहीं है. आत्मिक होकर ही कुछ है तो है...पर फिर ये शब्द आगए...पति होने पर अधिकार होता है और वह संपूर्ण होता है. रामने सीताको वनका वास दे दिया,सिर्फ इस बलपर कि वह सती थी और पत्नी थी. क्या मुझे अधिकार है कि इलाको कहीं भी भेज दूं, यद्यपि मैं पति नहीं हूं ?"

वह चुप हो गए और मेरी ओर देख उठे. मैं देखता रह गया, बोला नहीं.

"बोलो. कहो."

मैंने धीमेसे कहा, "नहीं है."

"इलाकी ओरसे है. फिर किसकी ओरसे नहीं है ? मैं पूछता हूं, फिर किसकी ओरसे अधिकार था कि मैं उसे पास रोक रखूं ? अगर

था तो यह भी है."

मुझे यह सब रुचिकर न हो रहा था. जैसे एक व्यर्थका आवर्त्त हो. वेबात बातको बढ़ा डालनेको मैं सचमुच समझ नहीं सका. फिर भी साफ था कि कोरी बात नहीं है, गहरी व्यथा उसके साथ है. बड़ी और भारी समझी जानेवाली सारी बातोंको टालकर यह आदमी इस बातके लिए समय निकाल सका ! और जैसे इसके बीचमें होकर वह समयको भूल ही गया है ! उसके पल-पलका मूल्य है. भारी और विकट प्रश्न उसके सामने रहते हैं, वे कि जिनपर हजारों और लाखोंका बनना-मिटना, जीना-मरना निर्भर है. यहां आखिर एक ही का तो संबंध है, और वह भी अत्यंत सीमित वृत्तका ! सच ही मैं कोई महत्त्व उसे न दे सका. लेकिन साफ था कि इस आदमीके लिए वह उन सबसे ज्यादा भारी है. जैसे जगत सब पीछे हो, आत्मा पहले. आत्माको मैं मान सकता हूं पर अंतिम निदानमें वह एक धारणा ही तो है. उसके पीछे जगतको भुला देनेका कोई अर्थ नहीं है. वह एक तरहकी स्वरति ही है. लेकिन यह सब कुछ ज्ञान रखकर भी जयके प्रश्नकी आत्यंतिक अनिवार्यता भी जाने कैसे मुझे छुए बिना न रही. उसमें इतनी संवेदना और तल्लीनता थी.

मैंने कहा, "आप चिदानंदसे भेंट क्यों न कीजिए."

"यहां बुलाऊं ? यह उचित न होगा."

"क्यों ?"

"ऋषि राज्यसे ऊंचे होते हैं."

"फिर ?"

"वहां जाऊं, यह भी अनुचित होगा. वह दलीय है और यह दलको प्रोत्साहन होगा. चिट्ठीसे चलेगा ? तुम ले जाओगे ?....लेकिन क्या चिट्ठी ?"

"यही पूछता हूं कि क्या लिखेंगे. बात तो ऊंच-नीच सब तरह हो सकती है और व्यक्तित्वोंके प्रभावकी क्रीड़ाके लिए भी वहां अवकाश

है, जिसका लाभ निश्चय आपके पक्षमें होगा. लिखना ठंडा और बंधा होता है."

"लेकिन—ठहरो. मिलनेसे परिणाम होगा ? मेरे प्रति पहलेसे वह बंद हैं. आएंगे तो बंद आएंगे. जैसे अपने ही व्यूहकी सुरक्षामें होकर मुझसे प्रहार मांगते और प्रतिप्रहार देना चाहते हों. नहीं, वह नहीं चलेगा. ऐसे गांठ कसेगी...इला क्यों न मिले ? वह चाहे तो वचन भी क्यों न दे दे कि यहां न रहेगी. लोकमत चाहे तो माने कि चिदानन्दकी विजय हुई. वह प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं है. तुम समझोगे कि उस रूढ़मत-को बढावा देना गलत होगा, पर वह सब सर्वथा असंगत पहलू है. लोक-राजकी यह कमजोरी है कि उसमें लोकमतको देवताकी जगह दी जाती है. इसीसे लोकमतको अमुक दिशामें गढ़नेका ऐसा आग्रह राजनीतिक व्यक्तियों और दलोपर सवार रहता है कि नए-नए नारे और वाद उप-जाए जाते हैं. मेरे सामने वह पक्ष नहीं है. मानता हूं उसका अस्तित्व ही कहीं नहीं है. सिर्फ स्वार्थमें है. दिमागमें है...पर बढ़े शक्ति तो बढ़े, उस भाषामें मुझे सोचना ही नहीं है. सोचना है कि चिदानंदका क्या होगा. क्या वह अधिक आदमी बनेगा ?"

"आप तो ऋषि कहते थे."

"हां, पर ऋषिकी संभावनाएं असीम रही हैं, अब भी उनके लिए क्या असंभव है !"

कहते हुए जयके चेहरेपर मुसकानका इंगित प्रगट हुआ. भयंकर वह मुसकान थी. जैसे समझौतेका लेश न हो, और मैल भी न हो. उसमें से इस्पातकी धार-सी चमकती दिखाई दी. मानो आडंबर टिक न सकेगा, चीर-फाड़कर यह आदमी वास्तवको एकदम निरावरण कर रहेगा.

मैंने कहा "फिर भी आप ऋषि शब्दको महत्त्व देते हैं !"

"हां देता हूं. राज्य उससे नीचे रहेगा. शब्दोंको हम गिरा नहीं सकते, उन्हें उठानेमें ही लाभ है. व्यक्तिको यदि हम वश दें कि वह अपने दोषसे शब्द तकको दूषित बना दे, तो ऐसे सब शास्त्र गिर जाएंगे

और भापा अपनी शक्ति खो रहेगी. संस्कारिता फिर किसपर टिकेगी? शब्दकी शक्ति हमारी सारी उन्नतिका आवार है. भारी मूर्खता होगी कि सदियोंकी सावनासे जो शब्द ऊंचे चढ़े हैं उन्हें हम व्यक्तियोंके दोपका उल्लेख देकर नीचे खींच लाएं. राज्यने यही किया है. श्रद्धाको तोड़ा है और उसके अभावसे लोगोंमें अनाथ भाव आया कि उन्हें अपने आवीन ले लिया है. राज्यकी शक्ति मुद्रा है; पर ऐसे व्यक्ति न रहेंगे जो मुद्राकी अवीनतासे मुक्त होंगे तो राज्यका आवार ही लुप्त हो जाएगा. जगत अर्थपर नहीं पुण्यपर चलता है. फिर पुण्य नप्ट हो जाएगा, और राज्य नप्ट होने लगेगा. राज्य खण्डको लेकर है, ऐसे पुरुप अखंडकी उपासनामें जीनेके प्रयासी होते हैं. यह अखंड-श्रद्धा सर्वश्रेष्ठ मूल्य है, उसमें जिसकी निष्ठा है वह राज्यके अवीन न होगा, राज्यको ही उसकी सेवामें पहुंचना होगा. जिस राज्यमें इतनी समझ और विनय नहीं है, उसका फिर भविप्य भी नहीं है."

मेरे लिए यह नया था. मैंने कहा, "तो चिदानन्दकी प्रतिष्ठा आप वढ़ाएंगे ?"

"निश्चय ही प्रतिष्ठा मैं गिरा नहीं सकता. स्वयं वह ही उसे गिरा सकते हैं. तो भी चिदानन्द गिरेंगे, ऋपिका स्थान नहीं गिरेगा."

वातों के वीच सहसा वह कुछ वेचैन दीखे, तभी देख पाया कि दूर स-संभ्रम दो-एक राजकर्मचारी खड़े हैं.

वोले "विलवर, फिर मिलना होगा. सोच सकते थे तुम कि ऐसी वातें होंगी ! न मैं ही सोच सकता था. पर कम हैं जो तुमसे अ-काम हैं. दिन भर कामवालोंसे ही काम पड़ता है. देखो, मैं समय भूल गया, और इसके लिए कृतज्ञ हूं. लेकिन अव चला, और—मनमें न रखना. इलाको माफ कर देना."

कहकर मुझे वहीं छोड़ तेज चालसे वह एक ओर वढ़ते चले गए.

एक मिनिट, दो मिनिट, मैं उस विस्तारमें भूला-सा खड़ा ही रह गया. अनन्तर एक दरवान आया जिसने मुझे लिया और इलाकी उपस्थितिमें

ले गया. देख सका, यह जयकी व्यवस्थाका भाग न था, इलाकी योजना थी...

इलाने कहा, "मैं बिठाऊंगी नहीं. सिर्फ कलके व्यवहारके लिए मुझे माफी मांगनी है."

मैंने कहा कि गलती मेरी थी. शायद मैं मर्यादा लांघ चला था.

इलाने कहा, "मालूम है, मुझे जयने क्या कहा है ? कहा है कि इस संसार में निजी कुछ नहीं है, गुह्य कुछ नहीं है. सत्यार्थीके लिए सब सामग्री है, और आप उनमें से हैं. कहा है कि अपने सम्बन्धमें आपके अधिकारकी मैं कोई सीमा न मानूं. कहीं परदा न करुं...आशा है जो हुआ उसके लिए आपने माफ कर दिया है."

मैंने कहा, "मुझे लज्जित न कीजिए."

इला बोली, "एक बात कहती हूं. जयको आप अच्छे लगे हैं. नहीं तो कामकाजकी सीधी लीकसे इधर-उधर वह कम ही जाते हैं. बाहर छपे आपके संवाद वह बराबर पढ़ते हैं. कहते थे यह व्यक्ति लाग-लपेट का नहीं है. लेकिन इस समय मैं आपको रोकूंगी नहीं."

मैं चलने लगा तो बोली, "सुनिए. जय उत्तेजित तो नहीं थे ?"

मैंने कहा, "नहीं"

"चिदानंदपर उन्हें रोष है, पहले नहीं था."

"पर वह क्षमाशील थे. मैं उनको विरोधमें उकसा तक न सका."

"क्षमाशील थे ?" इलाने कहा जैसे विश्वास कम हो. फिर बोली, "मुझे बड़ा सुख हुआ. वही उन्हें होना चाहिए. तो उनके खिलाफ कार्रवाई नहीं करेंगे ?"

"नहीं."

"मुझसे तो कहते थे—"

कहते कहते वह रुक आई.

"क्या कहते थे ?"

"नहीं, कुछ खास नहीं"

मैंने कहा, "कुछ कहें, राज्यके यंत्रका लाभ वह अपने लिए कभी न लेंगे."

जैसे इलाने संतोपकी सांस ली.

मैं मन ही मन कुछ उलझनमें हो रहा था. अधिक इलाने नहीं रोका. न मैं पूछ सका, और चला आया.

सच ही मानव हृदयकी सभावनाओंकी सीमा नहीं है.

१२ मार्च—

...वादल घिरे हैं. कुछ अंदरूनी तनाव हैं, कुछ वाहरी. जयको नाजुक समयमें से गुजरना पड़ रहा है. आदमी कहांसे प्रकाश पाता है तव जव कि राह हो नहीं और चारों ओर अंधेरा हो ! शायद प्रकाश तव उस स्रोतसे मिलता है जिसे श्रद्धा कहते हैं. वुद्धि तो जरामें ज़िच हो जाती है. तव कुछ निपट भीतरसे, जहां अंधकार है और नितांत रिक्त, विजली-सा कौंधता लहककर कुछ जल आए तभी उजाला मिल पाता है, अन्यथा आदमीके टूट रहनेकी आशंका है. वुद्धिमानी ऐसे समय जवाव दे जाती है. अंतस्फूर्तिमें ही कुछ भीतरसे दमक आए तो ठीक. तव संकट ही सीढ़ी वन जाता है. नहीं तो—

जान पड़ता है वड़े और असंभव लगनेवाले काम आदमीसे ऐसे ही हुए हैं. सोच-विचारमें से नहीं आते, वे स्वतस्फूत हो जाते हैं. इसीसे है शायद कि प्रधान ज्ञानवान नहीं, प्राणवान दीखता है.

श्रद्धा क्या चीज है, ठीक कहा नहीं जा सकता. उसे हम वनाते नहीं. मर्मकी ओरसे शायद वह व्यथा है. ज्ञानतंतु जो भी वाहरसे लाते मानों वहां होम देते हैं. चेतना जैसे हर समय उस रिक्तपर घुमड़ती-सी रहती है. मानों वहां वस वेचैनी हो . उससे मुक्त हुआ नहीं जाता और जो आता है समिधाकी भांति उस ज्वालामें भस्म होता जाता है. इस व्यथा

के आदमीको ज्ञानी तो कह ही नहीं सकते, अनजान कहें तो कह भी सकते हैं. पर अपनेमें वह कुछ नहीं होता. विवश होता है और प्रार्थी और समर्पित.

कुछ वैसा ही लगा.

फिर सवेरेका समय. हम दो ही थे.

उन्होंने कहा, "यहांसे तुम्हें इलाके पास जाना है. उसने कहलाया था...कल बातें कुछ अधूरी रह गई थीं ..काफी तो उसमें तुम्हें संगत न लगी होंगी, पर वे असंगत न थीं. शायद तात्कालिक अधिक हों और वैयक्तिक, इससे नुकीली होगई हों. पर—एक वात समझनेमें मदद चाहूंगा. मैं राज्य पर हूं. राज्य देशको एकता देता है. देशके शरीरमें फैली व्यवस्थाकी नाड़ियां जैसे यहां आकर अपना रक्त डालती और यहांसे फिर नया रक्त लेजाती हैं, देश भर में यहांके कारण एक शिस्त, एक लक्ष, एक अपनी इकाईका भान वना रहता है. वहुत वड़ा यन्त्र है यह राज और देशके हर कोनेमें उसकी पहुंच है. सव जगहसे खिचकर श्रम और सत्व यहां आता और यहांकी स्वीकृति से धनके रूपमें वापस लौट जाता है. इसलिए राजको केन्द्र मानकर फिर समाजमें स्तर पैदा होते हैं. एक अजव क्रम है. तल पर तल, तह पर तह, और शीर्ष पर यह राज्य और सवके तले वह जो धरतीमें झुका वहां श्रम और स्वेद गिराता और अन्न उगाता है. निश्चय उसकी पीठ मजवूत है. उसकी निष्ठा परम्परामें पककर अटूट हो गई है. वह पिसता है, मरता है और भगवानको याद करता हुआ उसी अपने भागको सदभोग्य मान लेता है. मैं मूर्खता नहीं कहता. उससे वड़ी प्रज्ञा मैं जानता नहीं न धृतिका उदाहरण जानता हूं. उससे महान क्या होगा कि जिसके परससे दुर्भाग्यका ही व्यक्ति अपना सौभाग्य वना लेता है, जिससे हर दुखमें आदमी गा आसकता है. धर्मकी मैं महिमा नहीं करता. संगठनके रूपमें वह विप हो, लेकिन निष्ठा जो नीचेवालेको शक्ति देती है कि अपने श्रममें अखंड रहकर ऊपर शेष सवको भोगके विलासमें वह अपने कंधों संभाले रखे—वह निष्ठा छोटी

चीज नहीं है. जितना सोचता हूं, मन भारी हो आता है...अब सवाल यह है कि वह क्या रचना हो सकती है जो इस आदमीको नीचे न रखकर केन्द्रमें ले सके? क्या वही रचना, अर्थ-रचना और समाज-रचना, सही और सार्थक न होगी ? प्रश्न है कि वह क्या हो सकती है...राज्यका उसमें क्या होगा ? होगा ही वह, तो उसका क्या रूप होगा ?... मुझे लगता है, क्रमशः राज्य यांत्रिक न रहेगा. वह स्थूल और भारी कम होता जाएगा. आजकी अमलदारीके रूपमें नहीं बल्कि अंतःप्राप्त दायित्व भावके रूपमें वह व्याप्त होगा...ऐसा यदि नहीं है, राज्य है और वह व्याप्त नहीं केंद्रित है, नैतिक नहीं कार्मिक है, तो ऐसे राज्यके साथ अनिवार्य होकर युद्ध कैसे न लगा चलेगा मैं नहीं समझ पाता. ऐसा राज्य निहित स्वार्थका दुर्ग हुए बिना रह नहीं सकता. उसे खर्च चाहिए और आयके साधन चाहिए. पूंजी चाहिए और मंडी चाहिए. महाजन उसे जरूरी होगा, उसी तरह गाहकजन जरूरी होंगे. राज्य क्या वह एक लवाज़मा ही होगा. जरूरी होगा कि अमुक भू-खंडके लोग उसके अपने हों और देशवासी कहलाएं, उससे बाहरके लोग गैर हों और विदेशी समझे जाएं. ऐसे देश-विदेश, अपने-पराएका भाव मजबूत किए बिना राज्य कमजोर रहेगा...बिलवर, यह सब मनमें उठता रहता है और लगता है कि वह अर्थ-रचना जो हर दो पड़ोसियोंको एक हितमें मिलाए, राजके किए हो नहीं सकती. राज्य चाहे तो भी उसे सींच नहीं सकता. कारण, राज्य मशीन है और केन्द्र है और यह रचना इतनी आत्मिक और विकेंद्रित होगी कि केन्द्र स्वयं आदमी हो रहेगा. हर आदमी अपना केंद्र, और जगका केंद्र...इस उधेड़बुनमें मैं जिस नतीजेपर पहुंचा हूं वह वही सनातन है कि—यज्ञ ही नियम है. शब्द तुम्हें अटपटा होगा. समझ न आता होगा. पर यज्ञ, यानी तुम्हारा क्रॉस...कलकी बातका इसीसे सम्बन्ध था. व्यक्तिमें यज्ञ है तो उससे समाज बनता है. नहीं है, तो शोषण होता है. सामाजिकता निरे गिरोह हो रहने में नहीं है. डाकुओं-का गिरोह जैसा पक्का होता है, वैसा दूसरा न होता होगा...व्यसनमें

मिलानेकी शक्ति है. गुट और समूह उसपर जल्दी जुटता है. पर समूह समाज नहीं है...यानी दलोंपर चलने वाले लोकतंत्रसे बहुत आशा नहीं हो सकती...राजनीतिसे ही बहुत आशा नहीं हो सकती. कारण वह मजबूर है कि व्यक्तिको न गिने गुटको गिने...वही बात थी. उसीको मैं अपने साथ घटना और आचरणमें ला सकूं तो कसौटी है. यहांके अयोग्य हूंगा मैं अगर भोगमें मन दूं और यज्ञको भुला दूं...पर मैं कह रहा हूं और तुम चुप हो...आए थे तो तुम्हें पश्चिमको देनेको एक संदेसा-सा मैंने दिया था. अब खुशी है कि तुम देखते हो कि मैं खुद तुमसे पूछ रहा हूं, बताओ, ठीक क्या है...अब तुम चुप न रहोगे, कुछ कहोगे, क्यों ?"

यह एक प्रवाह था, जैसे प्रपात हो. उसकी अनिवार्यतामें से मैं आदमी-की आत्माको देख सका. प्रश्न विवेचनके लिए न था, तत्व-निर्णयका वह न था. जीवनसे वह हटा होता है जो अमुक निर्धारणमें समाधान पा जाता है. ज्ञान स्थितिसे जड़ जाता और इसीसे निस्पंद हो आता है. परिणाम, हर ज्ञानको अज्ञान बनना पड़ता है. 'वाद' जो आज आता और खोलता लगता है, कल स्वयं ग्रंथि बन रहता और टूटना मांगता है. सद्ज्ञान अतः एक शोध यात्रा ही है, जैसे जीवन यात्रा. और सफर ही यहां सच है, मंजिल सच नहीं है.

मैं क्या कह सकता था. हठात बोला, "आप ठीक हैं."

कहकर चुप हो रहा. जब आगे मैं न बढ़ सका, तो रुककर उन्होंने पूछा, "क्या मतलब कि मैं ठीक हूं ?"

मैंने कहा, "उन सब बातोंपर मैंने विचार नहीं किया है. विचार मेरा उधर चल ही नहीं पाता."

पूछा, "उधर, यानी किधर ?"

"बाहरकी ओर, जगतकी ओर."

"और तुम पत्रकार हो. डिप्लोमैट रहे हो !"

"सो रहने या होनेमें कोई उस कारण दिक्कत तो पड़ती मालूम नहीं हुई."

"क्या कहते हो ! तुम्हें हर घड़ी यथार्थकी नब्ज़पर हाथ नहीं रखना पड़ता ?"

मैंने हंसकर कहा, "आपको भी तो पड़ता है."

"मैं !" आश्चर्यसे बोले, "पर मैं तो पत्रकार नहीं हूं. मुझे बहुत बातोंका पता नहीं है. पत्रकार सर्वज्ञ होता है, क्यों, नहीं?" और चेहरेपर तनिक मुस्कान आई.

कहा, "होगा. पर मैं व्यक्तियों तक जाता हूं. आगे जरूरत नहीं पड़ती. न पत्रकारितामें, न समझता हूं कहीं."

"जगको जाननेके लिए—"

"जग है कहां ? अपनेमें कहीं वह है?"

"ओः, तो तुम आदर्शवादी हो ? तब तो खतरनाक हो सकते हो." और वह हंसे.

मैंने कहा "आप तो उस चीज़के, आदर्शके, वादीसे आगे, कारी भी मालूम होते हैं."

सुनकर वह सौम्य हुए, फिर जैसे आर्द्र भी होते गए. बोले, "मेरी दूसरी बात है. मैं तो उखड़ा प्राणी था. सब ओर से उच्छिष्ट. टुक-ठौर न था, जहां पांव टेक पाता. इससे मुझे छोड़ो. यहां दीखता हूं जहां नीचे मजबूत बुनियाद है और चारों तरफ पहरा और परकोट, पर अंदर में वही हूं जो था, और सब यह इन्द्रजाल-सा मालूम होता है. कहीं असलियत मालूम नहीं होती और भीतर मेरे बड़ा रीतापन है. इला न हो और सवेरे-शाम मुझे प्रार्थना सुननेको न मिल जाया करे कि जहां मैं भूल जाऊं और अपनेको यादकर लूं, तो बिलबर, मैं यहां रुक न पाऊंगा. आज गाया था उसने...यह संसार झाड़ और झांखड़... सच, बिलबर, कभी बड़ा वैसा लगता है. बहुत ऊपरी, बहुत बेकार..."

क्या देखता हूं ? क्या यही वह है जिसका सिक्का और दबदबा है ? जो अमोघ समझा जाता है और अटूट ? क्या यही है जिसके लिए मैं आया था ? वह नहीं है, पर जो पाया कि है वह पाकर सचमुच मैं और भी मुग्ध हुआ.

बोले, "इला पागल है. मैंने कहा कि इन गीतोंके लिए यह जगह कहां है. चल देहातमें कहीं रहें, जहां तेरे ये गीत खिलें. यहां तो तीरसे चुभते हैं. जानते हो, क्या कहा उसने ? कहा, आदमी मनकी करने या पाने यहां नहीं आता है. हरएकका कर्म नियुक्त है. बचना यहां से नहीं है.. उसने कहा और मैंने मान लिया कि गीताके योगीश्वर कृष्णकी यह वाणी है—" वह रुके और बड़ी करुण मुस्कराहट चेहरेपर आई "क्यों ? क्यों कि यहां सब तरहकी सुविधा है !—यह भी जानता हूं कि इलाका योग अनासक्त नहीं है. बल्कि मुझे ऊंचा पाकर उसको अपनेमें सुख मिलता है...लेकिन छोड़ो, बात कहो कि इला आश्रम जाकर रहे तो क्या हर्ज है."

मैं सचमुच उस व्यक्तिकी अंतरंगताको, वहांके लक्ष्यको समझ नहीं सका. क्या सूत है जो इस आदमीके प्रचंड और वृहत् राजनीतिक कर्मको और इस अत्यंत निजीय और स्वल्प प्रसंगको अभिन्नतामें एकत्रित रखता है. दोनोंको आपसमें दूर पड़ने नहीं देता, मेरी पकड़में नहीं आ सका. होगा तो अव्यक्तमें ही होगा और वह सूत्र बहुत ही सूक्ष्म होगा.

मैंने कहा, "आचार्य—पिताके पास भेज दीजिए."

"जेलमें ? अनिवार्य हो तो वहीं सही." कहते-कहते जैसे कुछ सोचते रह गए. फिर बोले, "परिस्थितिके शमनकी दृष्टिसे यह ठीक होगा. पर वह दृष्टि मेरी नहीं है. चिदानंदका क्या होगा ? उसकी भी बात मुझे सोचनी है. अनिष्ट नहीं, उसके गंभीर इष्टकी बात."

"इलाको वहां भेजनेमें आप उनका इष्ट देखते हैं ?"

"यही तो है जिसपर मैं सहायता और प्रकाश चाहता हूं. शायद मुझमें मोह हो. बहादुरीका लगाव हो. इसीसे कहता हूं कि तुम निर्भय

होकर मुझे चीरकर देखो और वताओ—"

मैंने अपनेको संकटमें अनुभव किया. अवसर विकट था. प्रस्ताव ही वह अदभुत् था. पर आदेश था, आग्रह था कि मैं सोचूं और सम्मति दूं. स्पष्ट था कि अगर उसपर अमल हुआ तो दुनियांमें कोई उसे ठीक न समझ सकेगा. लोग उसे जयकी दुर्वलताके अतिरिक्त कुछ न मान सकेंगे. दुर्वलता-से भी आगे पराजय और पतन देखेंगे. मैं स्वयं उसमें कोई गहरी संगति नहीं देख पाता था. फिर देखता था कि उस सव विचारमें इलाको अंक-की भांति स्वीकृत ठहरा लिया गया है, जैसे इलाका अपना स्वत्व ही न हो. स्वत्व उसपर इतना सर्वथा और संपूर्ण जयका हो कि जयको स्वयं उस संवंधमें सोचना तक न पड़े ! एक आदमी कुछ ध्येय और आदर्श रखे तो रखे, चाहे तो उसमें आहुत हो जाए, पर मुट्ठीमें उठाकर दूसरे को ज्वालाके वीच आहुतिमें फेंक देना और मग्न भावसे कहना 'स्वाहा'— यह मेरी विलकुल समझमें न आया, जैसे वड़ा ही आदिम हो, वेहद ही दंभपूर्ण हो.

मैंने कहा, "इलाके वारेमें आप क्यों सोचते हैं ? उसे उसपर छोड़ दीजिए."

सुनकर जय धीमी मुसकराहटमें मुसकराये. भीनी व्यथित वह मुस-कान थी. वोले, "तुम नहीं समझोगे. व्यक्तिकी स्वतंत्रताको समझते हो, पर जहां अपनी स्वतंत्रता पाप वन जाती है, उस स्थितिको तुम लोग शायद नहीं समझना चाहोगे. हम प्रेमको अपना नहीं मानते, अपनेको ही उसका मान सकते हैं. हम प्रेम भगवानको कहते हैं. वहां स्वतंत्रता पाप है. दूसरेको अलग मान सकनेका अंतर रखना पाप है."

मैं और भी चक्करमें पड़ा. ऐसा विश्वास गहरी स्व-रतिमें से भी आ सकता है. निश्चय नीचे गहरी आसक्ति ही हो सकती है.

मैंने कहा, "आश्रममें वह आपकी होकर रहेंगी ? अविवाहित, फिर भी आपकी ?"

परास्तसे वह वोले, "छोड़ो, मैं तुमको समझा नहीं सकता...तो मैं

समझूं, तुम सहमत नहीं हो ?"

मैंने ईमानदारीसे कहा, "नहीं हूं."

उत्तर देकर मैं तैयार हुआ कि सामनेसे अप्रसन्नता आएगी, पर जयने हाथ बढ़ाकर मेरा हाथ थामा और दूसरे हाथसे उसे दबाते हुए कहा, "तुम एक मित्र हो और मैं आभारी हूं."

मैं कंटकित हो आया. देखा कि सामनेका व्यक्ति स्वयं क्या समझा जाता है इससे एकदम निरपेक्ष और अस्पृष्ट है. वह जो है वही है, और सहज भावसे वैसा होने और बरतनेमें उसे तनिक भी कठिनाई नहीं होती है. मुझे यह बहुत रुचिकर हुआ.

बोले, "अब तुम इलाके पास जाओगे. लेकिन राज्य-संस्थाके बारेमें, उस अपेक्षामें समाज-व्यवस्था और अर्थ-रचनाके बारेमें जो मैं सोचता हूं उस सबको मुझसे, इलासे, सब तरह के निजसे और तत्कालसे अलग करके चाहो तो दुनियांको सुना सकते हो. राज्यका उत्तरोत्तर मजबूत और केन्द्रित होते जाना मनुष्यके विकासके लिए खतरा बन रहा है, यह मैं हर सांसके साथ अनुभव करता हूं. यह कहकर जानता हूं मैं अपना अन्त चाह रहा हूं. पर सच ही मैं चाहता हूं कि शासक लोग जल्दीसे जल्दी जितनी सहजतासे अपनी अनावश्यकता सिद्ध कर दिखा सकेंगे उतना अच्छा है...."

मैं अपने शब्दोंमें उतना बल नहीं ला सकता. पर व्यक्तित्वका और आस्थाका बल उस समय पूरे तौरपर अपने पर पड़ता मैं अनुभव कर सका. इसीसे इस प्रसंगको सामान्य भाषामें मैं आगे नहीं बढ़ाऊंगा...

फिर इला...इस बार वातावरण अलग था. बैठनेकी जगह भी बदली थी. पहली मंजिलपर बाहरको खुली लॉबीमें हम बैठे, वहां सब हल्का-फुल्का था. हल्की कुरसियां, हल्की मेज, सामने बेलोंकी झालर और लटकी फूलोंकी रकाबियां. एक ओर दिवान और शैल्फ, जिसमें कुछ किताबें थीं. न यहां वजन था, न विस्तार. कहीं पक्का गांभीर्य न था. जैसे छुट्टीके मुहूर्तके लिए स्थल हो. निरा और एकदम घर हो और

निजता वहां सुरक्षित हो. इला भी और दीखी, कोई अनुल्लंघनीयता नहीं, मानो सहज हो और सर्वथा सुलभ.

बोली, "आपको राजनीतिमें दिलचस्पी है ? मैं सच ही पुरुषोंको समझ नहीं सकती. पहले उलझन बनाते हैं, फिर जूझते हैं कि उसे सुलझाएंगे. नहीं तो आप लोगोंकी राजनीति और क्या है. सब शब्दों-का झगड़ा है. समूह जुटते हैं तो शब्दोंपर. कोई एक झंडा बनाया और एक घोष और उसके नीचे होकर मान लिया कि जो करें सब जायज है. मैं सच कहती हूं कि अगर हम न हों तो आप लोग भागते ही फिरें और लड़नेके सिवा दूसरा काम न रहे. न आपको रूपका पता चले, न रस का, या स्पर्शका, और जाने किस अव्यक्तको संज्ञा देकर उस धुनमें चकराएं और चकराएं और उसीको काम करना और उन्नति करना कहें. सच, यथार्थसे आदमी क्यों इतना घबराता है !"

मैंने सोचा यह क्या भूमिका है, और कहा, "यथार्थके लिए आप हैं. खाना-पीना, रहना-सहना—यह देखभाल आप पर है. लेकिन मुझे यादके योग्य क्यों समझा गया, यह मुझे जानने दीजिएगा ?"

हंसकर बोली, "जय क्या कहते थे ?"

"जाने क्या-क्या बातें थीं. राजनीतिकी भी नहीं, एकदम राज-शास्त्रकी."

पूछा, "सच कहिए, वह भागना तो नहीं चाह रहे हैं."

संभलकर मैंने कहा, "खुश तो वह नहीं हैं. पर भागना क्या उनके स्वभावमें है ?"

"मनमें तो बहुत है. पर स्वभावमें—हां, वहां वह लाचार हैं. पर क्या जाने वही कहीं पर-भाव भी पा जाएं ! उसीका मुझे डर रहता है ...एक बात कहिए. मुझे छोड़ना चाहते हैं ?"

मेरे सामने थी वह जो कल साम्राज्ञी थी. पर अब निपट स्त्री दीखी. मैंने कहा, "मैं उनका मन पकड़ नहीं सकता. जाने क्या यज्ञ-धर्मकी बात कहते थे. ऐसा लगता है जीवनको वह बलि मानते हैं. और प्रेम, जो

मर्म हैं, उसकी कुर्बानीका मूल्य शायद उनके निकट उतना ही अधिक हो. और—क्या निश्चय वह आपको प्रेम करते हैं ?"

नहीं कह सकता बात ऐसे सीधे प्रश्नके रूपमें मुझसे कैसे निकल सकी. पर सामनेकी नारी निरीह दीखी, ऐसी कि सोचनेका अवसर न रहा. प्रश्न व्यर्थ ही था. उसमें उत्तरकी अपेक्षा भी न थी. जैसे अनजाने सिर्फ यह जतलाने वह आया हो कि मैं दूर और पराया नहीं, अपना ही हूं. उसने क्षणको मेरी ओर देखा, फिर कहा, "मैं नहीं जानती. शायद नहीं."

मैं अविश्वस्त बना चुप रहा. मेरे चेहरेपर उसे अभी प्रश्न लिखा ही दीखा होगा.

बोली, "मैंने उन्हें अपनी ओर कभी विवश नहीं पाया."

शब्द कठिनाईसे और अलग-अलग निकले और कहकर बंद हो गई. लेकिन शायद उसने देख लिया कि प्रश्न उत्तरसे भीतर और उतिष्ठ ही हुआ है, यद्यपि मूक है.

उसने मुझे देखा, निगाह नहीं हटाई. जैसे सत्यका सामना वही नहीं तो और कौन झेलेगा. स्वस्थ सहज भावसे बोली, "मैं समक्ष रही हूं, उद्यत रही हूं, लेकिन मुझे लिया नहीं गया."

यह क्या था ? उत्तरमें इतना तो मैंने नहीं मांगा था. फिर क्या उस ओरसे ही मुक्ति पानेकी आतुरता थी. सामने थी वह जो अतिशय संभ्रांत थी, प्रौढ़ उसकी वय, फिर यह क्या था ?

विस्मयसे कहा, "जी ?"

बोली "हां, प्रेम वह नहीं करते."

मैंने कहा, "क्या !"

"लगता है, सहते हैं."

"सहते हैं !" मैंने धीमेसे जैसे अपने ही को कहा, "नहीं, सिर्फ अपने को सहते हैं."

झटसे बोली, "होगा, मैं नहीं जानती. आपने प्रश्न पूछा, और मुझे

कह रखा गया है कि कुछ पीछे न रोकूं."

नहीं कह सकता कैसे बुजुर्गी प्रकृतिस्थ भावसे मुझपर आ अवस्थित हुई, कहा, "ठहरो. तुम भूलमें हो. जयके लिए तुम अलग नहीं हो. तुम पर स्वत्व पाने तककी उन्हें आवश्यकता नहीं है. वह स्वत्व जैसे उनमें गर्भित है. वह—"

बीचमें बोली, "नहीं, मैं भूलमें नहीं हू. क्यों कि मैं जानती हूं एक भूल मैंने की थी."

मैं सप्रश्न हुआ. उसने मेरी ओर देखा, जैसे भीतर तक देख लेना चाहा, फिर जाने किस अवशतासे बोली. बोलते समय उसकी आंखें मुझ से हट गई थीं. मानो वे बंद ही हो आई थीं.

"बहुत दिनोंकी बात है, बीस, शायद बाईस बरस पहलेकी. सागर-का तट था. संध्या डूब चली थी. तट सूना था. लहरोंपर लहरें लेकर सागर आता और पछाड़ खाकर पीछे लौट जाता मैं बराबरमें साथ... न थी. दो डग पीछे खड़ी जयको देख रही थी. वह पास थे और पूरे दीख नहीं सकते थे. आंखसे जैसे परस ही पा रही थी. दो से ऊपर मिनट हो गए थे और वह स्तब्ध खड़े थे. आज उनका मन उन्मन था. चुप थे, जैसे कहीं ग्रस्त...बात न कर पाते थे, बस सागरकी ओर मुंह किए खड़े थे—स्तब्ध और अचल. जैसे युग बीत गए, सामने अपारता थी और आंखें उनकी वहां थिर हो गई थीं. मुझे लगा, यह व्यक्ति उस पार ही है, इधर इस ओर नहीं है जहां मैं हूं. उस समय मुझमें ऐसा गहरा मोह हो आया, जी जैसे उमगा आता हो. उस सामने खड़े व्यक्तिको अंकमें लेकर जैसे समूचा भीतर दुबका लूं, ऐसा जी चाहा. पर मनसे जितना भी चाहा, मैं अलग बंधी-सी उन्हें देखती ही रही...न हलन, न चलन, न कहीं एक कंपन. जैसे सब स्पंदन मूर्छित हो सोया हो, समयकी अनंतता मुझपर से बीत गई...

"कि सहसा मूर्ति मुड़ी. हाथ उसके बढ़े. मैंने सुना : इली !

"वह पुकार मुझे बेध गई. बहुत आकस्मिक, बहुत अप्रत्याशित था

यह. मैं चौंककर पीछे हटी.

"इली ! !

"ओः, मैं कहां थी. क्या मैं थी ?

"कहनेके साथ मूर्ति एक डग आगे बढ़ी. हाथ उसके उसी तरह सामने मेरी ओर फैले थे. डर की मारी मैं दो डग पीछे हटी.

"इली ! ! !

"वाणीमें कैसी एक कंपकंपाहट थी, जैसे वह आर्त हो. भीतर तक मुझे वह चीरती चली गई और मैं गड़ी रह गई, पीछे एक डग न रख सकी. और एक भयंकर भीति और प्रीतिके आवेगमें कांपती खड़ी रह गई.

"फैले हाथ बढ़ते मेरी ओर आते ही गए और प्यारसे बिगड़ा मेरा यह नाम 'इली' पछाड़ोंपर पछाड़ खाता गूंज-गूंजकर मेरे कानोंके परदों पर पड़ता मेरे समूचेपनमें रमता समा गया...

"उन हाथोंने मुझे न छूआ. आंचलके छोरको ही निक उठाया, और उसे अपने होठों और फिर आंखोंसे लगाया. मेरे सारे गातमें कांटे सिहर आए. आंखें बंद हो गईं, कानोंसे फुसफुसी, मानों नीरव वाणीमें सुनती गई—इली-ी—ी.... !

"ओह, जाने कैसी पुकार थी. कालके किस छोरसे वह चली आ रही थी. मेरे समूचेपनमें से बोल उठा : लो, लो, लो, मुझे लो ..तभी एक हलका-सा परस मेरी उंगलियोंको छू गया. सारे गातमें एक साथ बिजली दौड़ गई और मैं वर्जन करती चिल्लाई : नहीं, नहीं, नहीं—

"वर्जन करती ही मैं अपेक्षामें रही कि कोई होगा जो मेरी 'नहीं' नहीं सुनेगा और मुझे ले ही लेगा. इस अपेक्षाको ही नहीं में दोहराती चली गई, हाथोंके वर्जनसे लानेवालेको हटाती और बुलाती चली गई...

"पर हाथ किसे हटाकर बुला रहे थे ? आंख खोलकर देखा, कोई न था. आ रहा था वह चला गया था. उसकी पीठ फिर अब मेरी ओर थी और मुख सागरकी ओर था.

"जीभ मेरी दांतसे कटकर रह गई. यह क्या हो गया ! मुझे कुछ

न सूझा.

"मूर्ति हिलनेको न थी.

"जब युग बीत गए, तो मैंने कहा : जय ! पास आई और मैंने कहा : जय !! फिर और पास आकर और पाससे कहा : जय !!!

"उस मूर्तिने कहा, 'हां' और मुड़कर हाथ मेरे कंधे पर रखे, फिर कहा. 'आओ चलो.'

"दोनों चुपचाप चल दिए. चुपचाप, चुपचाप. मुझे यह बेहद भारी हो रहा था. तब एक साथ मैं गिर जाती, मर जाती, मार दी जाती, तो कृपा होती. पर हम चल रहे थे. चुप-चाप, चुप-चाप.

"रेत अब पार होनेको थी. सीढ़ियां आएंगी और हम घरमें होंगे. मैं बेचैन हो आई. मैं क्या करूं ? क्या करूं ?? धीमेसे बोली, 'जय' !

"कहीं कुछ अन्तर नहीं था. न उत्तर था. वही चुपचाप, चुपचाप. मैं डरी. बोली, 'सुनते हो ?'

"अवाज आई' 'हां'. मैंने कहा, 'अभी नहीं...तुम जानते हो...' उत्तर आया, 'हां'. उस हां में मानों मौत बोली थी...डग बढ़ते रहें. चुप-चाप, चुपचाप. फिर भी मरती आशा और भयसे भरी मैं बोली, 'जय' ...'हां'...वह 'हां' था कि उसमें सब समाप्त था. आगेके लिए कहीं कुछ उसमें शेष न रहा..."

...उसकी आंखें खुली. जैसे उसने अब पहचाना कि यह बाईस बरस बादका आज है, कि बात मुझ विलबर शैल्डन हूस्टन से हो रही है. जैसे उसे आयास पड़ा. इतने बहुतसे वर्षों को जो वर्तमान हो आए थे, क्षणमें जो सूखा पार कर आना था. अन्तमें पार मिला, स्वस्थ बनती-सी वह बोली. :

"तबसे कभी मैंने उन्हें अवश नहीं पाया है. अपनी ओरसे चेष्टाकी है, धृष्टताकी है, निर्लज्जताकी है, पर नहीं, कुछ नहीं हुआ है...पूछती हूं, यह प्रेम है ?"

कुछ उत्तर न दे सका. मैं सुन्न हो आया था. जो हुआ, उसपर

विश्वास न होता था. किस वेगमें यह नारी यह सब कहने के निकट आ गई, जान न सका. शायद कहीं भूल हुई है, चूक हो गई है.

मैंने कहा, "आप अशांत न हों."

सुनकर वह मुसकराई. कहीं उस मुसकराहटमें चंचलता न थी. वह एकदम शिष्ट थी और संयत. जैसे जो सुनाया वह पट पर दीखा था, देखकर वर्णनके रूपमें ही कह सुनाया गया था. यों वह अलग था, यह अलग थी.

बोली, "मैं अशांत लगती हूं?"

सचमुच उस रूपमें उसे देखकर मेरा उपदेश मुझ पर ही लौट आया. क्या मैं उसपर करुणा करने चला था ? वह जो एकदम समाहित थी और प्रकृतिस्थ. उस नारीकी क्षमतापर मैं चकित हुआ.

कहा, "आप मुझे क्षमा करेंगी."

बोली, "वृथा संकोचमें न पड़िए. आप जयको जानना चाहते हैं. लोग राजनीतिमें उन्हें जो जानें वह जानना नहीं है. वह सतहका है और बाहरी....उनका कहना है, जो है प्रवाह है, प्रयोग है. हम सब भगवानके हाथमें प्रयोगके निमित्त हैं. इससे सत्यपर कहीं आवरण आवश्यक नहीं है. कुछ अनाविष्कृत रहने के लिए नहीं है. हमारे साथ, हम सबके साथ घटा सब कुछ जीवन-विज्ञानकी पोथीमें कुछ पंक्तियोंका लेख मात्र है. चाहिए कि अक्षर उस लिखितके साफ बनें कि पढ़नेमें कठिनाई न हो... क्या आप उसे प्रेम कहते हैं ?"

मैंने कहा, "कृपया उकसाइए नहीं. कहीं मुझसे धृष्टता बन जाए!"

हंसके बोली, "नहीं, अपना विश्वास आप न खोएं. चाहिए हो तो मुझसे आश्वासन ले लें कि धृष्टता न होगी...कहती हूं, क्या मैं उसके बाद उन्हें छोड़ सकती थी...? पर पा भी कभी नहीं सकी."

देखा कि आश्वासन मुझे ही देना होगा. कहा, "जयकी ओरसे मैं कहता हूं. तुम्हें पाना उन्हें शेष नहीं है. इसीसे शायद उस ओरसे पानेकी

चेष्टा नहीं है. इसे अन्यथा न लीजिए. संभव हो सकता है उतना स्वत्व आपके संबंधमें वह अपनेमें सहज ही अनुभव करते हों."

बोली, "जानती हूं. पर कुछ और भी जानती हूं. कामना नहीं है उनमें, सो नहीं. फिर जो संयम है, वह क्या है ? प्रेम है ?"

मैं न समझ सका. वह ठिठकी, फिर जाने किस आवेगमें बोलती ही गई. जैसे अपनेसे ही विवादमें आ उलझी हो,

कहा, "...बात सच है. मैंने बापूको वचन दिया था. उन्होंने आस्थासे उसे ले लिया और आगे एक शब्द नहीं कहा. मेरे प्रति वह आस्था सदाके लिए मेरी मर्यादा बन गई...कृतज्ञ हूं कि जयने कभी उस मर्यादा पर किंचित रेख नहीं आने दी...पर पूछती हूं, वह प्रेम है जिसमें मर्यादा दीखने को रह जाती है ? अंधा नहीं वह प्रेम है ?"

मैंने कहा, "हां, है."

गंभीरतासे बोली, "मर्यादा देख पाता है. रख पाता है—लांघ किसी तरह नहीं पाता, ऐसा असमर्थ—वह प्रेम है ?"

मैं नहीं बोला, चुप रहा. वह उसी भावसे बोली, "नहीं, वह मान है"

सुनकर मैं चमका. जैसे तड़ककर बिजलीकी एक कौंध भीतर तक चीर गई. सब मर्यादाओं और प्रण-प्रतिज्ञाओंके रहते भी जैसे नरके प्रति इस नारीमें प्रश्न हो, प्रश्नका दावा हो, कि वह मातृत्वसे वंचित क्यों है. उसका सारा ज्ञान उसकी धमनियोंमें रमे और रक्तमें धड़कते इस प्रश्न-का जैसे शमन न कर पा रहा हो. तो जयने जो इलाका मान रखा, सो ही क्या उसे नारीका अपमान मालूम हो रहा था ?

मैं सहम आया. कुछ-कुछ जो ढूंढ़ रहा था, उसका आभास मिला. मैंने कहा, "शायद तुम ठीक कहती हो."

वह फिर मुसकराई. अनबूझ वह मुसकराहट. बोली, "वह मानसे उतरकर अवश हो वह न सके...वह आते तो—रह न पाते. मैं तब अपने हाथों उन्हें खत्म कर देती...इस मूर्ति जैसी ऊंचाई पर, एकाकी और अद्वितीय, शायद उन्हें मैंने ही रखा है—कि कुछ हो जो टूट न सके,

मैं तक तोड़ न सकूं...ओः...लेकिन यह प्रेम नहीं है, नहीं, नहीं, कुछ और है...तड़प रही हूं जाननेके लिए कि क्लीवता है ?"

यह मेरे लिए वहुत हो रहा था, समझसे ऊपर, वूतेसे वाहर. जैसे ज्ञानसे वहुत गहरे में का, एकदम थाह में का कुछ हो. एक नामरूपकी नारीके माध्यमसे कुछ अनादि और असंज्ञ प्रकट हो रहा हो. मैं पात्र न वन सकता था. न अवरोव ही वनना संभव था.

वह कहती गई, "वीस साल हो गए, शायद अधिक...आंखें मेरी उठी हैं और सामनेकी आंखोंमें मैंने चाह चीन्ही है. पर तभी वे आंखें मुंद गई हैं और मुंदी रही हैं. उंगलियोंके पोरोंमें लालसा लहकी दीखी है, कि वे अव वढ़ेंगी. लेकिन नहीं, नामके जापमें उन्हें अपनी ही ओर फेर लिया गया है ! मैं समक्ष हूं और सवेरेका तड़क अंधेरा है. कोई पास नहीं है. या संध्याका उतार है और वही एकांत है. मैं हूं और वह, कोई पास नहीं है. और कहते हैं, 'अव भजन'. हर सवेरे, हर शाम, यही कि 'अव भजन'. दिनमें, देखती हूं, समय नहीं मिलता. पर इस समय न मिलने को देखती तो हूं ही. रात दूर रहते हैं, मैं दूर रहती हूं. सो सव इन सुवह-शामकी घड़ियोंमें इकट्ठा हो आता है. पर तव वह कहते हैं 'अव भजन' और भजन होता है, और इकतारा वजता है, और प्रार्थना दुहराई जाती हैं. सवेरे यह होता है और शाम यह होता है. और कुछ नहीं होता...पचीस वरससे यही यह होता आ रहा है...नहीं कभी और भी होता है. मैं झींकती और झगड़ती हूं...पर वह झिड़कते तक नहीं, उल्टे पुचकारते से हैं...और कभी पाती हूं कि मैं सो रही हूं और वह कपड़े मुझ पर ठीक कर गए हैं...और कभी पाया है कि मैं यों सो रही हूं, आंखें मुंदी हैं, पर देख रही हूं कि वह खड़े हैं मिनिट, दो मिनिट खड़े रहे हैं, फिर झुककर हौलेसे कपड़ा मुझपर तनिक ढंक दिया है और आंख वचाए दवे पांव मुड़कर चले गए हैं...मनमें हुआ है कि उस कायरको भागकर जा पकड़ूं और नौंच डालूं...पर नहीं, सवेरे भजन हुआ है और शामको प्रार्थना हुई है और उन वंद आंखोंसे कभी

आंसू ढरे हैं, सिर डोला है, और हाथोंकी हथेलियां आगे किसीकी ओर न आकर भक्तिमें विभोर प्रभुके गुणगानमें हल्के-हल्के मिलकर ताली बजा उठी हैं...इसी तरह एक दिन, दो दिन, तीन दिन...हर दिन अगले के इंतजारमें बीतता गया, पर कुछ नहीं हुआ और पचीस बरस हो गए हैं...पर आशा नहीं टूटती और मैं कहीं जा नहीं सकती...जानती हूं कि नहीं-नहीं-नहीं, फिर भी कहती हूं कि शायद हो कि वज्र पिघले...जिंदगी इस व्यर्थ सार्थकता में बीत रही है...छोटी नहीं बहुत बड़ी सार्थकता है, पर व्यर्थ भी है, और मेरा-सा भाग्य किसीका न होगा..."

इस स्थलपर उसने मुझे देखा, जैसे किसी अमित उत्तीर्णतासे नीचे वह धराके तलपर आई हो. लज्जित-सी वह मुसकराई. सहज और करुण वह मुसकराहट, और बोली. :

"आप चौंकेसे हैं. शायद प्रलाप समझते हैं. प्रलाप तो है ही, पर—मेरी वास्तविकता है. जयकी भी वास्तविकता है. शब्द आप दें. उन्हें वीर कहें कायर कहें, मुझे धीर कहें अधीर कहें, पर जो है यह है."

मेरे लिए यह आविष्कार न था. विस्मय यह कि सब उसीसे सुनकर भी सामनेकी नारीके प्रति मेरा संभ्रम तनिक भी कम नहीं हो सका. मुंहसे उसके जो भी आया पर कुल मिलाकर एक ऐसी शालीनता, यद्यपि सरलता, इलाके भाव और व्यवहारमें थी कि मेरा आदर बढ़ ही सकता था.

मैंने कहा, "उत्सुकताके लिए क्षमा कीजिएगा. पर क्या मैं पूछ सकता हूं कि आपका पहला परिचय किस प्रकार हुआ."

हंसती-सी बोली, "जहां-तहां कुछ आपने पढ़ा तो होगा. सुनती हूं, गाथाएं बन गई हैं."

कहा, "वह मुझे नहीं चाहिए. आपके मुंहसे 'वास्तविकता' चाहिए."

कुछ देर सोचती रही. जैसे वहां पहुंचनेमें समय लगता हो, फिर बोली, "मैं बापूके साथ थी. दुपहरीका वक्त होगा. गरमीके दिन, मध्यप्रदेशकी जैसी धरती. द्वार बंद था, क्योंकि हवा न आकर लू आती थी.

द्वारके आगे बस आठ फुटका छप्पर था. तापके मारे किसी तरह कल न थी. पंखा हाथमें था और कामसे थकके मैं लेटी ही थी. वापू एक कोठरी हटके अपने कमरेमें वात कर रहे थे. तभी किसीने दरवाजा खटखटाया

"मैंने खोलकर झल्लाते से हुए कहा, 'क्या है ?'

"'पानी चाहिए.'

"मैंने कहा, 'पानी दुनियामें कहीं नहीं है कि इस तरह दुपहरीमें घुसे चले आते हो और नींद हराम करते हो.'

"आनेवालेने कहा, 'और कुछ खानेको होगा ?'

"मुझे वुरा लगा. झिड़कनेको थी कि उसने कहा, 'जल्दी करो. वक्त कम है'

"कहकर दरवाजा धकेलकर वह विना मुझे ध्यानमें लिए अंदर आ गया. मुझे लगा, मैं चिल्ला उठूंगी.

"उसने कहा, 'कहां है पानी ?'

"मैं कुछ न वोल सकी. तभी उसने एक ओर रखा घड़ा देखा और जाकर अपने आप गिलासमें पानी ले लिया. वहीं पास सीधी खाट खड़ी थी. नीचे डालकर उसपर वैठते हुए कहा, 'लाओ, जो हो ले आओ.'

"मैं उसे देख रही थी. सोचती थी कि अव चीखी, अव चीखी !

"उसने कहा, 'देखो नहीं. खाली पानी औगुन करेगा. जाओ कुछ ले आओ.'

"मैं अव भी सोचमें थी. आनेवालेकी सूरत मुझे अच्छी नहीं लगी. कोई उचक्का-सा मालूम होता था. मैं वढ़नेको हुई कि जाकर वापूसे कहती हूं.

"उसने कहा, 'देर होगी तो पानी ही पीकर जाना होगा. पर उपासा हूं, सिर्फ पानी औगुन करेगा, हो सो ला दो और जल्दी.'

"मैंने कुछ नहीं कहा और आगे वढ़ गई. वापू एक छोड़ अगले कमरेमें थे. चना-गुड़ वीचमें ही रखे थे. कुछ लेकर वापस आई, उसे दिए. और उन्हीं पांव लौटती वापूको कहने वढ़ गई.

"वापू वातोंमें लगे थे. कोई एक मिनट द्वारपर वाहर रही. फिर अंदर गई तो वापू वोले, 'क्या है ?'

"मेरे चेहरेपर घवराहट रही होगी. मैंने कुछ इशारेसे कहा और वापूके साथ अपने कमरेमें आई. वहां कोई न था. गिलास रखा था, उसकी जगह लोटा गायव था, और वरावर फैला हुआ एक अंगोछा गायव था.

"वापू वोले, 'क्या है ?'

"मैंने कहा, 'कोई था !'

"वोले, 'कौन था ?'

"मैंने कहा, 'मालूम नहीं.'

"वोले, 'यों ही घवरा जाती हो.'

"मैंने कहा, 'कि कि—'

"वोले, 'इसीपर देश-सेविका वनेगी ?'

"और वह चले गए. मैंने दरवाजा वंद किया और उसी तरह पंखा हाथमें ले चटाईपर पड़ गई. फिर देखा खाट पड़ी है. खाट उठाकर सीधी की और फिर चटाईपर आ लेटी. लेटे-लेटे शायद नींद आ गई. डेढ़ दो घंटा हो गया. फिर दरवाजेपर खटखट सुनकर में उठी और दरवाजा खोलकर देखा, कोई लोटा और अंगोछा देने आया है.

"मैंने वे चीजें ले लीं और आगत लौट चला.

"में द्वारमें देखती खड़ी थी. मैंने कहा, 'ए, सुनना' वाइसेक वर्पका वह युवक होगा. आकर सामने खड़ा हुआ. और, कहा, 'कहिए.'

"मैंने कहा, 'ये चीजें तुम्हें किसने दी हैं ?'

"वोला, 'लौटाने को दी हैं ?'

"किसने दी हैं ?

"उन्होंने ही दी हैं.

"तुम कौन हो ?

"उसने कुछ उत्तर नहीं दिया और इस वार घूमकर जो आगे वढ़ा तो

मेरे बुलाने पर भी उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा.

"उस उचक्केको अवहेलनाके सिवा मैं किसी और भावसे देख सकूंगी यह संभव न मालूम हुआ. पर जाने क्या होता है!...यह असलियत है."

मैं बोला, "आपने कहा, पचीस वर्ष !"

"हां. आदिवासियोंके आन्दोलनके समयकी बात है..:फिर वह बापूके पास भी आए. दस बारह जनोंकी मंडली थी. जय उनमें क्या खाते-पीते थे, ठिकाना न था. खानेके समयपर उन्हें शायद ही कभी उपस्थित देखा. आस-पास घूमते ही रहते थे. और सुन पड़ा, समय पर जहां जो मिल जाता है खा लेते हैं. अकसर नहीं मिलता, क्योंकि बातोंमें दूसरे को ध्यान नहीं आता. कई बार होता कि उसी दरवाजे आते और चना-गुड़ लेकर दो मिनटमें साफ कर जाते और चले जाते. अवसर ही न आता कि मैं कुछ और कर सकूं. मेरी तरफ जरा ध्यान न देते और बहुत ही शीघ्रतासे अपना भोजन समाप्त करते. कभी एक क्षण नहीं अटके और कभी ध्यान नहीं किया कि मुट्ठी में मींजकर और फूंकसे उनके छिलके उड़ाकर जो गुड़-पानीके साथ चने वह उदरस्थ कर गए हैं, सो उनका कूड़ा मेरे सारे कमरेमें फैला पड़ा है. यह नहीं कि जरा साफ कर जाएं.

"मैंने एक दिन कहा, 'सारे में यह कूड़ा क्यों बिखेर जाते हो जी ?'

"बोले, 'ओ, लाओ, साफ कर जाऊं ?'

"मैंने कहा, 'वह रही झाड़ू.'

"झाड़ू उठाई और वह साफ करने लगे. मैंने झाड़ उनके हाथसे छीन ली, उन्होंने झाड़ू छिन जाने दी और झाड़ूके मेरे हाथमें आते ही वह बाहर चले गए.

"यह अशिष्टता मुझे अच्छी नहीं लगी. लेकिन फिर आए तो देखा उसी तरह छिलके फूंकसे सारेमें बिखेर दिए हैं और सफाईका जरा ध्यान नहीं है.

"मैंने कहा, 'समझते हो रोज-रोज मैं ही यह सब तुम्हारा कूड़ा साफ किया करूंगी ?'

"उन्होंने कुछ नहीं कहा. मेरी बाईं कनपटीपर धीमेसे दो-एक टहोके दिए और हंसकर चले गए.

"कोई तीन सप्ताह मंडली बापूके यहां रही. जाने बापूके साथ उनकी क्या बातें होती थीं, पर देख सकी कि वह आदमी अलग है और अपनी कुछ उसे परवा नहीं है. आता है, अपने आप चटाई बाहर खींचकर मैदानमें सो जाता है और तड़के अंधेरे उठकर चला जाता है.

"मैंने एक रोज डांटा, 'तुम ढंगसे क्यों नहीं रहते हो ? न खानेका ठीक, न सोनेका, न रहनेका.'

"उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, बस हंसकर रह गए.

"मैंने कहा, 'सुनते नहीं हो. सीखनेकी कोशिश तो कर सकते हो.'

"बोले, 'कराओ कोशिश.'

"मैंने कहा, 'ऐसे तुम हो क्यों लापरवाह.'

"बोले, 'अकेला हूं.

"मैंने कहा, 'तो क्या हुआ.'

"बोले, 'हां, कुछ नहीं हुआ.'

"और फिर चले गए.

"बापूसे उनके बारेमें कई बार सुनती. वह तारीफ ही तारीफ करते. कहते, 'बड़ा धुनी है और बड़ा गुनी है.'

"मैंने मालूम किया कि कौन हैं, कहां के हैं, क्या हैं, तो ठीक पता नहीं चला. सुना कि एकदम अनाथ हैं. फिर तरह-तरह की कहानियां सुनीं कि यह हुआ और यह किया. जाने क्या-क्या पराक्रमकी बातें थीं. मुझे वे अजब लगीं क्यों कि जब खाटपर चने फांकते देखती और ऐसा कि मेरा हर हुक्म माननेको तैयार तो मुझे बड़ा अजब लगता.

"एक बार उन्होंने झाड़ू छिनने न दी और मैं कोनेमें खड़ी बदहवास उन्हें बुहारी देते देखती रही, क्यों कि उन्होंने डपट दिया था. बुहारी देकर सीधे जाने लगे तो मैंने कहा, 'हाथ धो लो.'

"लौटकर उन्होंने मुझे देखा. मैंने हाथ धुलाए. हंसकर हाथ उन्होंने

चोए और मेरी साड़ीका सामनेका पल्ला खींचकर हाथ पोंछ वह चलते चले गए, न माफी न कुछ.

"उसके वाद कभी मैंने छिलकेदार चने उन्हें नहीं दिए. खुद पहलेसे साफ कर रखती थी, और देती तो अलग खड़ी देखती रहती.

"वापूसे पूछा, 'यह कौन हैं ?'

"वोले, 'जयवर्धन है. नाम सुना है न !'

"मैंने कहा, 'वापू, यही थे उस रोज.'

"वोले, 'क्या ?'

"मैंने कहा, 'पानी पीने आए थे. दो रोजके उपासे थे. और चना गुड़ ले गए थे.'

"वोले, 'जयवर्धन ?'

"मैंने कहा, 'हां.''

"वोले, 'झूठ.'

"ऐसा शब्द कभी वापूके मुंहसे न निकला था, और मेरे वारेमें. मने कहा, 'सच वापू.'

"वोले, 'जयवर्धन !' और हंसने लगे. अकेला और इस तरह. नहीं, असंभव. वेहद दर्पी आदमी है और अपनी आन रखता है. यहां तक कि यहां खाना कव उसने चखा है.'

"मैं समझ न सकी, जैसे आतंकमें हो आई. मानो उनका आना और मांगकर, चने-गुड़ खाना एक निरा अपवाद हो. पर मेरे साथ तो वह नित्यकी घटना-सी थी.

"मैंने कहा, 'हां, वापू, वह भूखे थे. और मांगके चना-गुड़ ले गए थे.'

"वापूने कहा, 'अच्छा, अच्छा.' और मुझे खत्म किया.

"फिर मंडली चली गई. चला जाना मैंने सुना और मेरे मनमें कसक हुई कि जानेकी वात कहके क्या नहीं जा सकते थे.

"अगले दिन एक पुर्जेपर पेनसिलसे घसीटे हुए अक्षर मेरे हाथमें दिए

गए. देनेवाला कोई बाहरका ही था. लिखा था, 'अशिष्ट व्यवहारके लिए क्षमा करना—जय.'

"...इसको बिलबर, क्या तुम अबके जयवर्धनसे मिला सकते हो ?"

मैं सचमुच नहीं मिला सकता था.

"देख सकते हो," वह बोली, "यह बिल्कुल प्रेम-कहानी नहीं है. प्रेम-में फुरसत होती है. जयको उसका अभाव रहा है. छीनकर कभी वह फुरसत निकाल भी सके हैं, तो झट फिर कामने उन्हें वापस छीन लिया है. प्रेम शायद अवकाशका व्यापार है. लेकिन—"

वह रुकी. मैं भी प्रतीक्षामें रुका.

"लेकिन हमें तो वह जीवनका ही व्यापार है. इसीसे कहती हूं, वह प्रेम नहीं करते हैं."

मैं सुन रहा था.

उसने कहा, "लेकिन फिर मैं क्यों इतनी उनकी हूं ! जो चाहे वह मेरा कर सकते हैं. कर सकते हैं, पर चाहते ही नहीं. और अब ऐसा लगता है कि वह मुझे स्वामीके आश्रम भेज देंगे."

मैंने पूछा, "क्या उन्होंने इस बारेमें कहा है ?"

"कहते तो मुझे कुछ कहनेको कहां रह जाता ? पर लगता है . . . बाहर क्या हो रहा है, मालूम है ?"

बताया कि नहीं, पूरा अनुमान नहीं है.

बोली, "सुनती हूं, हम लोगोंके पुतले बनाकर साथ जलाए जा रहे हैं. पुलिसका डर रोकता है, पर ऐसी वारदातोंको पुलिस मिटा कैसे सकती है. रोकसे और चाव पैदा होता है. मैं कभी-कभी परेशान हो जाती हूं... लगता है, मैं खुद जाऊं, तो यह सब उत्पात शायद मिट भी सकता है. पर कमजोरी जयको बर्दाश्त नहीं है. कर्त्तव्यमें कुछ करना पड़े, पर घबराहटमें वही कभी वह न करेंगे ?"

मैंने कहा, "आपको क्या घबराहट है ?"

बोली, "यही कि जय झुकना नहीं जानते."

"तो इसमें आपको क्या डर है ?"

"मैं ही नहीं, तो उनकी जानके लिए यहां सोचनेवाला कौन है. चारों तरफ यह जो सारी सुरक्षा है. निरी वैधानिक है. कुरसीपर दूसरा वैठे तो उधर झुक जाए. व्यक्तिकी नहीं, कुरसीकी है, और यह वह जानते हैं. इसीसे उसका उपयोग भी विशेष नहीं चाहते...एक काम करो मेरा पत्र ले जाओ. मैं यहां एकांतमें उनसे मुलाकात करनेको तैयार हूं."

"स्वामी से ?"

"हां."

"आप चाहती हैं, मुलाकात अप्रकट रहे ?"

"हां."

"पर वह कैसे संभव है ?"

"तुमसे यही चाहती हूं कि संभव कर सको."

यह वहुत अधिक था.

मैंने कहा, "आपको कुछ सीधे अपने हाथमें न लेना चाहिए, जबतक जय मौजूद हैं."

सुनकर इलाके चेहरेपर तनाव दिखाई दिया. वोली, "आप कहना चाहते हैं कि मुझे उनपर भरोसा नहीं है ?"

"सीधे कुछ कदम उठानेकी जरूरत ही आपके लिए क्यों है ?"

"क्योंकि उन्हें अपनी जानकी फिक्र नहीं है, और मुझे है. वह शांतिके लिए अपनेको झोंक देंगे, जो कि मैं कभी नहीं होने दे सकती. वलि कोई होगा ही, तो मैं. दोष तो सब मेरा है. रही तो मै साथ हूं, उन्होंने तो कभी रोककर नहीं रखा."

मैंने कहा, "पर—"

आगे उसने कहने नहीं दिया. वोली, "'पर' नहीं, पत्र ले जाओ और कुछ वहाना कर देना. दूसरे दिन तो आ ही जाओगे."

मैंने कहा, "आप निश्चयपर आगई ?"

वोली, "और कोई सूरत नहीं है. जयका झुकना ठीक नहीं होगा.

सम्भव भी वह नहीं है. मेरा जाना भी गलत है. दूसरे, जा भी कैसे सकती हूं. इससे यही रह जाता है. तुम वाहरके हो, इससे किसी तरह की वात न चलेगी. जाओगे ?"

मैंने कहा, "पत्र तैयार है ?"

वोली, "तीसरे पहर तक मिल जाएगा."

मैंने कहा, "अगर आप जरूरी समझती हैं, तो—"

"हां, जरूरी समझती हूं."

मने कहा, "जो आज्ञा."

कह तो दिया पर मैं मनमें साफ नहीं था. ऐसा लगता था कि कहा होगा नहीं. घटनाचक्र वह होने न देगा. क्या मुझे आशा थी, कह नहीं सकता. लेकिन कहा करनेमें आएगा ऐसा लगता तो मैं कभी हां कर न पाता. लगा था कि वातकी वात है, अविक नहीं, और स्थितिको संभाल-कर किसी तरह यहांसे वाहर हो रहना है.

इलाने वहुत कृतज्ञता जताई और मैंने छुट्टी पाई.

तीसरा पहर होते फोन आया कि खत आरहा है, मैं तैयार हूं न. फोन इलाकी ओर से था, इला स्वयं न थी.

मैंने पूछा, "क्या मैं जान सकता हूं कि मैं किससे वात कर रहा हूं ?"

वताया गया कि इसकी आवश्यकता नहीं है. वात अंतःपुरसे हो रही है. उच्चारणसे मालूम हुआ कि कोई मेरे समान विदेशकी हैं और केवल कार्यकर्त्री हैं.

मैंने कहा कि क्या मैं आपकी मालकिनसे संध्या तक कुछ समय पा सकता हूं.

आवाजने कहा कि संभवतः नहीं, फिर भी आप चाहते हैं कि मैं पूछूं ?

मैंने कहा, "क्या पत्र रवाना हो गया है."

वोलीं, "मुहरवंद मेरे पास है. क्या आप तक पहुंचा दिया जाए ?"

पूछा, "क्या मैं अभी उनसे बात कर सकता हूं."

मालूम हुआ कि नहीं. पत्र आ रहा है.

पत्र बाकायदा आ पहुंचा और मैं असमंजसमें हो रहा. किसी तरह का कोई अतिरिक्त कर्त्तव्य मैं अपने ऊपर न आने देना चाहता था. यह सब मेरा काम न था. यद्यपि जय और इलाका विश्वासपत्र होना अपनेमें कम मूल्यवान न था, पर उसमें किसी तरह उलझना मुझे उचित न जान पड़ता था. पत्र पाकर मैं असमंजसमें हो रहा. बहुत अनहोनी बात लगती थी यह कि पत्र लेकर मैं जाऊं और स्वामीके यहां जहांसे मैं अभी हाल लौटा था. वह लौटना बहुत कुछ बच निकलना ही था. फिर करना क्या होगा, यह भी समझ न आता था. इलाने गहरे संकट-में ही मेरा सहारा थामा होगा, इसमें संदेह न था. अवश्य कुछ कारण रहा होगा कि मेरे सिवा किसी और पर वह भार न डाला जा सके. मैं उस संकटका पूरा हाल न जानता था. हवामें जो उसका आभास था, उससे अनुमान कर सकता था, पर जयको एक तरफ करके इलाके लिए अपनी ओरसे उसमें कुछ करनेको हो सकता है, इसकी आवश्यकता मुझे नहीं दीखती थी. जयको बिना सूचना दिए, उस काममें हाथ डालना मुझे उचित न प्रतीत होता था.

यह दुविधा जल्दी नहीं टली. न इलासे संपर्क हो सका. शाम हो आई, तब अकस्मात मेरा ध्यान शामके अखबारकी एक खबरपर गया. मालूम हुआ कि सहसा वह दल जो प्रगतिगामी था और जयका कट्टर विरोधी, जयके समर्थनमें खुलकर मैदानमें आगया है और रूढ़ि-पंथियों-को ललकार उठा है. दो जगहोंसे खबर है कि संघर्ष मुश्किलसे बचाया जा सका है. यह भी खबर है कि जो चित्र और पुतले जलानेको ले जाए जा रहे थे, उन्हींको छीनकर फिर जयकारके साथ जलूसमें ले जाया गया, और सभाओंमें प्रतिष्ठित किया गया. प्रगतिगामी पक्षके नेताने एक सभामें घोषणाकी कि निजी संबंधोंपर रूढ़ियोंका आतंक और आरोप अब नहीं चल सकता और हमारे राष्ट्राधिप चिरायु हों कि उन्होंने प्रेम

की दिव्यताको रूढ़िके पाशसे मुक्त करके स्वयं-प्रतिष्ठ किया है.

पढ़कर मैं मुसकराया और चैनकी सांस ली.

मालूम हुआ अखवारके वाद भी वैसे संघर्ष होते रहे थे, और देश उनसे गूंज निकला था.

मालूम हुआ प्रश्न धर्म वनाम मुक्तिका है, रूढ़ि वनाम प्रगतिका है, किताव वनाम इंसानका है.

पत्र मेरे पास है. मुझे किसीने नहीं पूछा है. शाम बीत गई है. रात भी काफी हो आई है. सोचता हूं तो आजका दिन विचित्र लगता है... सव अपनी कक्षाओंमें घूमनेको वाध्य हैं. कोई दो सर्वथा एक नहीं हैं, यहां तक कि जय और इला...

मालूम होता है कि यही व्यंग्य है और यही सार है....दूसरेकी चितामें एक घुलता भी रहे और उसी कारण उससे अलग भी रहे..... सच ही जीवन श्वास है. रखनेसे नहीं रहता, देनेसे रहता है. और अपनेमें नहीं रहता, दूसरेमें रहता है.....

१३ मार्च—

सवेरेके अखवारमें यह खवर है कि डा० नाथ राष्ट्राधिपसे मुलाकात मांगेंगे. उन्होंने इस वातकी आलोचनाकी है कि पुलिसने रूढ़ि-पंथियोंके उत्पातोंको रोकनेकी चेष्टा नहीं की. यह नीति कि लोकमत ही हर गुंडागर्दीपर अंकुशके तौरपर पर्याप्त होगा, परिपूर्ण नीति नहीं समझी जा सकती. यदि अपराधके लिए पुलिस है तो प्रचारके ये सव वेहूदे तरीके भी अपराध ही हैं. राजनीतिक मतभेद रखा जा सकता है और आजकी सरकारसे हमारे स्वयं तीव्र मतभेद हैं, लेकिन राष्ट्राधिपको अपमान और उपहासका पात्र वनाना किसी प्रकारके प्रशासन या अनुशासनके लिए सह्य नहीं हो सकता. हमें नागरिककी हैसियतसे यह पूछनेका हक है कि

क्यों इन प्रवृत्तियोंको यहां तक बढ़ने दिया गया है कि वे सार्वजनिक शांतिमें विघ्न बनें. निश्चय ईश्वरका प्रतिनिधि यहां कोई नहीं है, और राज्यके कानूनसे आगे कोई ऐसा धर्मका कानून नहीं है जो पाप-पुण्यके निर्णय और दंड़का फैसला किसीके हाथमें देता हो....पुरानी दकियानूसी बातों का, जिनकी जड़ें अब भी जन-मानसमें पड़ी हो सकती हैं, उखाड़कर ऊपर लाया जाना और आंच देकर उनको भड़काना उन स्वार्थियोंका काम है जो धर्मकी ओटमें शक्ति-भोग चाहते हैं. राज्यका कर्त्तव्य है कि उनके षड्यंत्रोंसे नागरिक जीवनकी रक्षा करे और समयपर उसे विपाक्त होने से बचाए...मतभेद रहते भी हमें गर्व है, दुनियाको गर्व है, कि भारतकोज यवर्धन जैसे निस्पृह, कल्पनाशील और शक्तिशाली पुरुषका लाभ मिला. विषम विडंबना होगी यदि कुछ मुट्ठीभर प्राचीन पोंगापंथियोंके हथकंडोंके कारण, जो इक्कीसवींमें नहीं अभी चौंदवीं ही सदीमें रहना चाहते हैं, उनके व्यक्तित्वको क्षति पहुंचे...वक्तव्यके अंतमें था कि वह यथाशीघ्र राष्ट्राधिपसे मुलाकात पानेका यत्न करेंगे और किसी हालतमें अतीतका मोह भारतके भविष्यकी उज्ज्वलताको कालिख न दे पाएगा और हमारी प्रगति कदापि धीमी न हो सकेगी.

भारतकी राजनीतिमें नाथ गणनीय हैं. यथार्थमें और संगठनमें उन्हें विश्वास है. उनके अनुसार मनुष्य मूलतः प्राण है और वहां अच्छा या बुरा नहीं है. अच्छे-बुरेकी प्रणालियोंको सुविधाके लिए समाज पीछे बनाता है. इसलिए आदर्शकी ओरसे चीजोंको लेना एक छलना है. व्यक्ति पर इमारत बांधना समष्टिको बिखराना है. उन्नतिका मन्त्र संगठन है और संगठित कतिपय बिखरे असंख्य पर भारी पड़ते हैं. यह प्रकृतिका नियम है और संस्कृतिके नामपर मनुष्य जो रचता है उसका मूल्य सर्वथा सापेक्ष और सामयिक है.

नायके सम्बन्ध फैले हैं और वह प्रबल शत्रु हो सकता है. सुनता हूं, उसकी शक्तिमें कुछ कम भाग पत्नीका नहीं है जो हंगेरियन महिला हैं....

आशा थी दिनमें मुझे याद किया जाएगा. पत्र मेरे पास था. यों स्थिति बदलनेसे आशा थी कि पत्र भेजा जाना इला भी अब इतना आवश्यक न मानती होंगी. फिर भी एक प्रकारका अपराधका भय भीतर था. मैं स्वयं चाहता था कि मिलकर सफाई दे दूं पर अपनी ओरसे भेंट मांगनेका उपाय न था....

दिनमें कुछ पत्र लिखे और आराम किया....शामको अखबारसे मालूम हुआ कि और भी जगह-जगह उपद्रव हुए हैं और अगले सबेरे नाथ दंपति यहां पहुंच रहे हैं.

अखबारोंमें अनुमान है कि स्वामी चिदानन्दसे पूछा गया है कि क्या उन्हें आनेकी सुविधा होगी. किन्तु स्वामीने संवाददाताको कहा कि सब कुछ राजधानीसे मालूम किया जाना चाहिए, और उन्हें किसी सूचनाका पात्र मानना उचित नहीं है. हां, उनकी निश्चित धारणा है कि धर्म जगतको धारण करता है, अधर्मकी प्रतिष्ठामें उसका विनाश है. धर्म-अधर्म क्या, यह प्रश्न इतना सूक्ष्म और गूढ़ है कि एक की या अधिककी मति पर उसको छोड़ा नहीं जा सकता. शास्त्र ही प्रमाणभूत हो सकते हैं जो कालाबाधित हैं. शेप उनका कार्य अनासक्ति-साधना है, सक्रिय राजकारणी तत्वोंसे उनका सम्बन्ध नहीं है. उनके कामकी भूमिका वैचारिक और सांस्कृतिक है. किंतु सरकारको घटनाओंसे संकेत लेना चाहिए. उनको हठात दबाने या अन्यथा दिखानेका प्रयत्न दूरदर्शिता न कहलाएगा...

देखता हूं और भी दिशाओंसे सुप्तप्राय तत्व अकस्मात जाग पड़े हैं. वे अब मुखर हैं और गरमाहट बढ़ रही है.

जय निश्चय ही व्यस्त होंगे. अचरज नहीं खिन्न भी हों....लेकिन मेरा सोच व्यर्थ निकला. कारण, अभी वहांसे आ रहा हूं. इतना ताज़ा मैंने उन्हें पहले नहीं पाया. मालूम होता है इस व्यक्तिका बनाव भिन्न है. संकटमें वह स्वस्थ है, अन्यथा चिन्तित. विस्मय यह है कि मैं जयको प्रस्तुत संकटकी चर्चा तक किसी तरह उतार कर न ला सका. बात शुरू वहांसे हुई, पर जाने किस तर्क-संगतिसे उठाकर वह उसे सिद्धान्त लोकमें

ले गए. वहां गई बात फिर यहां व्यक्तियों तक आ न सकी. मानो उसीके लिए मुझे याद भी किया गया.

पूछ उठे, "अहिंसा परमधर्म है, इसका तुम क्या आशय लोगे ?"

मैंने कहा कि धर्म बौद्धिक नहीं होता, अहिंसा वही है. उसमें यत्न है, निषेध है.

सुनकर पूछ उठे, "निषेध नहीं है, वह धार्मिक है ?" फिर स्वयं ही बोले, "नहीं, विलबर, तुम मनमें कुछ रोककर तो बात नहीं कर रहे ? शायद सोचते हो कि मुझे इस मौकेपर दृढ़ होना चाहिए. पर मौके को छोड़ो, मुझे छोड़ो. ये तो आई-गई बातें हैं. मौका चला जाएगा. मैं चला जाऊंगा. मैं क्या करता हूं, इसका रंच मूल्य नहीं है. क्या है जो होना चाहिए वही मुख्य है. तुम शायद कर्त्तव्य की सोचते हो, मैं धर्मकी सोचता हूं. कर्त्तव्य समयसे बंधा है, धर्म मुक्त है...अहिंसा क्या वह धर्म नहीं है जो निरपवाद है, स्थिति या व्यक्तिसे जिसमें फेर नहीं पड़ता ? परमका क्या यही आशय नहीं है ?"

मैं जय जैसे व्यक्तिको इस अवसरपर दूर किसी तत्ववादमें रमा देखना नहीं चाहता था. मनमें था कि राह बने तो इलाके पत्रकी बात भी कह दूंगा. अतः बातको तात्कालिक और व्यावहारिक तक सीमित चाहता था.

कहा, "अहिंसामें मानसिक तनाव है, जैसे व्यक्तिका एक भाग दूसरे को कुचलनेपर अड़ा हो. यह मुक्तभाव की स्थिति नहीं है. और इस समय—"

"ओहो, तुम जिद्दी हो, विलबर," हंसकर बोले, "और मैं दार्शनिक समझता था. तुमसे तो मैं ही अच्छा मुक्त हूं कि वर्तमानकी मुझे चिंता नहीं, अगर्चे निश्चितता की सुविधा मेरे भागकी न समझी जाती होगी. सच कहो, तुम्हें क्या जिद है...चिदानन्दका दमन चाहते हो ?"

बात ऐसी सीधी सिर आएगी, यह अनुमान न था.

कहा, "इस तरह तो मैंने नहीं सोचा है."

बोले, "सुनो राज कुछ है तो दमनका यंत्र है. अहिंसामें तुम कहते हो दमन है, निषेध है. उस अर्थमें तो राज्य अहिंसामें भी साधन हो सकता है !...मत समझो मैं तुमसे असहमत हूं. अपने विकासमें ही मनुष्यने राज्य-संस्थाका निर्माण किया है और विकासकी दिशा अहिंसा है....फिर भी राज्यका तंत्र और यन्त्र हिंसाका है, मुझसे ज्यादा इसको दूसरा कौन जानेगा ?....मुक्त अहिंसा है, हिंसामें ही है कि हम कुछ रोकते है, दबाते हैं. प्रेम खोलता है. वह दबता है तब हिंसाका कारण बनता है. प्राण मूल प्रेम है. उसे हर हाल अदम्य रखना, अहिंसा है. प्राणका घात ही असल घात है, और प्राण मूलतः प्रेम है. यानी देहके जीने-मरनेसे उसका संबन्ध नहीं है. मैं सौ बार मरूं या सैकड़ों-हजारों-लाखों-करोड़ों मरें, इस सबसे अहिंसाका कोई सम्बन्ध नहीं है. पर अपने भीतर के प्रेमको मैं मरने दूं तो मुझसे अपराधी कौन होगा ? कारण, प्रेम ही भगवान है, वही मूल चित् है. वह प्रेमका घात भगवद्घात् होगा. हिंसा वही है. प्रेमनिष्ठा, भगवन्निष्ठा अहिंसा है....इस बातको क्या तुम सच-मुच समझ नहीं सकते ?"

मैं समझ सका, नहीं कह सकता. पर स्वरमें कुछ था, वाणीमें एक उच्छ्वास, जो समझनेकी आवश्यकता न छोड़ता था. देख सका कि शब्द किसी अंतरंग पीड़ासे आलुप्त हैं.

मैंने कहना चाहा कि जनहित—

मानो घाव पर ही मेरी ऊंगली जा पड़ी ! कराहते से बोले, "नहीं, वह शब्द मैं तुमसे नहीं चाहता. चारों ओर मेरे सलाहकार हैं. क्या मैं और वे सब दिन-रात इसी शब्दका जाप नहीं जपते हैं ! वह तो जो होगा सो हो जाएगा. राज्यका यन्त्र क्षण तकके लिए गाफिल न बनेगा. मैं राज्यपर इसलिए नहीं हूं कि उसपर कोई आने दूं...वह खतरा तनिक न मानना. यह दोष जयवर्धनपर कोई नहीं ला सकता कि राज्यके वर्चस्वमें उसने क्षति आने दी !...पर तुम राजकीय नहीं हो, विलबर, इसीसे कहता हूं, जनहित रहने दो...ऊपर वहांसे देखो जहां सब हित

नीचे है. जहांसे काल तक नीचे है. उस अमृतकी भूमिकासे कुछ कौन जाने कुछ और दिखाई दे आए ! 'स्व'-ऽर्थ वहां नहीं रहता क्यों कि 'पर' ही नहीं रहता. अर्थ रहता है तो एक परमार्थ. अपनी रक्षा वहां है जहां मृत्यु है. जहां सब अमृत है वहां रक्षा का प्रश्न ही कहां रह जाता है....तुम विदेशी हो, विलवर, लेकिन फिर भी मेरी सुरक्षाकी बात तुम्हारे मनमें है...नहीं, बोलो मत, मैं जानता हूं कि स्वदेश-विदेश कितने भी बांट लो, आदमीके भीतरकी परस्पर सहानुभूति घिर नहीं सकती... हम लड़ते आए हैं और आगे भी लड़ेंगे...स्वदेशका या विदेशका कोई नाम हमें सहारा बन आएगा...लेकिन देखेंगे कि द्वेषके नीचे भी प्यार अपना काम कर ही रहा था...अपनेको पहचानते हैं और प्यारको अन-पहचाना रख उसे किनारा दिया चाहते हैं ! यों कहो अपनेको ही नहीं पहचानते ! इसीमें से सब टंटे-बखेड़े नित बनते रहते हैं. प्यारसे अलग अपनेको पहचाननेकी जिद न करो. हम बड़े-बड़े शब्द और आदर्श गढ़ते हैं, जैसे उन सबसे हमें अपना समर्थन मिल आता हो. पर वह वृथा होता आया है...दिन थे और शायद अब भी कहीं हों कि प्रेमकी पूर्तिमें प्रियको काटकर खा लेना ही हमें उसकी सुरक्षाका सबसे विश्वसनीय उपाय लगता था. द्वेष प्रेमका वैसा ही अबोध रूप है. पर दिन जा रहे हैं. बहुत से चले गए हैं, सदी अब इक्कीसवीं है और हम जान गए हैं कि बात असल क्या है. मरनेके डरमें से ही मारने का मोह बनता है. अपने असंयममें से दूसरेका दमन आता है...अखबार तुमने देखे हैं. कल नाथ आएगा, कहेगा, नूतनके स्वागतके मार्गमें जरा-जीर्णके ठूंठको क्यों रहने दिया जा रहा है ? क्यों न मार्गको प्रशस्त किया जाए और बाधाओंको उखाड़ फेंका जाए ?...जैसे हमारे शब्दोंसे ही ईश्वरकी भाषा चलती हो....क्या समझते हो—अतीतकी तरफ मुझे पीठ और भावीकी तरफ आंख रखनी चाहिए ? पर भावीमें हम अपनी अतृप्तियोंको सहेजते, तृष्णाओंको सजाते हैं. हर क्षण मर-मरकर मैं अमृतमें से वस्तुओंको क्यों न देखूं जहां गत-अनागतमें विरोध नहीं रहता, भेद तक नहीं रह जाता...

में कभी तो तुम्हारी उन्नति तक को नहीं समझ पाता हूं...माल-असबाव पहाड़की चोटीके नापसे उन्नति नपेगी न ? मुझे उन ढूंहोंमें कभी सार दीखना इतना बंद हो जाता है कि मैं नास्तिक वन रहा होऊं. पर नहीं, कोशिश रखूंगा कि सारसे हीन कुछ मुझे न रहे. लगता है, कुछ अकारण और अनुपयोगी नहीं है, और यद्यपि नाशसे कुछ न बचेगा फिर भी नाशकी इच्छा गलत है...उपद्रव नाशकी कामनामें से बनते हैं. उसी वासनासे उनका सामना करना क्या ठीक होगा ?"

देख सका, व्यक्ति-धर्म और शासक-धर्ममें उनके भीतर द्वंद्व चला है. यह भी देख सका कि शासकसे व्यक्ति प्रबल है. इस व्यक्तिसे शासनके नामपर वह न कराया जा सकेगा जो अन्यथा वह न करना चाहे.

मैंने कहा, "शासनपर होकर आप स्वयं उतने नहीं हैं जितने प्रतिनिधि हैं. उत्पातों उपद्रवोंसे धन-जनकी हानिकी संभावना है. रक्षाका दायित्व कहीं है तो शासन पर है. दायित्वसे आप बच पाएंगे ?"

स्मित भावसे बोले, "वही तो है. उपद्रव नहीं होने चाहिएं. तुम कहते हो दमन ही उपाय है. मैं कहता तो बात भी थी, पर तुम कहते हो ! लेकिन वह उपाय नहीं है."

पूछा, "फिर ?"

बोले, "वही तो सवाल तुमसे किया था कि अहिंसा परम धर्म है, तो क्या आशय यही नहीं कि सब स्थितियोंका उपाय उसके पास है ? तुम शायद न मानोगे."

मैंने कहा, "नहीं."

"पर दमन क्या है, जिसमें उपाय देखते हो ? वह अधीरता नहीं है ? भीरुता नहीं है ? क्या वह वांछित (आदर्श) का वह राग नहीं है जो प्रस्तुत (यथार्थ) से डिग और डर गया है ? क्या वह दूसरेके भयसे ही अपना बचाव नहीं है ? तुमसे मैं कहता हूं कि उसके अंदर जाकर बताओ, हिंसा क्या वह प्रतिक्रिया ही नहीं है ?"

मैंने कहा, "हिंसा प्राथमिक है, आदिम, प्राणिक. अहिंसा विचार-

में से बनी है. वह प्रकृत नहीं है, कुछ उसमें आरोपित है. वह सिद्धांत है, और अनिवार्यता नहीं है."

जयने मानों ध्यानसे सुना. सोचतेसे बोले, "तो मूलमें हम पशु हैं ?"

जैसे यह प्रश्न हो. कहकर वह मुझे देखते रहे. मुझे कहना हुआ, "क्या विकासका यही क्रम नहीं है ?"

"हो. लेकिन फल बीजसे भिन्न हो सकता है ? कभी मानव देवता होगा तो इस विश्वासके आधारपर कि देवत्वमें से उसका उद्गम है."

कहकर रुके. मैं चकित, उनकी ओर देखता रह गया. कुछ ठहरकर उन्होंने कहा :

"पशु आदि नहीं है, विकासमें बहुत बाद की कड़ी है. गुणका, सत् और चित्का आविर्भाव वहांसे नहीं है. अणु टूट गया है और प्रतीति प्राप्त है कि गुण उससे भी गहरे गर्भमें है. क्या यह अब बेहद बासी विश्वास नहीं लगता कि मनुष्य प्रकृतमें पशु है ? क्या हम नहीं जान रहे हैं कि वह दैवी है और स्वकी बाधा तोड़ निखिलके साथ अखंड हो सके तो सच्चिदानंद रूप है."

शब्द मुझे बड़े थे, पर कहनेवाले से आकर उनका भाव मुझे सर्वथा अगोचर न रहा. इसीसे वे मेरे साथ रह भी गए हैं. अन्यथा किसी अर्थ-संगतिमें मिलाकर उन्हें स्मृतिमें बनाए रखना मेरे लिए कठिन था.

शब्द आगे कहां जा सकते थे, इससे मैंने कहा, "इलाके प्रति आप क्या विचारते हैं ? उनका मेरे पास एक पत्र है."

स्तब्ध रह गए, जैसे समझे न हों. बोले, "पत्र !"

"चिदानंदजीके पास पहुंचानेको मुझे दिया गया था."

उनकी भृकुटियोंमें वक्र आया, कहा, "और मुझे कहनेके लिए भी कहा गया था ?"

सफ़ाई-सी देता मैं बोला, "मैंने सोचा, आपसे भी पूछ लूंगा."

"क्या पूछ लीजिएगा ?" स्पष्ट डपटके साथ वह बोले, "मिला था

तो क्यों फ़ौरन नहीं गया ?...नहीं ले जाना था तो क्यों लिया गया ? ...आपको कैसे यह समझनेकी हिम्मत हुई कि इला स्वाधीन नहीं हैं और मुझे उत्सुकताका अधिकार है ?...क्या यह अपराध नहीं है ? और आप इतनी देर तक इस बातको अपने पास रोके क्यों रहे !..."

मैं क्षमाप्रार्थी हुआ.

पर उन्होंने कहा, "आप विदेशी हैं. इससे कारण है कि मैं आपको निकट आने दूं. आपमें तत्व जिज्ञासा हैं, इससे और भी निकट लूं. हम सबका जीवन-वृत्त सामग्री है कि ज्ञानकी शोधमें काम आए. इससे मैंने चाहा और कहा कि सब खुलकर तत्वशोधकको मिलने दो. लेकिन देखता हू, तुम संसारीकी तरह चलते हो जिसे अभिसंधिमें रस है. सोचता था तुम चाहते हो सत्यकी धूप सब अंधेरे कोनोंमें पहुंचे. न समझता था कि अंधेरे कोनोंमें ही तुम नाक डालना चाह सकते हो...शायद मैं सफाई मांगनेका हकदार हूं कि देवी इलाकी आज्ञाका क्यों पालन नहीं हुआ, और किस हिम्मतपर तुमने मुझसे कहना आवश्यक समझा ? यह क्या चुगली और चोरी नहीं हैं ? क्या तुम्हारा अतंरंग इसके लिए तुम्हें भर्त्सना नहीं देता है ? जो कहने योग्य नहीं होगा, नहीं कहेंगी; कहनेको होगा, स्वयं कहेंगी. बीचमें अपने ऊपर बोझ माननेवाले तुम क्यों हो गए ? क्या यह धृष्टता क्षम्य हो सकती है ?..."

स्थितिका यह पहलू मेरी कल्पनामें न था. फिर भी सामने आने पर मैं उसकी गंभीरता देख सका. उससे जयके प्रति मेरा आदर बढ़ा. देख सका, यह व्यक्ति सचाईकी किस ऊंचाई पर है. इसलिए और भी मेरे लिए असंभव हुआ कि मैं अपना छुटकारा चाहूं. मालूम हुआ, अब तो और निकट जाना होगा.

मैंने कहा, "मुझे बहुत ही दुख है. अनुमान न था कि यह काम मेरा इतना गलत निकलेगा. मैं उसे ठीक समझता था, पर आपकी भावनाओंके प्रकाशमें मुझे गलती नजर आ रही है और मैं बेहद खिन्न

ओर क्षमाप्रार्थी हूं...पर मुझे कहना होगा कि इस रूपमें वस्तुओंको देखनेवाला आपसे शायद दूसरा न हो."

उन्होंने मुझे वीचमें ही टोका. वोले, "वह मैं नहीं जानता, लेकिन सोचकर देखो कि क्या इसमें पाप नहीं है ? सचाईसे यह कितना गिरा है. वहुत कुछ अनर्थ उसमें पहलेसे स्वीकृत मान लिया जाता है. जैसे कि किसीकी आत्माका मैं पहरेदार या मालिक हूं ! तिसपर यह कि मुझे उन वातोंमें रस है...नहीं, सारी चीज यह पामर है, अधम है...और मेरे लिए आगे संवंध असंभव होता अगर तुम नए न होते, पछताए न दीखते ...लेकिन अपरावी अधिक इलाके हो और क्षमाकी है तो वहीं से जरूरत है...क्या आप चाहेंगे कि मैं उन्हें यहां बुलाऊं ? वह चाहें तो क्षमा यहीं पा जाइएगा."

वह अनुल्लंघ्य दीखे. मुझे भी प्रसन्नता थी कि सव साफ़ हो जाएगा और उलझन सदाको कट रहेगी.

कहा, "प्रसन्नता होगी यदि दोपमार्जनका मुझे अभी अवसर मिल जाएगा. मानता हूं इलादेवीके प्रति मुझसे घोर अपराध हुआ है."

कुछ देर वाद इला वहां आई और जयने वताया कि इला, जो तुमने पत्र दिया था उस संवंधमें यह मुझसे कहने आए हैं, यह भी कि वह अभी पहुंचाया नहीं गया है. तुम्हारे पीछे जाने क्या मैं इन्हें नहीं कह गया हूं. वह काम तुम्हारा था—लेकिन अव यह तुमसे क्षमा मांगना चाहते हैं.

इला प्रसन्न हुई कि पत्र भेजा नहीं गया. पर किसी क्षमा प्रार्थना की संगतिको विलकुल नहीं समझ सकीं.

वोलीं, "यह क्या वात है, मैं समझ नहीं पा रही हूं. क्षमा किस वातकी यह चाहते हैं ?"

मैंने कहा, "—कि मैंने पत्रकी वात इनसे कहना जरूरी समझा."

वोलीं, "तो जरूरी तो वह था ही. क्यों जी, नहीं था ?"

जय मुसकराए. वोले, "नहीं. वह गलत था. पर तुम उस वातको

क्यों समझोगी ?"

बोली, "कैसे समझूंगी ! एक तो यह गलती कि मैंने नहीं कहा तिसपर गलती जब दूर हुई कि इन्होंने कहा तो इसीको गलत कहते हो और इन्हें भी गलती माननेको मजबूर करते हो... (मेरी ओर) नहीं, मैं आपसे कहती हूं कि आपने मुझे बचा लिया और मैं आपकी आभारी हूं.

जय मुसकराते रहे और मैं कुछ न समझ सका. अंतमें जयने कहा, "तुम सस्ते छूटते हो, बिलवर, लेकिन आशा है अपराधकी गुरुता तुम भूलोगे नहीं."

इलाने बीचमें कहा, "यह क्या कह रहे हो ?"

जयने मानो उधर ध्यान नही दिया. मुद्रा उनकी सहसा गंभीर हो आई.

बोले, "आगे मुझे यह सह्य न होगा, तुमसे या किसीसे—पत्र कहां है ?"

इला जयकी इस अमोघताको देखती एक ओर शून्यप्राय खड़ी रह गई थी.

"—अभी ला सकते हो ?"

तभी मुझे पत्र लाना पड़ा, लाकर जयके हाथमें दिया. उन्होंने दोनों हाथोंमें ऐसे लिया जैसे उपहार हो और इलाके सामने कर दिया. इलाने वह चुपचाप उठा लिया. तब मेरी ओर मुड़कर जयने कहा, "मुझे दुख है, लेकिन इनकी आज्ञाका पालन अगर आगे तत्क्षण संभव न हो तो उसको पास लेना भी फिर अपराध है. आशा है आप इसका ध्यान रखेंगे."

इलाने कहा, "जय !"

पर जयने सुनकर अनसुना किया.

उस समय सहसा मैंने उस कर्मचारीको देखा, दूर कोनेमें वह पहलेसे मौजूद था. बढ़कर अब वह मेरे पास आ गया. स्पष्ट था, मुझे उसके आश्रयमें चल देना है. नमस्कार किया और मैं मुड़कर चल दिया. तनिक

सिर झुकाकर जयने मेरा अभिवादन स्वीकार किया. पर इला चित्र लिखी-सी थी.

यह अपमान ही था. पर कहीं गहरेमें मैं मन-ही-मन बहुत प्रसन्नता अनुभव कर रहा था. कारण, इस झांकीमें मैंने कुछ वह पाया था जो अत्यन्त विरल था.

१४ मार्च

सवेरेके अखबारोंसे अभी छुट्टी न पा सका था. नाथ दंपति राजधानी पहुंच चुके थे और पत्रोंमें तरह-तरहकी चर्चा थी...इस समय वह जयवर्धनके पास होंगे. पत्रोंका अनुमान है कि उपद्रव उपलक्ष है, उनकी चर्चा राजनैतिक होगी और मुलाक़ातसे बड़े परिणामोंकी आशा की जाती है...

पर मेरे अचरजका पार न रहा. समाचारमें यह पढ़ ही रहा था कि नाथ दंपतिका मेरे यहां आगमन हुआ. न समय, न सूचना. फिर मैं सब ओरसे असंगत. इससे आदमी ने कार्ड दिया और कहा कि वे लोग बाहर कमरेमें हैं, तो विस्मयके साथ मैं असमंजसमें हो आया. मुझे अपने से बाहर आने और नए लोगोंसे मिलनेमें उलझन होती है, फिर जिनसे कि जानूं नहीं मुझे क्या और किस विषयपर बात करनी है. झट द्वारपर जाकर मैं उन्हें साथ अन्दर लाया और जिज्ञासु हुआ कि किस निमित्त मैं इतनी कृपाका पात्र हो सका हूं.

नाथ ऊंचे पूरे प्रभावशाली मुद्राके व्यक्ति थे. प्रबल और वजनदार. पत्नी इकहरी और द्रुत, बाल सुनहरे और बिखरे. आंखें नीली, हंसती. उनके व्यक्तित्वमें कुछ लगा जो एक साथ खींचता और हटाता था.

स्थितिको लिज़ा ने हाथमें लिया. कहा, "हम अचानक हैं शायद, और विघ्न. पर जय अप्रत्याशित व्यक्ति हैं. हमें जल्दी छुट्टी मिल गई,

क्यों कि खाने पर फिर साथ होगा. उन्होंने आपका नाम लिया और हम आ-धमके. आप यहां कब से—याने, कब तक हैं ?"

बात वेगसे आई. मैंने गुनगुनाया कि कृपा, आपने दर्शन दिए. मेरा सब अनिश्चित है. पर मेरे याद किये जानेका कोई कारण,कोई—?

"जी कारणकी आवश्यकता नहीं. वह आपसे—आप उनका विश्वास जीत सके हैं. यह छोटी बात न मानिए.हमें तो वह दूर लगे. और पहली बार है कि खानेका निमन्त्रण मैंने मांगकर लिया है."

कहकर वह हंसी, फिर बोली, "वह ठंडे हैं और मृदु, इतने कि मानों वहां निषेध हो. इसीसे इच्छा हुई कि जानें कि वह भाग्यवान कौन है जो उनका विश्वास जीत पाता है."

मैंने कहा, "आपने कैसे जाना कि मैं विश्वास पा सका हूं ?"

"कैसे ?" लिज़ाने कहा, "सिर्फ नाम आनेके ढंगसे, स्वरसे, लहजेसे. लेकिन हम हर्ज न बनेंगे. मैं बस देखना चाहती थी. वह हुआ, अब आज्ञा दीजिए और क्षमा भी."

नाथ एक ओर खड़े थे. इस भावसे कि यही उचित है. मैंने विशेष परिचय देने या पानेकी इच्छा न की. कहा, "आए हैं तब आप बैठिएगा भी. मैं अभी आप ही के बारेमें पढ़ रहा था. बाहरका हूं, लेकिन मुझे आपके भारतमें बहुत दिलचस्पी है—"

लिज़ा बोली, "मैं भारतीय हूं, पर केवल वैध. यों बाल सुनहरी हैं और नहीं जानती। मैं क्या करूं"

कहीं कुछ अधिक हो रहा था. नाथकी ओर होकर और हाथ बढ़ाकर मैंने कहा, "आशा है आपकी बातचीत संतोषप्रद हुई और सलवटें ठीक हो गईं."

नाथ उत्साहित नहीं दीखे और अपनी जगहसे ही एक शब्दमें उत्तर दिया. "जी."

लिज़ाने कहा, "क्या हम चलें ?" और बढ़कर उन्होंने पतिको लगभग बांहसे आ थामा.

अब पतिने कहा, "आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई. आकस्मिक होनेके लिए क्षमा कीजिएगा."

और वे दोनों चले गए और मैं विशेष न समझा.

कुछ अजीब-सी मुलाकात थी. चाहा, हटाऊं और आजके समाचारों पर ध्यान दूं. पर सहसा वह मनसे टलती न थी, उसका तर्क और तुक मनमें न बैठता था. एक नया परिचय करने यों ही तो बढ़ा नहीं जाता. पर इन लोगोंके आनेमें विशेष कारण हो सकता है यह भी अनुमानसे बाहर था. हो भी तो उसकी पूर्तिके लिए वे ठहरे नहीं, आए और चले गए और मैं विस्मय और असमंजसमें रह आया. कुछ देर बाद उधरसे ध्यान हटा और मैंने अपने काममें लगना चाहा. लेकिन यह बात कि जय-वर्धनकी ओरसे मेरा नाम आया मनसे हटती न थी. कलकी घटना मुझमें ताजा थी. जानता था कि मुझसे अमर्यादित व्यवहार हुआ है, फिर भी यह सूचना कि जय प्रसन्न और प्रभावित हैं मुझे चकित करती थी.

तभी खबर आई कि क्या मैं अभी नहीं तो घंटेके भीतर जयसे मिलनेकी सुविधा निकाल सकूंगा ?

दंपतिको गए मुश्किल से आधा घंटा गया होगा. उसपर यह बुला-हट मुझे अजब लगी.

पहुंचनेपर जयने कहा, "मैंने अभी उन लोगोंसे बातें नहीं की हैं. चाहता था तुम देख लो और तुम्हारी राय पा लूं. तब आगे बातें करूंगा. क्या कहते हो ?"

बहुत ही थोड़ी देरके लिए जिन्हें देखा है उनके बारेमें क्या कहता हूं ? प्रश्न विचित्र हो, पर था.

कहा, "मैं सिर्फ उन्हें देख ही सका हूं. कह क्या सकता हूं ?"

"इतने ही पर कह सको ठीक वही चाहिए, मुझे फर्स्ट इम्प्रेशनका सुभीता कम है. राज्य एक रिकार्ड है—नाथ तो हैं, पर पत्नी क्या हैं ?"

"आप पहली बार मिले हैं ?"

"नहीं...पर देशोंकी क्या कुछ अपनी विशिष्ट प्रकृति भी होतीहै ? रक्त भी विशिष्ट ?"

मैं प्रश्नका विशेष आशय नहीं समझ पाया.

बोले, "पत्नी हंगरीकी हैं. फिर कलाकारका रक्त, शायद उस कारण ही हो कि वह—अनिवार्य हैं. नाथ अकेलेसे मिलना नहीं हो सका—क्या समझते हो ?"

"आपको आशंका है ?"

"आशंका !"

"आप सोचते हों कि बात ठंडी न रह सकेगी, न उबड़े बिना रहेगी."

"तो ?"

मैं उनके इस एक-एक शब्दके वाक्यसे स्वयं अस्थिर हो रहा था. हठात् हंसकर कहा, "आप क्या चाहते हैं ?"

मुसकराये, बोले, "चाहता हूं तुम कभी हार्दिक और असावधान भी हो सको. ये लोग उग्र-पंथी हैं. नाथ तो जो हैं दीखते हैं. उनकी पत्नीके लहूमें आवेग अधिक हो तो गलत नहीं है. अब तुम्हारी राय चाहता हूं—क्या उग्रताको अवकाश ही मिलना चाहिए ?"

मैंने कहा, "अवकाश न मिले तो क्या विस्फोटका डर हो आएगा?"

"डर मुझे नहीं. विस्फोटका भी नहीं. पर क्या स्वयं उग्रका हित इसमें है कि उग्रताको अवकाश मिलता जाय ? दबना दबानेवालेको उत्तेजना देना नहीं है ?"

"आप क्या सोचते हैं ?"

"हो-हल्ला मुझे पसंद नहीं. हो तो वह आप चुक रहेगा. ये लोग चाहते हैं कड़ी कार्यवाही की जाय. जरूरतपर फौजसे काम लिया जाय. मुझे फौजका होना तक अखरता है. छुट-पुट इन उत्पातोंको फौजी प्रदर्शनसे और महत्त्व मिलता है. कहीं ऐसे हो-हल्लेके बीच में अकेला और निहत्था जा पहुंचूं तो संदेह नहीं यह ज्यादा सही होगा, कारगर भी. उत्पात खिर-कर समाप्त हो जाता है, घुटी गरमी निकल जाती है. सिर्फ इस कारण

कि मेरे विरोधमें हैं, उन दंगोंको ज्यादा गिनना क्या सही होगा ?"

"नाथ दम्पतिका सवाल—"मैंने मानों याद दिलाते हुए कहा.

बोले, "छोड़ो. रूढ़-दलके साथ अपने उग्रपंथकी शक्तिकी परीक्षाका उनके लिए यह अवसर हो सकता है, तिसपर राज्यका उन्हें समर्थन मिल जाय तो इससे बढ़कर उनके लिए और क्या होगा ?...तुमसे जानना मैं यह चाहता हूं कि एलिजावैथकी आवेगशीलतामें क्या तुम्हारी रायमें कुछ हार्दिक है, आदर्शात्मक है ?"

ऐसे प्रश्नकी कल्पना न थी. इससे मैं उनकी ओर देखता रह गया, तत्काल कुछ कह न सका.

बोले, "बात यह है, स्त्रीके संबंधमें मुझसे न्याय ही होगा इसका विश्वास मुझे नहीं है. न्यायसे अधिक भी अन्याय ही है. तुमने कई शादियां की हैं और तुम इस विषयमें सहज हो, इससे पूछता हूं...मेरे मनमें एलिजावैथके लिए भक्तिका भाव नहीं है, इससे सहायताका पात्र हूं."

"आपको क्या लगता है ?"

"अभक्ति होती है, जो असत्य है. इसीसे दुविधामें पड़ा हूं."

मैंने बात काटनेको कहा, "अपनी दुविधाका दोष ही आप उनपर डाल रहे हों तो ?"

"यही तो संशय है. क्या तुम सहायता न करोगे ? वह स्व-लीन हैं और स्वरत—क्या तुम्हें भी ऐसा लगा ?"

मैंने कहा, "उनमें दृढ़ता है, हेतुकी एकाग्रता. पर स्वलीन—"

"हममें कौन नहीं है, यही न ?"

मैंने सुझाया, "आप बात केवल डा० नाथसे करें तो क्या अशक्य है, या हर्ज है ?"

"नहीं, पर वह बात अंतिम और निश्चित न होगी. कारण कुंजी वहां नहीं है."

"तो—आप क्या सोचते हैं ?"

"अँह, मुझे छोड़ो. सिर्फ बताओ कि मेरी राय कहीं अहंकृत तो नहीं

है. तुम्हारी धारणा एलिजावैथके संवंधमें कुछ वैसी ही हुई तो मेरी दुविधा कट जायगी, अन्यथा—मैं कोमल वनूंगा जो मुझे पसंद नहीं है."

जयवर्धनकी स्थितिके पुरुषको इस तरह बात करते देख विस्मय हुआ. वह कि जिसको सैकड़ों-हजारों आदमियोंसे रोज वास्ता पड़ता है !

कहा, "शायद मेरी बहुत भिन्न सम्मति नहीं है."

जैसे हठात् उन्हें आश्वासन प्राप्त हुआ. बोले, "तो ?"

मैंने कहा, "वह महिला खतरनाक हो सकती है."

सुनकर जैसे जयवर्धनकी मुद्रामें भंग आया. मानो यह उन्हें रुचिकर न हुआ.

मैं और खुला, कहा, "शी इज़ टू वाइटल टू वी गुड. उनकी आंखोंमें स्पर्द्धा है और आकांक्षा. मानका भाव जैसे उनमें हरदमच हका रहता हो."

जयवर्धनकी मुद्रा अव कसी दीखी और गंभीर.

मैं चुप हो गया, वह भी चुप रहे. जैसे कहीं दूर हों और लुप्त.

अंतमें मैंने कहा, "क्या मैंने अनुचित कहा ?"

वोले, "आप जज वनते हैं. पर निश्चय है आपको कि निर्णयको अपने हाथमें लेना सीमाका उल्लंघन नहीं है ?"

मैं पीछे खिंचा, कहा, "क्या मुझे अपने शब्दोंमें स्पष्ट नहीं होना चाहिए और अपने प्रति ईमानदार ? उदार यदि कम हूं तो यह मेरे स्वभावका दोष हो सकता है. लेकिन क्या उस कारण ईमानदार होनेसे वचूं ? और आपने मुझे साहस दिया है."

चेहरेपर तनाव कम हो आया, वोले, "हरेक वह है जो होनेको लाचार है. इससे सहानुभूति सदा संगत है. सव ससीम हैं, अतः सदोष हैं. इसीसे पुरुषको सदैव पुरुषार्थका अवकाश है. इसीमें उसका उपयोग है. उपयोगसे अतीत वर्णनसे भी अतीत है. उपयोग की ओरसे देखो तो दोष ही गुण है, कर्म वहींसे उपजता है. एलिजावैथ जो है उसी कारण सवेग है. उसके व्यक्तित्वकी तेजस्वितामें त्रुटि ही शायद कारण हो...खतरनाक तुमने कहा था. क्या संकट देखते हो ?"

यह मैं क्या देखता हूं ? क्षणे रुष्ट, क्षणे तुष्ट ! इस व्यक्तिका अनुमान संभव नहीं. जाने क्या तर्क उसे थामता है. कहा, "अव अनिष्ट न कहूंगा."

मेरे शब्दोंपर उन्होंने ध्यान नहीं खोया, वोले, "किस खतरेकी तुम कल्पना करते हो ?"

मैंने कहा, "किसी विशेपकी नहीं. वह तो यों ही मुझसे निकल गया था."

"राजनीतिक खतरा !" उन्होंने कहा और ऐसे जैसे अपनेसे कह रहे हों, "वह हो तो भला ही है. मुझे वहाना मिलेगा कि छुट्टी पाऊं. कोई दल या व्यक्ति उभरकर ऊपर आ सके तो इससे शुभ मेरे लिए और क्या है—या तुम और संकटकी वात कहते हो ?"

मैंने आश्वासन दिया कि नहीं और कुछ नहीं. पर कह नहीं सकता कि उस नारीको देखनेके वाद मैं आश्वस्त था. फिर भी कोई धारणा भीतर स्पष्ट न थी. उसके व्यक्तित्वसे फूटकर जो आवेग आता दीखता था, वही चित्तकी अस्थिरताका कारण था. वह समाहित न थी और जान पड़ता था किसी निर्वैयक्तिक शक्तिके हाथमें होकर वह कभी अदम्य और प्रवल हो सकती है.

जयने कहा, "एलिजावैथका आजके भारतके जीवनमें क्या स्थान है यहांके लोग अनुभव करते हैं. तुम नये हो इससे किसी पूर्वभावसे ग्रस्त नहीं हो. इसीलिए तुमसे पूछा. इसे अन्यथा न मानना...मैं कृतज्ञ हूं."

कहकर उन्होंने हाथ वढ़ाया और मेरे हाथको झकझोर दिया. समझ लिया मेरी छुट्टी हुई. तो भी उसे आकस्मिक न रहने देने के लिए मैंने कहा, "क्या सचमुच आपको मुझसे कुछ सहायता मिली है ?"

वोले, "मैं अपने संवंधमें कभी शंकित हो आता हूं. पूछने-ताछनेको ईश्वर पास रहता नहीं, अन्तरंग स्वयं संदिग्ध हो आता है. तव ईश्वरके भेजे दूत काम देते हैं. तुम वही हो और निश्चय वड़े सहायक हुए हो."

मैं चलने को हुआ और वह मेरे साथ दरवाजे तक आए. वहां उन्होंने

धीमेसे कहा, "नाथ लोग शायद आपका और भी समय लेंगे. और पीछे में भी समय मांग लूंगा."

मैं लगभग दरवाजेके वाहर ही आ गया था जव ये शव्द आए. उनका अर्थ मुझे स्पष्ट न था, पर मैं वढ़ता ही चला आया...

२० मार्च

तेजीसे चक्र घूमा है. पहले विरोध फिर समर्थनके प्रदर्शनोंकी धूम मची. जगह-जगह दोनों दलोंमें मुठभेड़ हुई, जिनम पुलिस जव तक न आ गई अनिवार्य समर्थक दल प्रवल रहा. पुलिसने हस्तक्षेप किया तव हानि समर्थक दलकी विशेप रही...नाथ (दोनों) यहीं हैं और उन्होंने कई मुलाकातें ली हैं. एक मुलाकात दो घण्टे तक चली...कल नाथका वक्तव्य निकाला और सहसा समर्थनकी ओरसे होनेवाले सव प्रदर्शन रुक गए. पर विरोध मन्द नहीं है. लोक-मत जो विरोधियोंके विरुद्ध हो रहा था, अव फिर विचलित और क्षुव्ध है.

मैंने एक मुलाकात पाई. उससे विशेष न मिल सका. कितना भी चाहा, जय को तात्कालिक संकटकी वात तक मैं न ला सका. उनकी ओर से वात राज्यके विघटनकी आवश्यकताके आस-पास घूमती रही. उनका कहना था, राज्यको कभी अनावश्यक होना है. तो उसके लिए आजसे ही उत्तरोत्तर निष्क्रिय होनेकी स्थिति और सुविधा पैदा करनी होगी. हर जगह दखल देने जा पहुंचनेके लोभमें राज्यको कभी न पड़ना चाहिए. राज्यकी जिम्मेदारी उससे पहिले लगभग नहीं है जव तक जान और मालपर स्पष्ट संकट न हो आए. राज्यके लिए तव भी कुछ कर्त्तव्य है तो समाजकी ओरसे; यानि समाजमें सीधे यह कुशलता और क्षमता आनी चाहिए कि असामाजिक और हिंसक तत्व पहले तो उपजे नहीं, और हों भी तो सक्रिय और उग्र न हो सकें. राजकी पुलिसके भरोसे ही यदि

नागरिक-जन सुरक्षा अनुभव करेगा तो यह स्थिति फिर हमें वर्बर दशा तक ले जाएगी. डरसे जो होता है वह संयम नहीं है. संस्कृति संयमका फल है. दमन हिंस्र भाव को निमंत्रण है."

(दोपहर)...यह क्या ! क्या नाथ जयके तर्कके फेरमें आगए ? अवसर सुनहरी था कि नाथका दल राष्ट्रका समर्थन पाता और प्रवल पड़ता. फिर जो नाथकी ओरसे दलके सक्रिय कार्यक्रमको स्थगित किया गया, सो क्या है ?...

(शाम)...नाथ दंपति अभी मेरे यहांसे गये हैं. तव रहस्य खुला. वल्कि, कहना चाहिए, गहरा हुआ.

सपर समाप्तकर हम लानमें वैठे थे. मैंने पूछा कि अपने प्रति आपका हार्दिक भाव पाकर क्या मैं जान सकता हूं कि आपने अपने आन्दोलनको वापस खींचकर जयवर्धनको रूढ़-पंथियोंके हाथों खुला शिकार वननेके लिए क्यों छोड़ दिया ?

नाथने कहा, "शायद जयकी ऐसी ही इच्छा थी."

"क्या आपकी भी ऐसी ही इच्छा थी ?" मैंने पूछा.

नाथने उत्तरमें अपनी श्रीमतीकी ओर देखकर कहा, "प्रिय, तुम कहो मेरी क्या इच्छा थी ?"

श्रीमती क्षण भर सामने देखती रहीं, सिगरेट मुंहमें रही, वोली नहीं. उकताकर निकट था कि नाथ कुछ कहें, कि तभी श्रीमती मानो निवारण करती हों इस भावसे वोलीं, "किन्तु क्या हम उनका असमंजस वढ़ाते ?" कहते-कहते मानो अनुभव हुआ कि उन्हें और कहना होगा, इससे कहा, "पक्षकी ओरसे प्रदर्शन होते ही जाएं तो किसका यह अनुमान न होगा कि स्वयं राजका और राजपतिका उसमें हाथ है जव कि सचाई यह विल्कुल न थी. स्थिति उनके ही लिए नहीं हमारे लिए भी विषम होती यदि भ्रम फैलता कि हमारा पक्ष स्वयं राजका पृष्ठ-वल लेकर आन्दोलन चला रहा है. राज्यके प्रति हम अपने विरोधको मंद नहीं करना चाहते. अगर

रूढ़पंथी विद्रोहका दमन होना है, तो राज्य क्यों न स्वयं आगे आकर वह जिम्मेदारी उठाए, हम क्यों उसके बोझको हल्का करें ?...साथ ही व्यक्तिगत रूपसे जयवर्धन जैसे पुरुष को असमंजसमें डालना हमारे लिए हलकी बात होती...लेकिन, प्रिय, क्या तुम भी इससे सहमत न थे जब तुमने वक्तव्य देना स्वीकार किया ?"

"अवश्य, अवश्य !" डा० नाथ ने कहा, "पर रूढ़पक्ष अपनी-सी करने की छुट्टी पा गया है और निश्चय हम इस अवसरपर अपने दलकी शक्ति बढ़ा सकते थे."

"तुम अजेय हो, प्रिय" और श्रीमती मेरी ओर मुड़कर बोलीं, "मिस्टर हूस्टन आपका क्या विचार है ?"

"आपसे मतभेदके लिए मुझे साहस चाहिए, जो, मैं प्रसन्न हूं, मुझमें नहीं है."

"आप सब पुरुष एक से होते हैं" कटाक्षसे उन्होंने कहा, "खुशामदसे जीतते हैं."

मैंने कहा, "आपका पक्ष विरोधका है, फिर श्री वर्धनको असमंजससे बचानेका दायित्व आपपर किस तरह आता है ?"

नाथने कहा, "मैंने भी करीब इन्हीं शब्दोंमें यही बात कही थी. लेकिन..."

श्रीमती बोली, "लेकिन, प्रिय क्या तुमने नहीं स्वीकार किया था कि दलसे देश बड़ा है और—कि सौजन्यका स्थान राजनीतिसे ऊपर है ? और क्या श्री वर्धन हमारे साथ बराबर मधुर और उदार नहीं रहे, उनके समक्ष क्या हम सौजन्यमें हीन और हल्का पड़ना सह सकते थे ?"

"तुम ठीक कहती हो," नाथने कहा. "मैं हलका नहीं उतर सकता था और कुल मिलाकर शायद यह उचित ही हुआ."

मैंने पूछा, "जयवर्धनका परामर्श क्या था और अब उनका क्या विचार है ?"

नाथने कहा, "मिला मैं उनसे कई बार हूं, लेकिन इतना असंगत

मैंने उन्हें पहिले नहीं पाया. उन्होंने सिद्धांतको लिया, जब कि बात तात्कालिक थी. हमने सुझाया कि अनिष्ट सिर उठाए तो राज्यका पहला कर्त्तव्य है कि वह उस सिरको सीधा कर दे. मैंने पूछा कि क्यों इसमें देर और चूक की जा रही है ? जयने कौशलसे कहा कि आप लोगोंके बलसे वंचित होनेके कारण क्या संभव यह नहीं है कि राज्य अपनेको निर्बल अनुभव करता हो ? मैंने कहा कि हमारा पूरा बल इस विषयमें राज्यके साथ है. तो मुसकराकर जयने कहा कि फिर उनके पास रही क्या जाता है जो विरोध करते हैं ? आप नहीं हैं तो उनके पास फिर कुछ बारूद ही नहीं है (मानना होगा कि वह चतुर और चालाक है) कहा, तब खेल बच्चोंका रह जाता है और उधर ध्यान न देना ही इष्ट है. मैं सलाह दूंगा कि आप भी विरोधका विरोध छोड़ दें. बाल-हठ पर स्वयं हठ ठानकर हम उसे महत्व ही देते हैं. उधर ध्यान न दें तो आप ही सब ठीक हो जाता है...ये बातें राजपतिके उपयुक्त तो न थीं, फिर भी इतनी सहज बनकर आईं कि उन्हें काटनेकी स्पर्द्धा भी मुझमें तीखी न रही. मानना होगा कि लिज़ाने लगभग उन्हें लाजवाब ही कर दिया—"

लिज़ा कुर्सीपर आगे खिंची, ठोड़ी ऊपर किए, शून्यमें देखती चुप बैठी थी. अब भी सुनकर शून्यमें से उसने ध्यान नहीं हटाया.

मैंने कहा, "मुझे उत्सुक होना चाहिए. कहिए आपने उन्हें कैसे परास्त किया ?"

लिज़ा अपनी ओरसे अनुत्सुक दीखी. शंका होने लगी कि क्या उसने प्रश्न सुना भी ?

नायने कहा, "सुनो प्रिय, आप क्या पूछते हैं. विवाद दुहराया तो नहीं जा सकता, पर संदेह नहीं तुम्हारा वाद प्रखर था."

लिज़ाने सुना, सिगरेटका सिरा घासमें नीचे डाल जूतेसे बुझाया. बोली, "हो सकता है, कारण मैं अपने ही विरुद्धमें वाद कर रही थी. अपने विरुद्धसे प्रखर भला कब हुआ जा सकता है ?"

मेरी जिज्ञासा बढ़ी, कहा, "मैं नहीं समझा."

उसने मुझे देखा. उड़ती-सी निगाह थी और अनमनी, बोली," आप भी पैसिफिस्ट हैं, यह सही है ?"

"मैं भी ? यानि जय पैसिफिस्ट हैं ?"

"नहीं ?"

"मैं समझूंगा, नहीं. शासक पैसफिस्ट हुआ है ? हो सकता है ?"

"तो पैसफिस्ट वह जो बचाव चाहता है ? मुझे यही शक है कि जय बचाव नहीं चाहते. क्या आप कहेंगे कि इसीलिए वह पैसफिस्ट नहीं हैं ?"

मैंने लिजाको देखा. नहीं, वह विवाद नहीं चाहती थी. उसपर अन-मनापन स्पष्ट था. फिर क्या था, मैं समझ न सका. लगा, कहीं वह भीतर व्यस्त तो नहीं है ?

मैंने धीमेसे कहा, "आपकी कृपा है, पर शांतिवाद नहीं तो क्या रण-वाद ठीक है ?"

उसने मुंह सामने किया, जैसे हठात् विषयमें रस पाया, कहा, "रण हो तो क्या उससे मुंह मोड़ना होगा ?"

उसकी ओर निगाह रखकर मैंने कहा, "मैं नहीं जानता कि युद्ध हो क्यों ? और हो तो क्यों हर कोई उसका भाग होना जरूरी माने ?"

वह तत्पर दीखी, बोली, "हर कोई ! जय हर कोई नहीं हैं. पर छोड़िए...जीवन युद्ध नहीं है, सच कहिए ?"

मने हंसकर कहा, "शायद हम लड़ नहीं रहे हैं. क्या आप सोचती हैं हमारा लड़ना स्वाभाविक होता ?"

उसने जाने किस दृष्टिसे मुझे देखा. कहा, "लड़ाई अन्दर रखकर ऊपर सौम्य दीखना पौरुष नहीं हैं. सच कहिए, क्या इस समय आपके मनमें मेरे लिए घृणा नहीं है ?"

सुनकर स्तब्ध रह जाना पड़ा, कहा, "शिव-शिव ! आप क्या कह रही हैं ?"

कहीं कुछ अधिक हो गया था. नाथ भी सहसा अवाक् हुए. निकट

था कि वह कुछ कहें. इतनेमें लीज़ाने सहज मुस्कराहटसे कहा, "शायद हम अपने भीतरका सामना नहीं करना चाहते, पर सामना हो तो क्या जाने सबको ऐसे ही अचरजमें रह जाना पड़े !"

डा० नाथने कहा, "हमें देर तो नहीं हो रही है प्रिय !"

लिज़ाने उधर ध्यान न दिया और जैसे उत्तरकी अपेक्षामें वह मेरी ओर ही देखती रही.

मैंने कहा, "आप अन्याय न करें. घृणाकी जगह, हां, भक्ति हो सकती है."

वह जोरसे हंसी, बोली "मानती हूं. पुरुष जल्दी भक्त हो आते हैं, और जल्दी...पर बात अपनी ओर न लीजिए...सचमें क्या मैं घृण्य नहीं हूं? पर एक बात अवश्य है, विरोध जिसे उभार न सके उसके लिए मुझमें आदर होना मुश्किल है....विरोधीके प्रति यह दया नहीं, अदया है... उन्हें मैंने यही कहा. एक का नितान्त ऊँचा बनना दूसरेको असह्य होना चाहिए. शांत रहना गर्विष्ठ होना है. आखिर वह जो विरोधी है, क्या निरा नगण्य है ? नितान्त तुच्छ है ?...शान्तिवाले नहीं जानते कि इस तरह वह जगतमें कितना हीन भाव बढ़ानेमें कारण होते हैं....युद्ध स्पष्ट है. वह भूमिका है जिसपर सब आदमी हो आते हैं, कोई महात्मा नही रहता...मैं दो चीजों को नहीं सह सकती, एक अपनेको दूसरे महात्माको ...महात्मा असंभवता है, इसलिए कपटता है."

मैं बातको कहीं रख न सका, उसका संदर्भ समझ न आता था.

नाथने कहा, "प्रिय हमको—(वहां) भी तो जाना था न ?"

लीज़ाने मुस्कराकर उधर देखा, "हां ! और भूलनेके लिए मैं क्षमा चाहती हूं (मेरी ओर) क्या मैंने आपका चित्त दुखाया? पर आप जयको अधिक जानते हैं. क्या वह संत हैं ? महात्मा हैं ?"

मैंने कहा, "आशा है उन्होंने आपको रुष्ट नहीं किया."

"नहीं. वह इतने दयालु थे और मृदु, पर दूर भी. मैं जानना चाहती हूं, यह दूरी क्या है ? जैसे दूसरा मात्र वस्तु हो, व्यक्ति न हो."

मैंने कहा, "शायद हम अपेक्षा अधिक रखते हो, इससे ऐसा अनुभव आता हो. यों जय अत्यन्त सहृदय हैं."

लिज़ा कुर्सीसे खड़ी हुई, कहा, "मैं अपने स्वामीके असमंजसका कारण न बनूंगी. और हमें जाना भी है. क्यों, प्रिय, चलना है न ? (सम्बोधन पर नाथ अपनी जगहसे उठे) लेकिन, यह क्या है ? एक व्यक्ति तुमको सार्वजनिक उपहासका पात्र बना रहा है, उपद्रव रचता है और षड्यंत्र, और तुम्हारे पास राज्यकी समूची शक्ति है, फिर भी आसनपर ऐसे बैठे हो, जैसे असंपृक्त हो और उत्तीर्ण ! कहिए कि इसे आडम्बरसे कम मैं क्या समझूं ? चलिए, वह व्यक्तिगत बात भी हो, पर खुद राज्यकी नीति की ओर से उसे उचित ठहराना क्या सही हो सकता है? पर उन्होंने वही किया, किया ही नहीं, हमसे उसमें योग लिया..."

पतिने कहा, "निश्चय, प्रिय. तुम तो विस्मयमें डालती हो ! क्या तुम्हींने नहीं मजबूर किया कि मैं उनकी नीतिका समर्थन करूं और अब तुम्हीं..."

"हां, किया, पर गलत है वह—गलत है. क्या स्त्री एक गलती भी नहीं कर सकती ?"

कहकर मुसकराती लिज़ा आगे बढ़ी, बांहमें पतिकी बांह ली और मेरी ओर मुसकराकर वापिस बरामदेकी ओर बढ़ ही रही थी कि बोली, "आइये, श्री हूस्टन, आपका बहुत समय लिया, मैं कृतज्ञ हूं और इस अपूर्व भारतीय भोजनके लिए आभारी ! अभी शायद हम दो रोज हैं. क्यों, प्रिय, कल श्री हूस्टन डिनरपर साथ दे सकें तो क्या यह उत्तम न होगा ?"

"अवश्य, अवश्य !"

मैंने कहा, "कृपा है, पर मैं अधीन प्राणी हूं और इलासे अनुमति लेकर आपको सूचित कर सकूंगा."

"इला !" कहकर एलीजाबैथने मुझे देखा, कहा, "आप भी उनके कैदी हैं ?"

मैं चौंका. कहा, "सत्य लगभग यही है. अधीनसे अधिक हूं, कैदी हूं."

"क्या शुभ हो," मनहर हंसी बिखेरती वह बोली, "कि एक संध्याके लिए मैं आपको स्वतंत्रतामें उठा ले आ सकूं. पर साम्राज्ञीसे अनुमति पा जाएं तो अवश्य कृपा कीजिएगा...समय मैं ही आपका लिए गई और श्री नाथको आपसे शायद कुछ बातें भी करनी हैं !"

.. गए उन्हें आध घंटेसे अधिक नहीं हुआ है. अब रात है और मैं अकेला हूं. निश्चय मैं भ्रमित हूं. यह महिला हलकी नहीं है जो मैं समझा था. शायद हलका कोई नहीं है. बनता ही है, होता नहीं. आत्मामें सब गहरे हैं.

रात गहरा रही है. जयका ध्यान आता है. वह सोए होंगे, या जगे भी हो सकते हैं. कितनोंकी कितनी भावनाओंके वह केन्द्र हैं. कारण, शासनके शीर्षपर हैं. स्नेह उनके लिए विरल होगा, अधिकमें तो आतंक और स्पर्धा ही होगी. असंख्य जन अपने दुख, दैन्य, अभावको उनके माथे डालते होंगे ओह, कितना उसे सहते रहना होता होगा...क्यों वह आसन पर है ? मुझ-तुझके समान सामान्य हो सकता तो क्या दुर्भाग्यसे बच न जाता! पर हो सकता है कि राज्यको ही उसने अपने लिए सूली माना और इसीलिए स्वीकारा हो !...सचमुच क्या जीवन क्रास ही नहीं है ? प्रभु ईसाको कीलोंसे सलीबपर ठोका गया, इस आसनकी कीलें सोनेकी हैं तो क्या वह इसलिए सलीबसे ज्यादा या उससे कम है ?...

एलिजाबेथ, देखता हूं, भारतीय राजकारणमें एक शक्ति है . शक्ति क्या द्वन्द्वमें से आती है...जयवर्धनके भविष्यके चित्रमें सहसा यह नारी क्यों मेरे मस्तिष्कमें आ उपस्थित होती है ?...क्या वह वहां अनिवार्य हो आएगी .शक्तिको निर्वैयक्तिक कहते हैं. मुझे हंसी आती है.... निर्वैयक्तिक !!...

लिज़ाने जो कहा कितना असंबद्ध था, कितना परस्पर विरुद्ध. इसीसे क्या मेरे लिए यह और साफ नहीं रहा है कि वह गहरेमें से आ रहा था...नाथ उसके पास अच्छी सुविधा है.....स्त्री क्या चाहती है ?

अधीनता और स्वतन्त्रता, शायद एक साथ दोनों चाहती है. स्वतन्त्र होकर किसीको अपने अधीन रखना, और पूरी अधीन रहकर किसीको अपने ऊपर सर्वथा स्वतन्त्र पाना. ये दो तट इतिहासमें कभी ही स्त्रीके निकट (अथवा पुरुपके) एक हो पाए हैं. इसलिए इतिहास, क्या व्यक्ति और क्या जगतके लिए, निरन्तर संघर्पकी कहानी है...लिजाकी वह मुद्रा भूल नहीं पाता हूं. उन्मन, और दृष्टि समक्षसे कुछ ऊपर शून्यस्थ. जैसे आस-पास सव यथार्थ उसे भूत हो, और वह स्वयं निरी अपेक्षा वनी अधर अयथार्थमें अटकी हो...नाथ कभी उससे न छूटेंगे. उस सुभीतेके विना उसे अस्तित्व कठिन होगा...लेकिन शायद उसे आवश्यकता शेष रहेगी कि वह स्वयं छुटी न रहे, किसीकी निर्मम मुट्ठीमें वुरी तरह पकड़ी जा सके...वह उस संस्कारकी उपज है जिसे प्राप्त होते ही हर जय व्यर्थ हो आती है, इससे जिसकी गहरी मांग पराजय है....पराजय अपने वावजूद, किसीकी ऐसी विजय जो उसकी पराजयको भी ध्यानमें न ले, उसे कुचलती निकलती चली जाए....

....ओ घट-घट वासी, मैं तेरे सव रूपों को प्रणाम करता हूं. प्रार्थी हूं कि कभी तू सम्भव न होने दे कि प्रणामके सिवा कुछ और मुझमें जगे. सव तू ही है और ऐसा कर कि कण-कणके लिए मुझमें से अजस्र और अनवरत प्रणमनका ही उच्चार उठे. नहीं तो मैं वन्द रहूं, मेरी गिरा वन्द रहे.

२१ मार्च (२२ मार्च, क्योंकि रातका अव डेढ़ वजा है)

अभी नाथके यहांसे लौटा हूं. वहां तो जश्न था. मैं फिर भी जल्दी उठ आया हूं. अभी वहां नाचगान चल ही रहा होगा.

यह जश्न क्यों ? कारण मैं पूरी तरह प्राप्त न कर सका, आभास भर मिला. अत्यन्त झीने और आकर्पक परिधानमें जव लिज़ा होटलके वड़े आमोद भवनमें इस-उससे हंस वोल रही थी तभी, एकाएक, एक

ओर खड़ें मुझ तक बढ़कर आई, बांहसे लेकर जैसे मुझे जगाया, कहा, "आप निराश दीखते हैं !"

मैंने कहा, "मुझे इस सबकी आशा न थी."

"मुझे ही कब थी !" आनन्द मग्न भावसे उसने कहा, "और थी किसे ?—आइए—आइए."

ले जाकर सोफामें बिठाया, पाससे गुजरते वेटरसे मानो छीनकर एक गिलास मेरे हाथमें दिया, एक स्वयं लिया और बराबर सोफाकी बांह पर बैठकर बोली, "आपके जय निश्चय अद्भुत हैं."

मैंने जानना चाहा कि हुआ क्या ?

वह भरी थी और अस्थिर, बोली, "अभी खास तो नहीं. लेकिन आप कल्पना कर सकते हैं ? कोई कल्पना कर सकता है ? मेरे साथ तनिक एकान्त पाया तो बोले, 'श्रीमती, क्या मैं एक निवेदन कर सकता हूं ?' मैं डर आई. चेहरेपर उनके ऐसी विनम्रता थी, मानो आकांक्षा... बोले, 'क्या मैं कुछ सहायता आपसे मांग सकता हूं ?'...पास कोई न था. नाथ दूर थे...मुझे भ्रम हुआ कि क्या मुझे ही कहा जा रहा है ?... ...धीमी-सी बोली, 'ऐसा मेरा परमभाग्य !'...बोले, 'नाथ असहमत तो न होंगे ?'...मुझे आश्चर्य हुआ और हर्ष. कहा, 'नाथ!—वह मेरी पूर्तिमें बाधक न हो सकेंगे. आप कहिए'...बोले, 'आप यूरोप जा सकगी, रह सकेंगी ? मेरी विशेष प्रतिनिधि ?'...दंग रह गई. सहसा कानोंपर विश्वास न हुआ. क्या यह सम्भव है ? भाव-विभोरतामें मुझसे कुछ उत्तर न बना, बस उस आदमीको देखती रह गई...एक हल्की-सी रेख मुस्कराहटकी उनके चेहरेपर थी...क्या मैं मुग्धा बन आई थी...सुना वह कह रहे हैं, 'मैं आपमें भूल नहीं कर सकता. आइए, निश्चय हो जाए' ...शायद मि० नाथ मेरी पीठपर कहीं आस-पास होंगे, या उस ओर आ निकले होंगे, कि आगे बढ़कर जयने उन्हें लिया, कहा, 'मि० नाथ, आइए. आप हितैषी हैं और मुझे चिर-कृतज्ञ कर सकते हैं. श्रीमती नाथ राज्यके हितमें उपयोगी हों इसमें आपकी अनुमतिका प्रार्थी हूं. उन्हें तो आपत्ति

नहीं है—श्रीमती, मैं गलत तो नहीं हूं ?—यूरोपमें हमें एक निजी प्रतिनिधि चाहिए. आपकी अनुमति यदि हो,...नाथ इस आकस्मिकता को क्या समझते. वह और भी चकित हुए...पर अधूरा छोड़ें तो जय कैसे ?....उन्होंने बढ़कर नाथके हाथको अपने हाथमें थामा, कहा, 'मैं आप दोनों बन्धुओंका कृतज्ञ हूं. अतिशय कृतज्ञ'...फिर मुड़कर मेरा हाथ झकझोरा और, मानों निश्चित और असंलग्न, एक ओर बढ़ गये... जैसे इन दो वाक्योंमें सब सम्पूर्ण हो गया....श्री हूस्टन, आपके जय विस्मय-पुरुष हैं...यह दूसरे पहरकी बात है जब एक बड़े डेप्यूटेशनमें हम वहां थे...अब बताइए, इसकी प्रसन्नता क्या मैं अपनेमें संभाल सकती थी ?...नाथ जाने प्रसन्न क्यों नहीं हैं ? पर नहीं, वह प्रसन्न हैं... आप ही सोचिए कैसे हो सकता था कि इसपर यह भोज न हो. अकेले लेती तो क्या इस समाचारके आश्चर्यसे मैं मर न जाती...अब आप, हाथ जोड़ती हूं, मग्न दीखिए. क्योंकि इससे बड़ा पर्व मेरे जीवनमें नहीं आया."

उसकी बात बिखरी थी, उल्लास उसे संयत न रहने दे रहा था. क्या वह समस्त उल्लास पद-लाभका ही था ? इतना सर्वांगीण, इतना घनिष्ठ ?...

जो हो, मुझे स्वयं इस सूचनापर विस्मय है. निश्चय जय अतर्क्य हैं. कितना बड़ा खतरा लेना है यह कि लिज़ा जैसी नारीको यूरोप संबन्धी भारतीय कूटनीतिके स्रोतपर रखा जाय....और नाथ ?

दिन मेरा फीका ही रहा था. जयसे भेंट नहीं हुई थी और मैं अपने अखबारके लिए लम्बा खरीता लिखनेमें लगा रहा था.

हां, इलाकी सेवामें सवेरे पुर्जा भेजकर पूछा था कि श्रीमती नाथने डिनरके लिए कहा है, जा सकता हूं ?

उत्तर कहीं तीसरे पहर आया इस रूपमें कि फोन पर कहा गया, कृपया महामाननीयासे बात कीजिए. मैंने अपना नाम कहा, उधरसे हल्की-सी हंसी आई, कहा, "कहिए, आपको झिझक है कि डर, जो मुझ

से पूछा गया है ?"

स्वरकी आत्मीयताने मुझे साहस दिया. कहा, "बचना चाहा था यह कहकर कि मैं आपका कैदी हूं, पूछकर बता सकूंगा."

"कैदी हैं और स्वतन्त्रताके लिए तड़प रहे हैं !" इलाने कहा, "तो रिहाई है, आप जा सकेंगे. पर बचके आजाइएगा न ?"

उसी हल्के भावसे मैंने कहा, "इस कदर खतरा है ?"

"जय बताते थे, जादूगरनी हैं. भरोसा दीजिए, आदमीसे भेड़ आप न बनेंगे."

कहा, "जादूगरनीका प्रभाव निश्चय है आपने श्री वर्धनपर से तो नहीं अनुभव किया !"

स्वर कुछ बदला मालूम हुआ. कहा, "उनपर तो कवच है. यों भी विजातीय हैं. आप तनिक अकेले हैं !"

मैंने कहा, "धन्यवाद !"

उधरसे कहा गया, "शिष्टाचार आप न बरतें. अन्यत्र जब भी भोजन हो, बैरे से कह देना काफी होगा."

कटकर मैंने फिर कहा, "धन्यवाद !"

स्वरमें शायद मेरे मनकी खीज मिली, खिलखिला आई, कहा. "यही आप दार्शनिक हैं !" कहा और एकदम रिसीवर बंद कर दिया !

आदमी कमजोर है और मेरा मन इसपर दिन भर अनमना-सा रहा. अब रातके इस लिज़ाके समाचारने रस दिया है.

सच ही आदमी पत्तेके मानिन्द है. हवाकी हर हिलोर उसे कंपा देती है और फिर प्रकाशकी एक किरण उसे हुलसा भी आती है !

२२ मार्च—

(पांच बजे) सवेरे देरसे उठ पाया. मालूम हुआ कि इलाकी ओरसे आदमी आया था और चला गया...सवेरेके अखबारोंमें अच्छी खबर नहीं

थी. जगह-जगह विरोधी प्रदर्शन हुए थे. एक प्रमुख दैनिकमें प्रथम संपादकीय था कि विरोधको इतनी छूट देना हमारे जनतंत्रकी उदारताका प्रमाण है. किन्तु सब क्षेत्रोंकी तरह सीमाएं यहां भी हो सकती हैं और कहना कठिन है कि सीमा लगभग पहुंच ही नहीं गई है. यदि सर्वथा शिथिल नहीं है तो समय है कि हकूमतका हाथ उठे और नागरिकको सुरक्षाका आश्वासन और अभय प्राप्त हो. अभी तो स्थिति स-भय है.

मैंने इन शब्दोंको रेखांकित करके जयवर्धनके पास भेज दिया और समय चाहा.

अबतक जयकी ओरसे कोई सूचना नहीं मिली है.

निवृत्त होते ही इलाके आवाससे फोनसे सम्पर्क स्थापित किया. काफी देर बाद उनकी निजी सचिवसे मालूम हुआ कि विशेष बात न थी. आपकी स्वस्थताके समाचारसे उन्हें संतोष है...

कभी अजब लगता है....मैं यहां क्या पाने आया हूं ? सब अपने आवर्त्तमें हैं और जहां भी हैं अन्तर्गत कारणसे नहीं बल्कि परिस्थितियोंके व्यूह-संतुलनके परिणामस्वरूप हैं. इससे यथार्थ अध्ययन वस्तुगत होगा.

...लेकिन मैं क्यों अपनेसे नाराज हूं ? सत्यके खोजीको अपार धैर्य चाहिए और हो रहा है उसमें आसक्ति नहीं...इच्छा कांटा है जिसकी दोनों ओर नोंक है. बाहरकी ओर वह गड़ता है, अपने अंदर भी चुभन देता है...नहीं, अनासक्त रहना है और निस्पृह...

पर वृथा अपनेको बहलानेको मैं शब्द न गढ़ूं. साफ है कि मेरा मन नहीं लग रहा है. अच्छे भले शब्दोंको गद्देके मानिन्द नीचे बिछाकर उनपर लेटनेसे ऊपरी आराम हो जाए, अंदर चैन तो नहीं मिल जाता...सच सच है और अपनेको जो कहीं अटका रहता है वह परिपूर्ण नहीं हो सकता मुझे यह समझना चाहिए. उससे उदारता और क्षमाशीलता आएगी. जानना चाहिए मुझे कि सब अपनी स्थितिमें है. वह स्थिति उसके होनेकी परिभाषा है. स्थिति सीमा है, पर भूल होगी जो मैं उसे हृद्गत भावकी भी सीमा मान लूंगा...क्यों भूल जाता हूं कि अधिनायक और भी अधीन

होता है. अधीनके प्रति मैं अधीर बनूं ?

सच ही मैं अधीर था, अधीर हूं. कहीं मुझमें ईर्षा तो नहीं है—उनके प्रति जो जयके निकट हैं और इस समय उनका समय ले रहे हैं ?

घंटी बज उठी. आवाज कर्कश मालूम हुई. मैं लिखना चाहता हूं, पर घंटी बंद नहीं होती. झींककर फोन उठाता हूं, सुनता हूं.

"क्या मि० हूस्टन हैं ?"

"जी, मैं हूं. कहिए."

"कृपया..."

कुछ सेकिंड कोई आवाज नहीं आई. फिर सुनाई दिया, "बिलबर, यह मैं हूं जय, तुम्हारा अपराधी!...नाराज हो ? तो मैं दुगना नाराज हूं, पर पहले शुभापरान्ह लो...सुनो, ग्यारह बजे बाद रात अपनी है. क्यों,ठीक है न ? दुनियांके दावेको दिन बहुत हैं, रात पर आज तुम्हारा दावा सही."

मनमें प्रफुल्लता भर आई. शिकायत जितनी थी सब भाग गई. कहा, "आप तो जल्दी सो जाते हैं !"

"नहीं, जल्दी उठना ही अपने हाथमें है. सोना—वह तो जब मिले."

मैंने कहा, "मैं निर्दय न बनूंगा. फिर कभी सही."

बोले, "सदय तो बनो. आओ, और हम सितारोंकी बात करेंगे, और मोक्षकी और निर्वाणकी."

"वह बातें तो इस वक्त मेरे पास नहीं हैं."

"तो बना ले आना. आसमान साफ होगा और दुनियाका बहुत कुछ सो गया होगा. शोर कहीं होगा नहीं और हम चाहेंगे तो अपने पारकी सोच सकेंगे....तो पास तुम्हारे इस समय क्या है ?"

"श्रीमती नायसे मुझे खबर मिली थी और मैं—"

"तभी तुमसे बात संभव हुई. इस समय उन्हें आना था. पर बताया गया कि असमर्थ हैं और उन्होंने क्षमा मांगी है. शायद वे तत्काल वापिस जा रहे हैं."

मुझे आश्चर्य हुआ. अपने वावजूद कहा, "दोनों जा रहे हैं ?"

"हां....जरा ठहरिये. लाइन रहने दीजिएगा."

दो, तीन-चार, पांच मिनट हो गए. हैरत हुई और निकट था कि फोन वंद कर दूं और छुट्टी पाऊं, तभी सुनाई दिया. "तोड़िएगा नहीं." कहकर फिर गुम. हारकर उसी तरह रिसीवर में कानपर लगाए रहा और फिर चार-पांच मिनट हो गए. अन्तमें आवाज आई, "—हां, दोनों."

मैंने पूछा, "क्या विघ्न आ गया था ?"

वोले. "विघ्न ही कहो...हां पक्का हुआ, दोनों जा रहे हैं."

मैंने कहा, "मैं नहीं समझा."

वोले. "रातको सवा ग्यारह वजे मिलेंगे, तभी समझेंगे."

"आप तरसानेमें भी आनन्द लेते हैं !"

"नहीं, हठ नहीं, सुनो...लिजा फोनपर थी...लेकिन वह सव इस समय फोनपर नहीं..... अच्छा, सवा ग्यारह, प्रणाम."

...यह जय है. उसके खिलाफ मनमें क्या रखा जाए ?

(दस वजे) शामको घूमने निकल गया. वड़ा हल्का अनुभव कर रहा था. गाड़ी खुली थी और हवा अच्छी लगी. कहीं दृश्य सुहावना पाया तो गाड़ी धीमी करा ली, पर रुके नहीं कहीं. सारी दिल्लीकी दो-तीन परिक्रमा हो गयी हो तो अचरज नहीं. चित्त दवा न हो तो चलने और चलते जानेका अनुभव स्वास्थ्य देता है...घर आया और अखवार पर मोटी सुर्खीमें देखा, 'मुलाकात रद्द ! नाथ दम्पति वापिस !' मैंने नाथोंके आगमनको इतने महत्वका न समझा था. संवाददाताने श्री नाथ से पूछा 'प्लेनका समय मुलाकातका अवकाश तो देता है. फिर उसमें असमर्थताका क्या कारण है ?' श्री नाथने कहा, 'राजपतिकी ओरसे इस सम्वन्धमें क्षमा मिल गई है.' संवाददाताने पूछा 'दलके प्रमुखोंकी वैठकके वाद आपके फिर इधर आनेकी संभावना है ?' तो उन्होंने कहा, 'असम्भव कुछ नहीं होना चाहिए.' पूछा गया, 'श्रीमती नाथके सम्वन्धमें इस समाचारका क्या कुछ आधार है कि यूरोपमें वे राज्यकी ओरसे अतिरिक्त विशेष

प्रतिनिधि होंगी ?' नाथने उत्तरमें मुस्करा दिया और श्रीमती नाथने हंस कर कहा, 'जहांतक मुझे ज्ञात है आधार सविशेष नहीं है.' संवाददाताने पूछा, 'क्या समाचार सर्वथा निराधार है?' तो श्रीमतीने कहा 'आधारोंका आधार है परस्पर विश्वास. आजके सन्देहके वातावरणमें हमें उसे दृढ़ करनेकी आवश्यकता है. ब्रह्माण्ड जिसपर टिका है उसे विज्ञानी कुछ कहें विश्वासी विश्वास कहेंगे.' सम्वाददाता और पूछना चाहते थे, पर कहा गया, 'हम जा रहें हैं. क्योंकि काम है और सब उत्तर इसमें है.' यह कह-कर श्रीमती नाथने हाथ बढ़ाया, कहा 'अच्छा अब छुट्टी, धन्यवाद !' और संवाददाताका जोरसे हाथ हिलाकर विदा ली.

इस सब सूचनामें कुछ प्रश्न बंद मालूम होता है.

(साढ़े बारह बजे) सच ही सितारोंके नीचे मिलना हुआ. मुझे छत पर ले जाया गया जहां एक ओर बड़ा तख्त बिछा था, मेलकी मेज बीचमें लेकर कुछ हल्की कुर्सियां पड़ी थीं. पहुंचाकर अर्दली चला गया. अब मैं वहां अकेला था, रात चांदनी थी और आसमान तारोंसे ढंका न था. कई मिनट हो गए जब जयवर्धन आए. मद्रासी धोती, ढीली आधी बांह की सिली बनियान, पांवमें हल्की चट्टी.

आते ही हाथोंमें लेकर मुझे तख्तपर बिठाया, आप पास खींचकर कुर्सी पर बैठे. बोले, "इन तारोंको जानते हो ?"

"थोड़ा कुछ."

"राजनीतिक शापसे डसे होते हैं. वे जतानेको हैं, जाननेको नहीं... कितने अनन्त जगत हैं...जो मैं उनमें खो सकता."

पैरसे खींचके दूसरी कुर्सी उन्होंने सामने ली और उसपर टांगे फैला के, सिर पीछे टेक, कुछ क्षण वह खोएसे ऊपर देखते रहे.

मैं चुप रहा. कुछ देर शांति रही. जानता था, ऐसा अवकाश इस व्यक्तिको कब-कब मिलता होगा. इसलिए हठात् प्राप्त उनकी इस मग्न-ताको भंग न करना चाहा और साक्षी बना बैठा ही रहा.

थोड़ी देरमें पांवसे ठेलकर सामनेकी कुर्सी दूर सरकाई और सीधे हो

कर वोले, "नहीं, नशा गहरा नहीं चाहिए. तुम चुप क्यों हो ?"

मैंने किंचित हंसकर कहा, "आकाश इतनी दुर्लभ वस्तु तो नहीं है."

"यह तुम कहते हो ?" वह चौंकतेसे वोले, "मेरे लिए तो परम दुर्लभ है. याद नहीं कितनी मुद्दतमें आज देखनेको मिला है."

"आसमान ! मुद्दतमें ! क्यों, वह तो सदा रहता है." मैंने मानों हंसी करते हुए कहा.

उदास होकर वोले, "पर मैं तो सदा नहीं रहता. कभी ही क्षण आते हैं कि मैं हो पाऊं और याद करलूं कि जग असंख्य है. एक जगत और उसके भी एक खंडमें मैं खोया रहता हूं...पर, अव सपनेसे यथार्थ पर आएंगे...तुम्हारी चिट देखी थी. वताओ क्या हिदायत है ?"

प्रश्न अकस्मात था. कहा, " छोड़िए, वात वीती हुई."

"नहीं वीती तो नहीं है." उन्होंने कहा. "वल्कि एकदम सामने है. विरोध अव प्रवल होगा."

मैं आशय नहीं समझा, सप्रश्न देखता रह गया. मुझपर विना अटके उन्होंने कहा, "न चाहूं तो न समझूं, पर वात साफ है. प्रगति अव रूढ़िके विमुख नहीं संगसाथ चलेगी. राजनीति अजव चीज है, विलवर. शब्दोंसे तो सिर्फ चलाई जाती है, चलती किसी गहरे वलपर है...पर मुझे खुशी है....वस जो मैं अधिक समय आसमानके और अपने लिए पा जाऊं...खुशी इस वातकी है कि शायद अव यह सम्भव हो सके."

उनके विचारोंका स्रोत मुझे सही तौरपर पकड़ नहीं मिल रहा था. पूछा, "नाथ लोगोंके एकाएक जानेका क्या कारण है ?"

वोले—"तुम क्या सोचते हो ?"

मैंने कहा "मैं सोच ही सकता हूं, आप तो जानते हैं. लिज़ाने आपसे फोनपर वात की थी न!"

मानो वात अरुचिकर हो, कहा, "वह चीज अलग थी." लेकिन कहते-कहते भंवोंमें आया वल हटता दिखाई दिया, चेहरेपर स्मित आया. वोले, "वह तो प्रेम सम्भाषण था !"

मैं और भी न समझा, कहा, "आप पहेली कह रहे हैं."

मैं उत्सुक हुआ. लेकिन जय उत्सुक न थे. वह गम्भीर थे. बोले. "हम सब पहेली ही हैं और मैं उलझनमें हूं."

यह क्या था मैं समझ न पाया. प्रश्न किया नहीं जा सकता था, प्रतीक्षा ही की जा सकती थी. सचमुच जय उलझनमें मालूम होते थे. मैं इसलिए अपनी ओरसे नितान्त उपलक्ष बन रहा.

वह स्वयं ही बोले. "विलबर ! क्या मैंने नाथको कोई ईर्ष्याका कारण दिया है ?...लिज़ाको अवश्य प्रस्ताव दिया कि वह विशेष प्रतिनिधि होकर यूरोप रहे. तुम शायद जानते हो...काफी दिनोंसे मैं देख रहा हूं कि उसमें शक्ति है, वेग है...भारतीय जीवनसे कुछ अनमिल है, इससे यहां उसकी उपस्थिति और प्रवृत्ति स्थितिमें चंचलता लाती है, कुछ क्षोभ भी जगाती है...यूरोपमें रहे तो वही दोष क्या गुण नहीं बन सकता है ?...विरोध रोधमें से उपजता है. रुद्ध है उसे अवकाश और उपयोग मिले तो वही ऋण न रहे धन हो जाए...फिर इला उसे दूर चाहती है. मुझे भी वह उचित लगता है.. कबसे यह चीज़ मनमें रही, सब तरफ़से सही जंच गई तो मुंहसे अब निकाली. सोचता था, नाथ को भी विश्वास दूं और काम सौंपूं. पर शायद बात उसे लग गई है. यह अच्छा तो नहीं है, पर क्या करूं ?"

अब कुछ-कुछ प्रकाश मिला. मैंने कहा, "लिज़ा क्या कहती थी ?"

बोले, "वही संकट है. बिना भूमिकाके उसने बात की. जैसे पतिसे अन्तर हो, मुझसे न हो. कहा, 'नाथ बिगड़े हैं. अभी तो मैं साथ जा रही हूं. दो-चार रोजमें सम्हल जाने चाहिए. आप चिन्ता न करें. आपके आफरके लिए मैं अतिशय ऋणी हूं. कभी न होगा कि राज्यकी सेवाके इस अवसरको मैं हारूं.' लिज़ाका स्वर आवश्यकतासे घनिष्ट था जब उसने मुझे आश्वासन दिया कि वह कभी मेरे आदेशसे विमुख न होगी. कह गई, 'यू आर माई मास्टर'....मैं नाथको समझ सकता हूं. उसके जानेको समझ सकता हूं. चिदानन्दसे मिलकर विरोधको उत्तेजना दे तो

भी मैं समझ सकूंगा...पर लिज़ाका साहस !"

अब गांठ खुली और मैं समझा. कहा, "क्या नाथ इतने असहमत हैं?...मिलकर बात साफ न कर सकते थे."

"मैं न समझता था वह इतने—नाजुक निकलेंगे. लेकिन, अगर इस तरह कटकर गए हैं तो संशय नहीं कि वह फिर धुर छोर तक जाए बिना न रहेंगे. लिज़ा भी इसमें कुछ न कर सकेगी."

"आप क्या सोचते हैं, वह करेंगे ?"

"ठीक समझ नहीं पा रहा हूं. लिज़ाके अनुसार मुझसे बेहद नाराज हैं कि आफर देनेसे पहले उनसे पूछा नहीं गया. उन्हें सन्देह है कि यह मेरी उन दोनोंको अलग करनेकी कोशिश है...सीधे मेरा लिज़ासे कुछ कहना उन्हें अनुचित मालूम हुआ. प्रगतिको मैं ऐसा न मानता था. इस कच्ची बुनियादपर विवाह टिकेगा, यह नहीं लगता. क्या प्रेम चौकसी रखता है, चौकसी करता है ? सुनते हैं इस पहरेदारीको हक और कर्त्तव्य बना देता था पहलेका विवाह. क्या प्रगतिमें भी यही है ? पर छोड़ो...बात तुम्हारी करें. तुम कहते हो नागरिक सुरक्षामें विरोधका दमन कर्त्तव्य है. यही न तुम्हारी पंक्तियोंका आशय था ? तो अपराध रोकनेके लिए पुलिस है ही, यद्यपि पुलिस इलाज नहीं है, सिर्फ बचाव है...लेकिन अपराधसे इधर विरोधको होनेका हक क्यों नहीं है ? अपने प्रचार और फैलावके यत्नका हक भी क्यों नहीं है ? कौन दावा कर सकता है कि विरोध गलती ही है ?

"सच सदा विरोधमेंसे प्रतिष्ठित हुआ है. जिसे शहीद न बनना हुआ वह सच लेकर भी क्या चला...नहीं, न्यायके पास जो सामान्य अधिकार है उससे आगे, विरोध जबतक मेरा है, हरगिज कुछ नहीं किया जा सकता....बिलबर, मुझे अचरज है कि तुम लोग एक व्यक्तिको, और मुझ जैसेको, कैसे इतना महत्व दे सकते हो ..स्टालिनका नाम आज कोई नहीं जानता, इतिहास तकमें से उसे खुरच दिया गया है. पर अपने समय जीवित भगवान था तो स्टालिन था. कोई पूजा न थी जो उसे न

मिलती हो. रहा तबतक लोकोत्तर महामानव वह समझा जाता रहा. एकछत्र सम्राट, अमोघ और अपौरुषेय. जिया तब तक दोष उसे छू न सका. पर इधर उसकी आंख मुंदी कि उधर बताया गया कि वह तुच्छ और कमीना था. देव नहीं, मानव भी नहीं, निरा दानव था...इसीसे यहां हूं तबतक तुम लोगोंको उन्नत और आवश्यक दीख सकता हूं. पर क्या असंभव है कि मेरा अन्तरंग रूप वही हो जो प्रदर्शनकारी जताते और जताकर मेरे पुतलेको जूतोंसे पिटवाते और फलीतोंसे जलाते हैं.... बिलबर, मैं तुमसे उन्हें सही मानता हूं. तुम उन्हें दंगई और दुष्ट कहो, मैं कहता हूं तुम बहिरंग देखते हो, वे अन्तरंग जानते हैं."

मुझे अच्छा न लगा, कहा, "आप अपने विरुद्ध आवेशमें न हों. उसमें भी एक स्व-रतिका रस होता है."

सुनकर वह उठे, मुझे कन्धेपर थपथपाया. कहा, "तुम सराहनीय हो...मालूम है, क्या बजा है ?"

मैं भी खड़ा हुआ. छत फैली थी और वह मुझे लेकर वहीं टहलने लगे. कहा, "बारहमें अभी कुछ मिनट हैं...स्व है तबतक उसकी रति सर्वथा छूटेगी कैसे. इसलिए उसका ऐसा रस शायद कुछ सन्तुलन और सम्बल ही देता है. स्वयं गिरकर ही तो किसीके चरण छुए जा सकते हैं."

मैंने कहा, "आप मुझ-तुझकी तरह स्वतंत्र नहीं हैं. आप पर दायित्व है. उससे अलग अपने निजको अधिक गिनने या कम गिननेका आपको अवसर नहीं है...यह कहना झूठ होगा कि आप नहीं पहचानते कि विरोधी प्रचार और प्रदर्शनोंके नीचे कुत्सा है, द्वेष है. उसे देखा अन-देखा करना अन्याय होगा, असत्य भी होगा ...जनतामें वृथा बुद्धिभेद बढ़ने देनेसे क्या लाभ ? जन-मत त्रस्त है. लोग अपने कामोंमें मन नहीं रख पाते. देशका मानस क्षुब्ध हुआ जा रहा है. कितनी जीवन शक्ति नष्ट जा रही है जिसका रचनात्मक प्रयोग हो सकता था...नैतिकताको चुनौती है तो यहां है और चुनौती अहिंसाके लिए भी कि विध्वंसोंमें स्वाहा होती शक्तिको सृष्टि व रचनामें लगाया जाए. यह कैसी-अहिंसा

होगी, जीवित-अहिंसा नहीं, कि आप अपनी ही उधेड़-बुनमें रहें, और यह कहकर कि विरोध आपका है निष्क्रिय हो आएं और कीमती मानव चैतन्यका अपव्यय होता देखते रहें !"

उन्होंने सुना, कुछ रुककर बोले, "तुम वाग्मी हो, विलबर, पर निष्क्रिय रहना मेरी भाग्य रेखामें नहीं है...लेकिन क्रिया दमनकी दिशा की न होगी. और दमन है प्रतिक्रिया, प्रतिक्रिया ही जगाता है परिवर्तन नहीं लाता...चिदानंदके पास जाना होगा."

चिदानंदकी बात एक साथ आई. स्पष्ट वह पूर्व निर्णीत न थी. पर आनेपर दीखा कि सहसा ही वह सर्वथा निश्चित है.

मैंने आश्चर्यसे कहा, "क्या यह निर्णय है !"

मानों प्रश्न अनावश्यक हो, बोले, "और मैं सोचता हूं कि तुम कब जा सकोगे ? समय आदि ठीक करना होगा न. मुझे उस तरफ़ यों भी जाना था."

मैंने मानों रोषमें कहा, "चिदानंद इस योग्य नहीं हैं. आप जाकर वृथा उनका महत्व ही बढ़ाएंगे."

"जानता हूं, पर प्रश्न वह नहीं है. यहां बुलाना ऋषिको राजासे नीचे लाना होगा. न मैं राजा हूं, न वह ऋषि. पर प्रतीकोंका मान रखना होगा...कल जा सकोगे ?"

"आपने इलासे बातकी ?"

"वह हो जाएगा.. कल तीसरे पहर मुझे तुमसे फोनपर खबर मिल सकेगी न ?"

मुझे विचित्र लग रहा था. कहा, "मैं !"

"बोले, राज्यके किसी अंगका मैं इसमें उपयोग नहीं चाहता...तुम मुझे कृतज्ञ बनाओगे."

यह विश्वास जैसे आदेश बनकर आ रहा हो. मैंने कहा, "सोचकर कहूंगा."

बोले, "प्लेन शायद आठ बजे सवेरे जाता है. हां, सोचकर समय तक

कह देना. पर मुझसे सुनो, तुम अकरुण न हो सकोगे."

उनकी यह आत्मनिश्चिन्तता असंभव-सी लगी और कठोर.

बोले, "लो, बारहसे ऊपर और दस मिनट हो गए...आओ चलें... सोचते होगे तुम अतिथि हो, विदेशी हो, और मुझसे आनेवाली यह आज्ञा सी कैसी...पर आत्मीयतामें अनुनय भी आदेश हो जाता है..."

ऐसी ही अनहोनी-सी बातें हुईं. फिर मैं छोड़ दिया गया. अब कमरे-में आ गया हूं और यह लिख रहा हूं. विद्रोहकी, उल्लंघनकी इच्छा-सी होती है. पर जान पड़ता है कि कोई और बड़ी चीज है. वह क्या है ? क्या यही कि जय सर्वथा निरीह है, सर्वथा विश्वासी, सर्वथा हार्दिक. बस क्या इसीसे अपने बावजूद व्यक्ति अप्रतिरोध्य हो आएगा ....मैं कह नहीं सकता...कल देखा जाएगा.

२३ मार्च—

(प्लेनमें) हैरत है कि मैं जा रहा हूं. सवेरे ही मैंने उन्हें पूछा कि क्या मुझे जाना ही है ? जयने कहा, 'नहीं, बाध्यता नहीं है.' मैंने कहा कि मैं बचना चाहूंगा, 'बोले, 'जरूर, तुम स्वतन्त्र हो. पर यह बताओ स्वतन्त्रता कभी भारी नहीं लगती? जी नहीं होता कि किसीकी गोदमें उसे डालकर स्वतन्त्रतासे भी स्वतन्त्र हो जाओ ?' मैंने कहा कि अभी जानेसे बचना ही चाहता हूं, चिदानन्दकी यादसे उत्साह नहीं होता. बोले, 'यह बात है. तब तो तुम्हें जाना चाहिए. मनकी यह अक्षमता अच्छी चीज नहीं है. मुझे छोड़ो, अब तो जाना तुम्हारे अपने लिए उत्तम होगा. सूचना दे दी गई है, प्लेनमें अभी समय है, सोच लो, न जा सकोगे तो मालूम हो ही जाएगा और वैसी सूचना चली जाएगी. अभी मैं तुम्हें तुम पर छोड़ूं'...विचित्र विश्वास है. सूचना दे दी गई और मैंने इंकार किया तब भी प्रतिवाद नहीं किया गया....खैर, जयको फिर मैंने कुछ

नहीं कहा और अब देखता हूं कि मैं चिदानन्दकी ओर जा रहा हूं.

...यह अखबारमें क्या देखता हूं ! अनुमान है कि आचार्य रिहा किए जाएंगे. लोगों में उल्लासकी लहर है...क्या बात है, मुझे तनिक आभास न मिला ! क्या मैं दूर था ? असंगत था ?...जयको क्या मानूं ? कूटनितिज्ञ, या सरल ? निश्चय गहरी नीति देखी जा सकती है इसमें कि इस समय आचार्य बाहर हों. लोगोंकी कल्पनाको आचार्यकी उपस्थिति नई दिशा देगी. और संकटकी विकटतापर उसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा...पर अभी तो रिहाईकी बात न थी. स्वयं जयका हालका वक्तव्य दृढ़ था. अब इस सूचनाको कूटनीति वाली न मानूं तो क्या करुं ? पर जी प्रसन्न नहीं होता. कूटनीतिमें कपट है. जयके साथ कपट का लेप मैं नहीं चाहता, तो फिर—?

(रातके ग्यारह बजे) चलते समय मैंने संदेश भिजवा दिया था कि सेवामें पहुंच रहा हूं. पोर्टपर स्वामीका आदमी भी था. स्थान वहांसे साठ मील. आग्रह हुआ कि मैं सीधे आश्रम ही चलूं, लेकिन मुझे अपनी पहली व्यवस्था प्रिय हुई. स्वामीका आदमी अपनी अलग गाड़ीमें साथ आया और बंगलेपर मेरी सब व्यवस्था देख-भालकर अपने आश्रम चला गया. तय हुआ कि तीसरे पहर में आश्रम पहुंचूंगा और स्वामीको मेरा प्रणाम निवेदन करें.

फोनपर जयसे बातकी. लाइन तत्काल मिली, जय भी. मैंने पूछा, 'आचार्यकी रिहाईकी खबरमें कितना तथ्य है ? कहा, 'जन-मानस जब सब ओरसे क्षुब्धहो और मैं उसमें कुछ न कर सकूं तो आचार्यकी गति-विधिपर नियन्त्रणका कारण नहीं रहता. इससे रिहाई अनिवार्य है. मेरे निर्णयका प्रश्न नहीं.' मैंने कहा, 'मुझे आभास भी नहीं दिया !' बोले 'कहता क्या ? मेरा इसमें कृतित्व नहीं है. और तुम्हारे मनमें ही तब अतिरिक्त जगह कहां थी ?' मैंने कहा, 'मानता हूं. आप राजनीतिज्ञ हैं.' बोले, 'मानों सो सच. तुम्हारी राय तोड़ूं इतना मुझमें साहस कहां ?' पूछा

'रिहाई ठीक कब होगी? मैं वहां उपस्थित रहना चाहता हूं.' बोले, 'क्या करोगे? भीड़ होगी और तुम अजनबी होगे—इला भी शायद ही जाय'...

मैं आगे अस्त्र डाल रहा.

जय अननुमेय हैं...सोच-विचारमें से इस तरह सहसा इलाकी बात नहीं आ सकती थी...नहीं, वह हार्दिक ही है...मस्तिष्ककी चतुरता और हृदयकी सहजता मिलकर क्या किसीमें एकमेक हो सकती है ?...शायद सम्भव हो, पर है असाध्य साधन.

...चिदानन्द मिले तब और लोग भी थे. सत्कारपूर्वक मुझे लिया गया. लेकिन थोड़ी देरमें आस-पास एकांत हो आया, हम दो ही रह गए. चिदानन्द उसी प्रकार चौकीपर थे, मैं नीचे. बोले, "आशा न थी, इतनी जल्दी मिलना होगा. मेरे लिए कुछ ला सके हो ?"

"कहा, संवाद लाया हूं, जो उससे कीमती है. आप जयवर्धनसे मिलनेकी सुविधा कब पा सकते हैं ?"

बोले, "क्या? सुविधाकी आवश्यकता नहीं, मैं वहां न जाऊंगा ?"

मैंने कहा, "तो वही यहां आएंगे"

बोले, "क्या कहते हो, —वह आएगा !"

"मैं इसीलिए आया हूं,—आपकी सुविधा जानने और समय नियत करने."

निश्चय स्वामीको अविश्वास हुआ. बोले, "तुमने क्या कहा ?—वह क्यों आएगा ?"

"मैंने विशेष नहीं कहा—आपकी कृपा खोजते ही शायद आना चाहते होंगे."

"लेकिन तुमने नहीं कह दिया कि हममें कहीं समझौतेका अवकाश नहीं है ?"

"यह वह जानते हैं."

"फिर ?"

"आपकी शक्तिसे इन्कार करना उनके लिए कठिन है. राजनीति

शक्तिके तर्कको जानती है. सही कुछ वहां उतना ही है जितना प्रबल है."

"यहां आकर वह—क्या चाहता है ? अकेला आएगा ?"

"शायद अकेले ही आएंगे और वह जो भी चाहें, पाएंगे वही जो आप देंगे—आप क्या दीजिएगा ?"

उनकी भवोंमें बल आया, कहा, "मैं नहीं जानता, पर क्षमा वह नहीं पा सकेगा."

मैंने कहा, "क्षमाकी आशाका उन्हें अधिकार है ?...और निबटारा हो तो जल्दी हो जाना चाहिए. भ्रम हो तो तुरन्त उसका टूटना भला."

उन्होंने मुझे जैसे तनिक ध्यानसे देखा. क्या उन्हें सन्देह हुआ ? बोले, "ठीक. लेकिन बताओ, कि मेरे लिए कुछ ला सके हो. पत्र ? या, प्रमाण ?"

मैंने कहा, "प्रमाण वह स्वयं जो होंगे. मनमें चोर न हो तो वह आएं क्यों ?"

मुझे संभलकर बात करनी पड़ रही थी. उनकी उपस्थितिमें हठात सावधान रहना आवश्यक जान पड़ता था. जैसे यहां सहज हुआ ही न जा सकता हो.

बोले, "मैं तुमसे निराशा लेनेको अब भी तैयार नहीं हूं. प्रयत्न करते रहना...इलासे मिलना हुआ ?"

"जी."

कहकर मैं चुप हुआ. मानो वह अपेक्षामें हों कि मैं आगे कहूंगा. इससे थोड़ी देर रुककर फिर मुझे कहना हुआ.

"वह यहां आना सोचती थीं."

मुझे चुप देखकर बोले, "फिर ?"

"कह नहीं सकता...फिर ले जानेको मुझे एक पत्र दिया."

मुझे गौरसे देखते रहे, पूछा, "हां ? तो—?"

"ला सकूं इससे पहले पत्र वापिस ले लिया गया !"

संक्षिप्त 'हुं' कहकर वह फिर अपेक्षामें मुझे देखते चुप रह गए. मैं अधिक क्या कह सकता था. मुझे चुप देख बोले, "व्यवधान जयकी ओर से ही आया न."

"वही होगा. मैं क्या कह सकता हूं ?"

"तुमने इलाको क्या कहा था ?"

"आपने मुझे कोई सन्देश तो नहीं दिया था...क्या मैं अब उन्हें कहूं कि इला भी आएं तो उत्तम होगा ?"

क्षणभर ठिठके, बोले, "नहीं, मेरी ओरसे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है ..एक बात पूछूं ? तुम यहां क्यों नहीं ठहरे ?"

मैंने कहा, "जयका इस समय विश्वास रखना क्या मेरे लिए और जरूरी नहीं है, और आपके लिए भी ?"

उत्तर मेरा उन्होंने प्रश्नसे लिया, पूछा, "ठीक कहते हो ?"

प्रश्न मुझे बुरा लगा, कहा, "स्पष्ट ही मैं पक्षका नहीं बन सकता. मेरा पक्ष भारत है, भारतीयता है. इससे अतिरिक्त सब मुझे असंगत है. किसी अभिसन्धिका मैं अंग नहीं हो सकता. आपका विश्वास पाया इसके लिए उपकृत हूं. पर...

स्वामी अपनी दाढ़ीमें से किंचित हंसते हुए बोले, "तुम्हें रुठाना मेरा लक्ष्य न था...जयवर्धन कब आ सकते हैं ?"

पहली बार उस नामका उनसे सम्मानपूर्ण उल्लेख सुना. कहा, "यथाशीघ्र."

"परसों ?"

"अवश्य, यदि आपकी वही सुविधा हो."

"तो ठीक है. परसों, यही समय. कहना, मेरा अतिथि होना स्वीकार करें तो और उत्तम है. तुम्हारा क्या कार्यक्रम है ?"

"अभी अनिश्चित है." मैंने कहा, "श्री-जयवर्धनसे बात करने पर निश्चय हो सकेगा."

कुछ देर चुप रहे बोले, "पहले तुम आचार्यसे मिलकर आए थे...

"उनके छूटनेकी खबर पक्की है ?"

बचते-से हुए कहा, "अखबारमें अनुमान है."

बोले, "मैं उसे सही मानता हूं...कल प्रातः ही रिहाई हो जानी चाहिए. सूचना मुझे मिल जाएगी...तुम सोचते हो कि उस समय वहां उपस्थित रहो ?"

चकित हुआ, कहा, "सोचता तो हूं."

"अच्छा है...और मैं तुम्हें अपना एक लिखित अभिवादन दूंगा. मिलते ही उन्हें दे सकोगे ?"

"जाऊंगा, तो अवश्य दे सकूंगा."

"जानेमें कुछ असुविधा है ?"

मैंने कहा, "कल सवेरे बहुत पास है."

बोले, "रात बारहका प्लेन पा सकते हो. शेष मैं कर दूंगा. कारसे दो घण्टेका रास्ता है. शायद तब देर हो जाए. पर तुम सफर डेढ़ घण्टेमें कर लोगे. वह सब हो जाएगा. सुनो, मैं चाहता हूं, जैसे हो आचार्यको तुम सीधे यहां ला सको. कहना, साग्रह अनुरोध है और देशकी स्थिति देखते बातचीत अनिवार्य है. फिर संयोग यह कि बर्धन यहां होंगे.

मैंने कहा, "पत्र कब दे सकेंगे ?"

बोले, "अभी सात है, नौ बजेतक मिल जाएगा. साढ़े दस पर भी निकलो तो प्लेन मिल जाना चाहिए."

"पत्र भेज दीजिएगा. मैं देखूंगा."

स्वामीकी उपस्थितिसे फिर मुझे बाहर ले जाया गया, चाय इत्यादि हुई और विस्मय हुआ कि अलग-अलग प्रान्तोंसे यहां इस समय इतने लोग एकत्रित हैं. चायकी व्यवस्था अत्याधुनिक थी, बर्तन कि जैसे किसी बढ़िया-से-बढ़िया होटलमें हो सकते हैं, कमरा भी अनुकूल सज्जासे सज्जित. केवल लोग जो पास थे अनमिल दीखते थे. केवल एक पुरुष और एक महिलाने, चायपर साथ दिया. दोनों साधिकार अंग्रेजी बोलते और पश्चिमी शिष्टाचारमें प्रवीण थे. बंगलेपर आते ही मैंने

फिर लाइन मांगी जो तत्काल मिल गई. जयको बताया कि परसोंका समय हुआ है और स्वामी चाहते हैं कि आप उन्हींके यहां ठहरें.

जयने हंस दिया और कुछ उत्तर न दिया.

फिर मैंने पूछा कि आचार्यकी रिहाईका क्या समय है ?

जयने कहा, "बताया गया है, सात बजे सवेरे."

क्षणभर सोचमें रहा, फिर बोला, "अभी कुछ देरमें स्वामी मुझे एक पत्र भेजनेवाले हैं, चाहते हैं, सवेरे ही पहुंचकर आचार्यको दूं, और जैसे हो उन्हें यहां ले आऊं."

सुनकर फिर किंचित हंस दिए और अपनी ओरसे कुछ नहीं कहा.

मुझे ही पूछना हुआ , "आप क्या कहते हैं ?"

उसी तरह हंसकर कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है. क्यों तो तुम पूछते हो और क्यों चाहते हो मैं बताऊं ? मैं अभिभावक हूं ?"

"इला देवी नहीं जा रही हैं ?"

"जहां तक जानता हूं, नहीं."

"आचार्यके सम्बन्धमें कुछ आपको अनुमान है कि कहां जाएंगे."

"नहीं."

"आपकी ओरसे कुछ व्यवस्था है ?"

"वह तो क्यों न होगी. अधिकारी सब वही रहेंगे. आगे आचार्यका मन है."

"शिवधाम तो उजाड़ होगा" मैंने कहा, "वहां, इन्तजाम है ? शायद वहां जाना चाहें."

"अतिरिक्त चिंता मोल न लो, बिलबर" उन्होंने कहा "व्यवस्था सब है."

मैंने फिर पूछा, "मैं यहां आपकी प्रतीक्षा करूं, या क्या ?"

बोले, "नहीं, मैं साथ किसीको नहीं चाहता. अंगरक्षकको भी नहीं. अब तुम देख लो."

"तो इतने आचार्यके पास हो आता हूं."

"देख लो, अगर अनावश्यकको आवश्यक मानो...पर चाहो तो यहां आ सकते हो. इला दुःखी है."

"उन्हें पिताके पास जानेमें क्या बाधा है ?"

"वही जानें...तो तुम सवेरे यहां पहुंच रहे हो."

बातें जल्दीमें हुईं, दो मिनट न लगे. वह संक्षिप्त थे, और निश्चित.

स्वामीका पत्र समयपर आ गया. उसे खोलकर देखनेका लोभ, खुश हूं कि, मैं संवरण कर सका. चलते समय वह मैंने बंगलेके आदमीको दे दिया कि वापिस पहुंचा देना. अपनी ओरसे क्षमा प्रार्थनाकी साथ एक पंक्ति भी दी कि परिस्थितिवश देहली जा रहा हूं.

अच्छा नहीं मालूम हुआ. जैसे स्वयं न हूं, साधन हूं. पर सही हुआ कि पत्रसे पिंड छूटा....स्थिति अब क्या स्वरूप लेगी ? आचार्यका मुक्त होना. एक नया तत्व है. इसका परिणाम अनुमानमें नहीं आता. पर जयको निश्चिंत देखता हूं. जैसे अनागतमें उसे आशंका नहीं है. इससे आकांक्षा नहीं है. होगा सो ठीक होगा...भविष्यके प्रति यह वृत्ति पूरे जीवनमें से ही आ सकती है, मानसिक यत्नसे संभव नहीं है.

मालूम होता है, मुझे अब जयको छुट्टी देना और अपनेको अपने हाथमें लेना चाहिए.. इलाकी अनुपस्थिति स्वयं उसे और आचार्यको कैसी लगेगी ? देखता हूं दोनों ओर कष्ट है...कष्ट क्या शुद्ध करता है ? प्रेम की गति न्यारी है, सुख उसमें नहीं है. पर जो दुःख है सुखके सुखसे बड़ा है. उस व्यथाके आगे सब सुख तुच्छ है. पर व्यथा वह सहना दूभर होती है...अपनी अनुपस्थितिमें जय मुझे दिल्ली रखकर क्या सांत्वना पाएंगे ? इस विश्वासपर मैं भीग आता हूं. मेरी योग्यता शायद यही कि मैं कुछ नहीं चाहता, हरका हर कुछ धारण रखनेको खुला हूं. विदेशी होनेका यह लाभ है...देख सकता हूं, निसंगता क्यों शक्ति है...प्रेम ही पास रक्खे, शेष सब दूर कर दे, तो लगता है कुछ नहीं रह सकता जो आदमी को न मिल आए.

जा रहा हूं.

२४ मार्च—

सवरे ही आ पहुंचा, लेकिन शामतक किसीसे मुलाकात न हो सकी.

अखबारोंने आचार्यकी रिहाईको अधिकांश बड़े अभिनन्दनसे लिया है. उनके जीवन वृत छपे और चित्र-प्रमुख संपादकीयमें आशाकी गई कि उनसे राष्ट्रको स्थिरता प्राप्त होगी और नेताको सही सहयोग.

टेलीविजनपर उनकी रिहाईका दृश्य देखा. अपार जन-समूह था, जो द्वारपर लेने पहुंचा. आचार्य मुस्कराते और हाथ जोड़ते जनताको मिले. मालूम हुआ कि अभी वस्तीके आंचलमें ठहरे हैं जिवर दरिद्र वसते हैं. पत्रकारोंने घेरा तो कहा कि अभी आप मेरा प्रणाम लेकर संतोष मानें. अंधेरेसे प्रकाशमें आया हूं,देखनेमें आंखको कृपया अभी समय लेने दीजिए. आपकी दया होगी तो फिर मिलेंगे...दोपहर रेडियोने वताया कि आचार्य कल शिवधाम जाएंगे जहां उनके ठेठ भारतीय स्वागतकी योजना है. शिवधामको फिर तैयार किया जा रहा है और रेडियोके संवाददाताने आंखों देखा वर्णन दिया कि किस तरह कलकी वह उजाड़ जगह आज सुरम्य उद्यानका दृश्य उपस्थित करती जा रही है.

शाम छः वजे इलासे उसी वालकनीमें मिलना हुआ. वह सौम्य दीखी और अनुत्सुक. वातावरण भारी-सा लगा. पूछा, "आप यहां ही रहीं, आचार्यके पास नहीं गईं ?"

"नहीं"

उत्तर मानों वंद हो, मैंने हठात् कहा, "मुझे भी उनसे जानेमें उत्साह नहीं मिला. चाहता तो था."

"जी नहीं" इलाने जैसे प्रतिकार करते हुए कहा, "जय सोचते थे जाऊं. मैं ही नहीं जा सकी...सुनिए, आपको पसंद है यह जयका स्वामी के पास जाना ?"

मैंने कहा, "नहीं."

"आपने वरजा क्यों नहीं ?"

"वह तो मेरा अधिकार न था. लेकिन अपनी वात साफ कह दी थी ...आप नहीं रोक सकती हैं ?"

इलाने कुछ उत्तर नहीं दिया.

मैंने कहा, "आपसे परामर्श नहीं लिया ?"

वह चुप रहीं.

"कहा तो होगा ही."

जैसे प्रसंग समाप्त चाहती हों, कहा, "जी कहा था."

हठपूर्वक ही मैं वोला, "फिर ?—आप इन्कार करतीं तो वह जा सकते ?"

वह धीमी हो आईं, कहा, "मैंने कहा नहीं, कुछ नहीं कहा...फोन आ चुका था, और उन्होंने वताया कि स्वामीसे समय नियत हो गया है और...मैं क्या करती ?"

"आपने कुछ नहीं कहा ?"

"नहीं. अव सोचती हूं मुझे साथ जाना चाहिए था."

इलाकी स्थिति देखकर मुझमें सहानुभूति सघन हुई. कहा, "क्षमा कीजिए. आप दोनोंमें इधर कुछ अन्तर तो नहीं पड़ गया है ?"

वह मेरी ओर देख उठीं, वोली नहीं, जैसे चकित हों और विमूढ़.

मुझे कष्ट हुआ, कहा, "क्या वात है ?"

वोलीं, "वह सदा अकेले हैं, संकटमें और भी अकेले ...इस उनके स्वभावको मैं क्या कहूं ? छोड़कर कहां जाऊं ? कैसे जाऊं ?"

निश्चय वहुत कष्ट था. मैंने कहा, "आप उनके चिदानन्दके पास जानेमें अनिष्ट देखती हैं?"

उच्छ्वसित-सी वोलीं, "अनिष्ट नहीं,तो इष्ट कहांसे देख लूं ? मुझे असह्य है यह कि वह नीचे आएं. स्वामीका इससे मान ही नहीं वढ़ता अभिमान भी वढ़ता है. वह वैसे ही;अहंकारी हैं. यह योग उन्हें और उद्धत करेगा...लेकिन जयको कह नहीं सकती. वह विगड़ते हैं यदि याद दिलाओ कि पद उनका राजपद है. पदकी याद पर उनमें और गिर

आनेकी इच्छा होती है. दिन भर फुरसत नहीं पाते इतने राजा रहते हैं. बाद उसकी यादसे न चिढ़ें तो क्या करें ?...मैं डरती रहती हूं. कौन मन देखता है, सभी पद देखते हैं...एक मैं हूं...मुझसे भी सुनेंगे कि वह राज-पद न भूलें तो कितना उन्हें मर्मान्तिक कष्ट होगा...इससे करते हैं सो सब सहती हूं, कह कुछ नहीं सकती...बताओ क्या कहूं ?"

कहा "उन्हें नहीं, जाना चाहिए. क्या वह आपके मनको नहीं देखते ?"

"देखते हैं," इलाने जाने कैसी बिथाकी वाणीमें कहा, "पर मेरे लिए ही नहीं तो वह चिदानन्द जैसेके पास जाएं क्यों ? मेरा कष्ट देखते हैं, पर सहते हैं, क्योंकि मेरा हित चाहते हैं . बिलबर, जैसे हो उन्हें रोको मेरा हित कहीं और नहीं है, वह तनिक नीचे आते हैं तो मुझे प्राणांतक कष्ट होता है...दुनिया भला क्या कहेगी, कि जय...?"

मैंने कहा, "उन्हें अवकाश कहां ? और सवेरे जा ही रहे हैं."

"वही तो कि अवकाश ही नहीं है... फोनसे अभी थोड़ी देर पहले मुझे कहा कि श्री हुस्टन सवेरेसे आए होंगे बुला लेना, और मेरी ओरसे मांफी मांग लेना. मैंने कहा, अच्छा, और चुप रही. सोचती थी कि दो मिनटको आ जाते तो क्या था. बोले, देखो, अगर में आ सका. नहीं तो कह देना. वही साढ़ेग्यारह बजे रात मिलना होगा...तो रातको ही कहना, पर वह सुनेंगे ?"

"शायद अब कठिन है" और उधरसे जैसे उनका मन हटानेके लिए मैंने कहा, "लेकिन एक बात कहिए, आचार्यका आपको विचार नहीं आया ?"

उन्होंने मेरी ओर देखा. आंखोंमें जैसे याचना हो. बोली, "तुम पूछते हो ?...हां, विचार नहीं आया. कहांसे आए ? मुझे अवसर है विचार या अविचारका ?...फिर मैं पिताको कष्ट दूं ? मेरा दर्शन क्या उन्हें सुख पहुंचा सकता है ? बुलाई जाऊं, उससे पहले उनके पासमें किस मुंहसे पहुंचूं ?...और यह आदमी जय—बताओ कौन इनका है ? किसके भरोसे इसे छोड़कर जाऊं"

मैंने धीमेसे कहा, "आचार्यका कौन है ?"

बोली, "वह तो उत्तीर्ण हैं. वैराग्यमें राग रख सकते हैं...यह तो संसारी है. विराग यह जानता नहीं. राग कहां डाले, यह भी जानता नहीं. दुनियां का है, पर दुनियां बिल्कुल इसकी नहीं है. बापूके पास स्मृति तो है. इसके पास वह भी नहीं... अब बताओ मैं क्या करूं ?"

"होकर तुरन्त आ जाती." मैंने सुझाया, "कितने वर्ष बाद वह जेलसे आ रहे हैं. और नहीं तो उपचार ही सही, एक झलक दीख ही आती. पिताका मन क्या उनके आचार्य होनेसे भीतर मर गया होगा ? कहता हूं, नहीं इला, वह वहां बड़क रहा है. अच्छा नहीं किया कि तुम नहीं गई."

बोली, "नहीं, जान चली जाए, बिना बुलाए नहीं जा सकूंगी. सोचो, सन्तान काला मुंह लेकर उसीके पास कैसे जाए जिसके मनको उसने तोड़ा है. और जिसका मन अब भी उसके लिए प्यारसे भरा है... नहीं, स्वयं सब सह सकती हूं, उन्हें दुःख नहीं दे सकती."

ओह, क्या विधि है यह विधाताकी ! प्यारमें से आदमी कष्ट पाता है और कष्ट देता है, और कहीं किसी ओर किसीका बस नहीं चल पाता. संसारकी यह अपार पहेली कैसी है ! कैसा है यह विकट यज्ञ !

मैंने कहा, "वह शिवधाम जाएंगे, इन-उनको लेकर रहेंगे...तुम्हें विचार नहीं आता ?"

कहते समय जानता था मैं निर्दय बन रहा हूं. फिर भी जाने कैसे मैं इसमें संकटका कुछ समाधान भी देखता था.

सुनकर वह तिक्त हुईं, बोलीं, "नहीं आता, नहीं आता...पूछती हूं, कौन पिता पुत्रीको लेकर रह सका है?"

सुनकर मुझे धक्का लगा. यह बहुत अधिक था. लेकिन गहरा सच भी था. व्यक्ति कुछ कर ले, आत्मसे बढ़कर उसे कोई नहीं है. पिता,पुत्र, पति-पत्नी सब बाद हैं, स्वयं पहले है. आत्मकी परिपूर्तिके निमित्तसे ही अन्य उसके निकट तरतमतासे घनिष्ट हैं. अन्यथा सब दूर हैं, सब अलग हैं.

कहा, "मैं क्षमा चाहता हूं."

इला धीमी मुस्कराई, कहा, "नहीं, मैं इतनी निराली नहीं हूं. पत्र लेकर आदमी गया है. मैंने पितासे पूछा है कि क्या मैं याद की जाने योग्य हूं, और आ सकती हूं ?"

चित्तको समाधान मिला. कहा, "आपने यह पहिले क्यों नहीं कहा."

बोली, "अब भी कहते लज्जित हूं...वह क्या बेटी है जो बरसों बरस बाद जेलसे बाहर आते पिताके पास जाती नहीं, खत भेजती है ! लज्जाकी यह बात क्या मुंहपर लाने लायक है ?"

मैंने हार मानी. सच ही दुःखसे बड़ी कोई समझ नहीं है.

मैंने फिर जानना चाहा कि पीछे जयकी क्या स्थिति रही. मालूम हुआ, सांय-प्रातः प्रार्थनासे अतिरिक्त जयके साथ उसे एक क्षण नहीं मिला और प्रार्थनाके समय एक बात नहीं हुई. आखिर रात बिस्तरपर जा चुके थे कि इला पहुंची, पूछा, "सो गए ?"

अन्ध-नींदीमें थे, उठे, बोले, "इला !"

सुनती हूं, "तुम चिदानन्दके पास जा रहे हो ?"

"हां, निबटारा हो जाए."

उसके बाद पूछा गया और बताया गया कि पचीस तारीख नियत हुई है. उसी रोज जाना होगा.

सुनकर इला चुप हो गई और चुप ही बैठी रही.

जयने अन्तमें कहा, "इली, क्यों क्या बात है ?"

"जाना तय है ?"

"विलवरने तय ही तो करके बताया है."

थोड़ी देर इला फिर चुप रही. अन्तमें पूछा, "मैं चलूंगी ?"

जयने कहा, "तुम ! क्यों ? नहीं तो!"

इला फिर चुप हो आई और बैठी रही, बैठी रही.

जयने बहुत सहा. सहा न गया तो बिस्तरसे उठे, पास आए. हाथसे ठोड़ी लेकर चेहरा ऊपर किया और कहा, "इली, क्या बात है ?

आंखें उसकी वन्द थीं. सहसा कण्ठ भर आया. निकट था कि फूट पड़ती. लेकिन वह उठी, मुंह फेरा जयके हाथको एक साथ झटका और चलती हुई अपने कमरेमें आ गई. आते ही अन्दरसे चटखनी वन्द की और विस्तरमें पड़कर विसूरने लगी ..बीचमें अनुमान हुआ कि द्वारपर थपकी हुई है ..जय होंगे....फिर थपकी हुई...जय ही हो सकते हैं...लेकिन वह उठी नहीं . आंसू एकसाथ सूख गए, मान और रोष चहक उठा और वह उठी नहीं...प्रतीक्षामें रही कि थपकी फिर होगी... थपकी हुई, फिर हुई, फिर हुई.. अन्तमें प्रतीक्षा रही और उस ओरसे कुछ न हुआ. मानो थपकीवाला था कोई तो अव न था और इलाने तकिए को लेकर जोरसे मसोस डाला.. ऐसा हुआ जैसे कि अपनेको ही फाड़ देगी...पर सुन्न रह गई और फिर फूट-फूटकर रोने लगी...

यह सब वृत्तान्त ज्ञात हुआ, और ज्ञात हुआ कि आजके दिन सवेरे यथाक्रम वह प्रार्थनापर नहीं गई ..किसीने बुलाया भी नहीं ..दिन-भर वीतता गया.. और अव, वस कुछ पहिले, जयका फोन आया कि मैं बुला लिया जाऊं. सो इलाने बुला लिया है, और वह इस समय समक्ष है...

मुझे दुःख हुआ, इतना ही कहा, "कि रात जयसे वात होगी और मैं छिन्न और लज्जित, इलाकी उपस्थितिसे अपनेको तोड़कर भाग आया.

भाग आया, लेकिन इला मनसे दूर नहीं हुई. ये लोग जो ऊंची जगहोंपर हैं कितने विवश हैं. स्वयं होनेकी उन्हें उतनी ही कम सुविधा है. स्वयं जितने समाप्त हो सकें, क्या उतना ही उन्हें सार्वजनिक होने का अवकाश है ?

(रात साढ़े वारह वजे) अभी जयके पाससे आया हूं. उनपर व्यस्तता थी, खिन्नता न थी....मैंने वताया कि इला नहीं चाहतीं आप स्वामी चिदानन्दके पास जाएं.

जयने मुस्करा दिया, कुछ कहा नहीं.

स्पष्ट पूछा, "जाना आप स्थगित नहीं कर सकते ?"

मुझसे ही पूछ उठे, "कर सकता हूं ?"

मैंने कहा, "जाना कोई अनिवार्य नहीं है."

बोले, "कारण यही न कि मैं राज-पति हूं !...हो सकता है उसका कोई परिणाम न निकले. चिदानन्द सरल नहीं हैं...लेकिन और नहीं तो यही प्रगट होगा कि प्रमुख राज-पति नहीं, वह है जो प्रजाका है. यह सत्य ओझल रहा करता है और किताबोंमें बन्द. उसे जगाए रखना चाहिए और मैं यह कर सकता हूं."

मुझे यह सिद्धान्तकी सी बात अच्छी नहीं लगी. कहा, "सिर्फ इसलिए जाना होगा ? यह काम और तरह पूरा नहीं हो सकता ? प्रजाजन इतने पड़े हैं, दीन और दलित और दरिद्र. इसी नगरमें कम नहीं हैं. प्रजाके प्रतिनिधि होनेके लिए एक चिदानन्द ही नहीं हैं."

जय हंसे, बोले, "तुम जीते. लेकिन इलाका प्रश्न—उसके निबटारेमें मदद मिलेगी. कुछ तो होना है, इधर या उधर. टालना चलेगा नहीं."

मैंने बीचमें ही बात काटकर कहा, "आप इलासे सब क्यों नहीं कहते हैं ?"

"मैं नहीं कहता ! क्या यह सच है ?" कहते हुए मानो वह सोचमें पड़ गए. "हो सकता है वक्त नहीं मिलता. मुझे पता नहीं, शायद मैं डरता हू. जानता हूं कष्टमें है, पितासे बिछुड़ी है, लांच्छनाओंका शिकार है.—क्यों ? मेरे ही लिए तो.. मैं किस मुंहसे क्या कहूं ?"

उलझन समझ नहीं आती. इलाके पास लाजवाब होना पड़ता है, यहां आऊं तो यहां चुप हो जाना पड़ता है. फिर भी उलझन है. दीखता है सहना ही धर्म है—जो हो, सब सहना. धर्म धारण करना है. सब धारण किए चलो. हो सकता वही है जो होता है. कष्ट दूर नहीं किया जा सकता, झेला ही जा सकता है. इससे सहारनेसे अलग दया-माया

भला क्या है ?

जय भावमें डूवे नहीं रहे. वोले, "वह छोड़ो. इलाको आगे-पीछे आचार्यके पास जाना है. उन्हें अव आवश्यकता भी होगी. उनका इतना प्रभाव है, इतनोंको उनसे आशाएं हैं. लोग उन्हें छीनेंगे, उनपर झपटेंगे. उनका जो इतना नैतिक महत्व है सो उसका उपयोग अपने-अपने लिए लेना चाहेंगे. आग उनके पास है, सो अपनी-अपनी हांडियां लेकर पहुंचेंगे कि दाल अपनी गला सकें. ऐसे समय इलाको पास होना होगा. कौन उनको संभालेगा ? भला था जो भीतर थे. पर, अव मेरे लिए भी उन्हें वहां सुरक्षित रखना शक्य न था...उनके शिवधामको भरपूर वनाना होगा, कि वाहरके स्वार्थ सहसा उनपर हाथ न डाल सकें. वह महान हैं पर सरल. सरलता सही है, पर शर्त पर कि तुम्हारे पास कोई वड़ा योग हो जिसमें सवका उपयोग ले लो. नहीं तो उपयोग दूसरे लेते हैं और तुम स्वयं भी नहीं रह पाते. यह साधुता अधिक-से-अधिक तुम्हें तुम रखती है, सव नहीं वनने देती. व्यक्ति और वैयक्तिक हो आता है, सामष्टिक होना उसका दूर होता जाता है...छोड़ो, लेकिन पहले चिदानन्दको समझना है. वह आचार्यका वल चाहेंगे. आचार्य अपने वलको स्वत्व नहीं मानते. वह सवका वन आता है, स्वामी चिदानन्दके भी काम आ सकता है. उस सम्भावनाको वचाना होगा...जानता हूं, चितानन्दका अपने ऊपर रोप वढ़ानेमें ही मैं सफल हूंगा और यह अच्छा होगा. नहीं, वहां जानेमें हरज नहीं है, टालना भी उचित नहीं है."

एकाएक मैंने कहा, "इलाको साथ ले जाएं तो ?"

जय चौंके. जैसे अव ज्ञात हुआ कि कोई दूसरा भी था और वह अपनेसे ही वात नहीं कर रहे थे. वोले, "इला ! वह क्यों जाएगी ?"

वाक्य जोरसे आया. मैं पीछे हटा. रात चांदनी थी और गरमी उसमें से जा चुकी थी. छत खुली थी और इस समय हवा हलकी चल निकली थी. मानो प्रश्न डालकर मैंने प्रवाहको छेड़ दिया. कुरसी उन्होंने पीछे की, खड़े हुए, और चलकर अपनी कुरसीके पीछे आ गए. दोनों

ओरसे कुरसीकी पुश्तको थाम मेरी ओर तनिक झुके-से वोले, "नहीं. उसे कहीं नम्र होनेका कारण नहीं है. उसने कोई अपराध नहीं किया. क्या मैं चिदानन्दको जानता नहीं हूं ? अपराध मेरा है, मैं अपराधी हूं. और देखूंगा चिदानन्दके पास क्या दण्ड है जो मुझपर समाप्त नहीं हो सकता. एक अवलाके कष्टको वह क्यों वढ़ाए जाना चाहता है...समझता हैं, राज-पति हूं इससे निर्वल हूं. हां, राज-पतिको निर्वल होनेका कारण है. लेकिन मैं जयवर्धन हूं. जयवर्धन अपना है, वह विधानका नहीं है. राज-पति विधानका कैदी हो और सव सिद्धांत उसपर आकर टूटनेका हक रखते हों, पर जयवर्धन मुक्त है. और शायद चिदानन्दने उसे जाना नहीं है—वही उसे जताने जाना होगा."

कहते-कहते कुर्सीपर हाथ केवल टिके रह गए थे और वह सीधे सतर हो आए थे. अव वह मुझसे मुड़कर कुर्सीके आस-पास टहलने लग गए. वोले, "आदमी पदसे उतना भला नहीं कर सकता. आत्मसे हटकर ही पद पर वैठा जाता है. वहां आत्म साक्षात्कारका अवसर नहीं, न पूरे आत्म-विसर्जनका. समझौता करना पड़ता है और उस कर्त्तव्यको जो आत्मिक नहीं है ओढ़कर चलना पड़ता है... अपने नेहरूने यह किया और उसी हदतक उससे भला हुआ. जहांतक वह स्वयं रहा. विदेश-नीतिमें अवसर था कि वह स्वयं हो, वहां लाभ भी हुआ. पर वाकी राष्ट्रको साथ रखने, कांग्रेसके अधीन उसे एक रखने और उसका भविष्य संभालने रखनेके अतिरिक्त मानसिक कर्त्तव्यको जो उसने पहने रहना जरूरी समझा, सो उसे भारी रहा और देशको भी भारी पड़ा..."

वह टहल रहे थे, निगाह नीचे थी और किसी ओर न देख रहे थे. जैसे न मैं था, न कोई था, उन्हें अन्दरकी ही उलझन थी.

"यह गलत है, कर्त्तव्य कोई आत्मसे वाहरसे नहीं आ सकता....गांधी नेहरूको यह क्यों नहीं सिखा गया ?...पर नेहरूने क्या गांधीके जीनेको अन्ततक देखा न था ?...और मरनेको भी ?...क्या नहीं देखा कि गांधी के लिए महान् तुच्छ था और तुच्छ महान्से कम न था. फिर नेहरू...

पर सिखा पाता कौन है ?...मैं जो यहां बैठा हूं क्या मुक्तिके लिए बैठा हूं? भीतर मोह हो तो ऊपरकी सीख क्या करे ?...नहीं, मुझे स्व-धर्मसे इधर उधर हटकर नहीं चलना है. राज-धर्म किसीके लिए स्व-धर्म नहीं है... राज्य है, देश है, दुनिया है, सब है, लेकिन ब्रह्मान्ड भी है. सब ब्रह्मांडमें होकर एक है. और जिससे ब्रह्मांड चल रहा है उसे नहीं छोड़ना होगा.. राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रकी चिन्ता वह झूठ है जो इधर चलाती और उधर भरमाती है. राह सीधी है और एकाग्र...गांधीका ईश्वर नहीं तो अपना अभ्यन्तरतो सबके पास है. उसकी सुनते-सुनते ही एक दिन वह आवाज सुनी जा सकेगी जो अभ्यन्तरादभ्यन्तरमें से आती है. वह नीरव है, निश्-शब्द...नहीं राज-काज होता रहेगा. हूं तबतक उसमें चूक न होगी. पर कान रखना है उसपर जो आवाज उतनी नहीं जितनी धड़कन है. वह सुनी नहीं जा सकती, पर सुननी है...

जानता था मैं साक्षी बन रहा हूं उसको जो निषिद्ध है. उसका उल्लेख नहीं हो सकता, फिर भी वह मेरे भीतर जलता-सा अंकित है. और यहां लिख रहा हूं तो इसलिए कि किसी दूसरेकी आंखके लिए नहीं है.

"...इला स्वतन्त्र है. पर स्वतन्त्रता क्या कहीं है ? स्वतन्त्र बस वह है जो सब है. सब कहीं हो, अन्य जिसके लिए कुछ रह न पाए, वही स्वतन्त्र. खण्डित "मैं" का तन्त्र भला कभी चला है, चल सकता है ?...व्यक्ति स्वतन्त्र,समाज स्वतन्त्र, राष्ट्र स्वतन्त्र, राष्ट्र-राज्य तो सार्वभौम भावसे स्वतन्त्र,सौवरेन, एकच्छत्र—यह क्या पागलपन है ? जैसे एकका दूसरेसे योग ही न होनेवाला हो. नहीं, कहीं किसीकी स्वतन्त्रता नहीं है. सब परस्परमें अनुबद्ध है. विकासका वह बचपन था जब स्वतन्त्रताको हमने आदर्श माना. बचपन आज भी बीत नहीं गया. पर अब इतने तो हम बढ़ आए हैं कि बचपनके रूपमें उसे पहचान लें...इला स्वतन्त्र नहीं है, मैं स्वतन्त्र नहीं हूं. कोई स्वतन्त्र नहीं है. सब युक्त हैं और अन्तमें परस्पर एक नियतिकी डोरीमें पिरोए हैं...सत्य एक है, उसका नियम एक है और उससे कहीं छुटकारा नहीं है. उस अमोघ एकमें हमें निस्व होना है.

एक जो ब्रह्म, जिससे दूसरा कुछ नहीं. उसीमें प्रेम, उसीकी चर्या. अर्थात ब्रह्मचर्य. सबमें अनुराग, न राग किसीमें, न ही द्वेश. रागका विस्तार अनुराग है, रागका नाश नहीं है. नाशकी कोशिशमें से द्वेप आएगा. नाश असम्भव है. इससे वि-राग नहीं अनु-राग...इलाको दबनेकी, झुकनेकी कहीं आवश्यकता नहीं है. उसके पास प्रेमका ऐश्वर्य है. कष्टकी कीमियामेंसे वह अनुरागकी परिणति पाकर विकीर्ण होता रहा है... सुनो, इला जा सकती थी, अब नहीं जा सकती. दो कारण. एक, मैं जा रहा हूं. दो, आचार्य आ गए हैं."

कहते-कहते सहसा रुके. मुझे अनाश्वस्त देखा, कहा, "क्यों स्पष्ट नहीं है ?"

मैंने चाहा कि वह उस ऊंचाईपर तने-से न रहें, नीचे सहज हो आएं. कहा, "थक गए होंगे आप, बैठिए."

उन्होंने मुझे देखा. जैसे ढीले हुए, मुस्कराए, कहा, "धन्यवाद. हां, थक गया हूं." और आकर सामने कुर्सीपर बैठते हुए शरमाए-से बोले, "कभी गरमा आता हूं. ख्याल न करना."

मैंने कहा, "मैं ऋणी हूं. ये क्षण, जब आदमी अपनेमें डुबकी ले आए, धन्य ही होते हैं. जीवन जैसे नहा आता है."

बोले, "काव्य न रचो, भूल जाओ."

मैंने कहा, "जैसे आज आप घड़ी दिखाना भूल गए!"

"नहीं, यह अब देखो, सवा बारह हुआ."

"यानी मेरे निर्वासनका समय !"

"और मेरे भी, पर मिनटका अवकाश है, और तुम्हें कहना है कि सोचना, मूल्य कहां है? उसमें जिसे समाज कहते हैं, या वहां जो आत्म है? समाज मानसिक तत्व है, आत्म अनुभूत. मूल्य क्या निरपेक्ष होगा, आत्म निरपेक्ष ? बात जरूरी है, क्योंकि इसका सम्बन्ध है निर्णयसे कि धन ऊपर हो कि जन ? आगामी व्यवस्थाके बारेमें, लगता है, प्रकाश इसी मल प्रश्नके निर्णयमें से मिलेगा. प्रश्न है कि जयवर्धन वह सच है जो दुःख

भोगता है, या वह जो राजपदसे नियमन करता है ? भोक्ता स्वल्प है, नियंता गौरवान्वित है. पर प्रश्न है, कौन सच है ? वही तुम्हारे सामने रखता हूं. राजपति होकर मुझे विचलनकी आवश्यकता नहीं, आदेश अविचल होते हैं. जय होकर मैं तनिकमें चलित होता हूं. गरमा पड़ता हूं, या क्षणमें भीग आता हूं. जानता हूं, दूसरी स्थिति मुझे निगल लेती है, पहली छूती भी नहीं. इससे उत्तर मुझे तो एक तरह स्पष्ट है. तुम सोचना और कहना, क्योंकि सामने चुनौती है. आगामी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और विधानका प्रश्न है और निकट हम लोग मिल भी रहे हैं."*

मैंने चाहा कि—

लेकिन वह उठ बोले, "अभी नहीं, सोचके कहना. अभी तो—" और कहकर घड़ी अपने सामने की.

और...लिखते डेढ़ घण्टा ऊपर और हो गया है. ढाई हो रहा है. चलूं, छोड़ूं, नींद लूं.

२५ मार्च—

उठते ही ध्यान आया, चाहूंगा, चिदानन्दकी मुलाकातके समय में भी रहूं. साम्मुख्य यह स्मरणीय होगा. फौरन लिखकर पुर्जा भेजा और प्रतीक्षामें हो रहा.

सवेरेके अखबारोंके पन्ने पलटे. मन नहीं लगा, यद्यपि उनमें सनसनीकी बातें कम न थीं. विरोध उमड़ रहा है, उत्पात बढ़े हैं...नाथके दलकी एक बड़ी बैठक है...भारतके बाहर भी बेचैनीकी कुछ खबरें हैं. लेकिन वे हों, मैं नहीं हूं...सच, मैं यहां क्यों हूं ? मालूम होता है कि जिस भारतका खिचाव था वह ओझल हो रहा है. वृक्ष सामने इतने आ गए हैं कि वन खोया जा रहा है. देख सकता हूं कि दृष्टिके लिए दूरी

* बीसवीं शताब्दीके अन्तिम सप्ताहमें हुए पांच परम-सत्ताओंके सम्मेलनकी ओर संकेत.

क्यों आवश्यक है.

प्रतीक्षा कटी तव जव समय ही समाप्ति पर था. फोन आया, "विलवर, यह क्या ? और क्यों ?"

मैंने पूछा, "क्या उसमें कुछ अनुचित है ?"

वोले, "नहीं, लेकिन चिदानन्द शायद न चाहेंगे."

"आपको तो आपत्ति नहीं ?"

"नहीं, पर रहने दो...ऐसे क्या वहुत ही आतुर हो ? तो जो चाहो. लेकिन—"

"कहिए ?"

"—अच्छा होता यहीं रहते."

मैंने कहा, अच्छा. जैसे मैंने स्वीकार किया और मैं चुप हो गया. नहीं पूछा, क्यों. आवश्यकता ही न थी. मनमें गहरी तृप्ति थी, पर अच्छा भी न लग रहा था.

तीसरे पहर इलाने याद किया. अत्यन्त समाहित दीख पड़ी. चिन्ता का लेश नहीं. यह मेरी आशासे उलटा था, कहा, "आखिर आपने उन्हें जाने दिया!"

वोली, "आपको तो नहीं जाने दिया!"

चेहरेपर आनन्द था और व्यंग. मैंने कहा, "देखता हूं आपमें अव शंका नहीं है. मुझे तो चिदानन्दकी ओरसे आश्वासन नहीं हो पाता."

वोलीं, "फायदा ?.. गए तो गए, और होना होगा सो होगा."

मैंने कहा, "जानती हैं मैंने जाना चाहा था ? उन्होंने इन्कार कर दिया."

इलाने मुस्करा दिया. जैसे विना जाने जानती हों.

मैंने पूछा, "आप आचार्य—अपने पिताके पास कव जा रही हैं ?"

सप्रश्न वोलीं "क्यों ?"

"जयने आपसे नहीं कहा ?" मैं वोला, "यों उनके मनमें यह निश्चय है."

बोलीं, "और मनका निश्चय आपसे कह गए हैं ? या आप अन्तर्यामी हैं !"

यद्यपि उनके चेहरेपर कठोरताका आभास न था, फिर भी उनके उस उत्तरको मैं कहीं न रख सका. क्या वह झिड़की थी ?

मैंने कहा, "वह खुद कहते थे."

"क्या कहते थे ?"

मैं संकुचित हुआ, हठात कहा, "यही कि आचार्यके पास कोई चाहिए जो उन्हें बचाए. सब तरहके स्वार्थ झपटकर उन्हें नोचना चाहेंगे. इसलिए—"

वह सुनती रहीं. चेहरा गम्भीर था. उस परसे कुछ पढ़ा नहीं जा सकता था.

मैं कहता गया, "आचार्यके लिए तो यह आवश्यक है. यों भी सुविधाजनक है चिदानन्दका झगड़ा मिटेगा. और सोचते थे कि आपका भी कष्ट कम होगा."

"मेरा कष्ट !"

कहा और कहकर चुप हो गईं. क्षणके एक भाग तक चुप रहीं, फिर हंस आईं, अपनी जगहसे उठीं, कहा, "लो मैं भूल गई, अभी आती हूं" और कहती हुई वहांसे अन्तर्धान हो गईं.

बड़े कमरेमें मैं अकेला रह गया. मुझे असमंजस हुआ. इलाके जाने का कारण न दीखा और वह बड़ा आकस्मिक जान पड़ा. कई मिनट हो गए, अन्तमें उनकी विदेशी परिचारिका आई और कहा, 'महा माननीयाने क्षमाकी याचना की है और कहा है, अभी आएंगी.' फिर मुझ अकेलेके लिए वहां काफी इत्यादि की व्यवस्था हो निकली. परिचारिका से क्या पूछता, कहा कि सामान यों ही रख दें, स्वयं बना लूंगा. जैसे वह समझी नहीं और बराबरमें ट्रे थामे खड़ी रह गई. सामान काफी था, केतली बड़ी थी, प्याला एक था. उसके असमंजसको देख मैंने केतली को उठाकर काफी बनाते हुए हठात पूछा 'क्या महा माननीया नहीं आ

रही हैं ?'

अस्पष्ट-सी माफी मांगी और वह चली गई. प्याला रखा रहा, मैं बैठा रहा, पांच-सात-दस मिनट और हो गए. मुझे न सूझा क्या हो. परिचारिका फिर आई, फिर गई, और अब आई तो केतली साथ थी. उसी दूसरे कपमें ताजा गरम काफी बनाकर दी, कहा, 'महा माननीया अभी आती हैं.'

तभी इला वापिस आई. व्यवस्था पूर्वक अपने हाथसे लेकर दूध चीनी काफी में डाली और कहा, "लीजिए न. लीजिए, उठाइए."

मैंने इलाको देखा. मानो भरपूर देख लेना चाहा. वह प्रसन्न थीं, कहीं कुछ संदिग्ध न था. प्रश्न पूर्वक मैंने कहा, 'इला ?'

झटपट बोलीं, "इतने समय में बेकार नहीं रही...लीजिए, लीजिए."

लिया तो, पर मेरे मुंहसे निकला, "नहीं, मैं समझा नहीं."

"समझिए नहीं—यह लीजिए." कहकर प्लेट मेरी ओर बढ़ाई.

प्याला हाथमें ले लिया, प्लेटसे भी कुछ उठा लिया, और निगाह काफीमें डालकर मैं हठात गम्भीर हो आया.

एकाध मिनट हो गई. बोली, "क्या बात है ?"

मैं काफी पीता रहा, जैसे व्यस्त हूं, कहा, "कुछ नहीं."

बोलीं, "कुछ कागज थे दस्तखतको और याद आया कि एक जरूरी फोन भी करना था."

मैंने सुन लिया.

"—यह और लीजिए. लीजिए न."

आज्ञा पालनमें चुपचाप कुछ ले लिया. कहा, "आप नहीं लीजिएगा ?"

"धन्यवाद."

देखा, धन्यवाद तो दिया, लिया कुछ नहीं. जैसे मैंने उस ओर निगाह न दी और काफीके प्रति मानो और लगन एवं कर्त्तव्यपूर्वक

दत्तचित्त हो रहा.

अंतमें वोलीं, "आज क्या हुआ है आपको ?"

मैंने कहा, "सच कहिए, मुझसे क्या वचाना चाह रही हैं ?"

"क्या मतलव ?"

मैंने कहा, "वह तो मैं नहीं जानता. पर कुछ है अवश्य."

हंसकर वोलीं, "छोड़िए, छोड़िए."

आगे मैंने पूछा नहीं, काफी पीए गया...कुछ है जो भारतमें ही दीखता है. यों तो स्त्री सव जगह एक है, लेकिन भारतकी नारी कहीं विशिष्ट भी है. अद्भुत मालूम हुआ. प्रश्नकी आवश्यकता न रह गई थी, न उत्तर की. जाने कैसे स्पष्ट हो आया कि वह नारी जयकी कुशल क्षेमकी सूचना आए विना उपवासिनी ही रहेगी. कुछ भी इसमें व्यतिरेक नहीं आ सकेगा...व्यर्थ-सी ही वात थी, लेकिन उसीने हठात् एक गम्भीर सार्थकताकी अनुभूति मेरे सारे अंतरंगमें भर दी और मैं चुपचाप अपनी काफी पीता रहा और जो मेरी ओर वढ़ाया गया उठाकर उसमें से कुछ खाता भी रहा.

यह क्या वस्तु है जो एकके मनसे निकलकर दूसरेके लिए रक्षाके कवचका सा काम दे आती है ? अतर्क्य हो, पर देखता हूं कि निश्चय ही वह अमोघ भी हो सकती है. गद्गद् हो आया. जान गया क्या तत्व है जो भार देता है और जो उस भारको धारण करनेकी शक्ति भी देता है. महाशून्यमें जो ये नाना ग्रह और उपग्रह, पिण्ड और ब्रह्माण्ड परस्परकी अपेक्षामें अवस्थित हैं, सो क्यों? देख सका कि सव इसी तत्त्व-की महिमा है. उसके ऐश्वर्यकी, क्षमताकी कहीं सीमा नहीं है...

पूछा, "वह आपको खवर देंगे न ?"

हंसकर वोली, "क्यों देंगे ?"

"आपने कह नहीं दिया ?"

वोली, "उसमें क्या कहना था !"

फिर विचित्र मालूम हुआ. यह स्नेह जो किसी ओरसे दावा नहीं

रखता, मांग नहीं करता, जो निश्शंकित है और निक्कांक्षित, जो अपनी ओरसे दूसरे 'स्व' को और परिपूर्ण ही करता है, जिसमें आरोप नहीं है न अपेक्षा, जो आत्म-व्यथामें तुष्ट है और वहीं कृतार्थ, उस वीतरागी प्रेमको समझना कठिन होता है. जिसमें स्पर्द्धा है और आग्रह, उद्वेग है और उत्ताप, जिसमें दाह है और आह, दीखता तो अधिकांश वह है. इसीसे कठिनाई होती है.

"वह स्वामीके यहां ही ठहरेंगे, आपको मालूम है ?"

"नहीं"

"कबतक का कार्यक्रम है ?"

"एक सप्ताह सुनती हूं. और भी दक्षिण जाएंगे. कन्याकुमारीका दर्शन करके लौटनेकी बात है."

जैसे सब सामान्य हो, सहज भावसे ही दिया जा रहा हो. नहीं जानता मुझे क्या अपेक्षा थी. मानो कहीं आतुरता, असमर्थता, मैं देखना चाहता था, वह कुछ नहीं मिला. तो प्रसन्नता तो हुई, पर जैसे कहीं निराशा-सी भी जान पड़ी. किन्तु समक्ष ही देख पाया कि प्रेम विह्वलता ही नहीं देता, अतुलित सामर्थ्य और संतुलन भी देता है. समझता था कि इलाको मेरी आवश्यकता होगी, लेकिन उलटा ही अनुभव हुआ. मानो इला ही बदली थी. वह न थी जो जयके समय थी. मानो अनुपस्थितिमें वह और ही थी. मानो कर्तव्य-वश ही मुझे बुलाया गया था, यों मैं सहज भावसे अनावश्यक हो सकता था. यह अनुभव मेरी अहंता को प्रिय नहीं हुआ यद्यपि शुभ था. ध्यान आया जय का. उन्होंने जो यह चाहा कि उनकी अनुपस्थितिमें मैं रहूं, सो क्या उनको कुछ और आशा थी ? यह कि मैं सहारा हूंगा ? या कि वह जानते थे और चाहते थे कि मैं यह नया अनुभव पाऊं ?

फिर कब मुलाकात समाप्ति पर आ गई कुछ पता न चला. मैं और बातोंके लिए खाली न रह गया था. एक गहरी अनुभूति मानो मुझ समूचेको डसकर भीतर बैठ गई थी. विरहमें प्रेम इस प्रकार

व्यक्तिको और भी परिपूर्ण कर आ सकता है, इसका अनुमान तो था पर अनुभव सर्वथा नया था. मालूम होता है कोई सामर्थ्य नहीं जो विरही प्रेम व्यक्तिमें न जगा सके. देख सका कि भक्त किस शक्तिसे हंसते-हंसते शहीद हो सकता और हर यातनामें भगवानके प्रेमको देख सकता है. तब कष्ट ही उसे भगवानका भोग हो आता है.

...शामको घूमने निकल गया. लौटकर आया तो विशेष अपेक्षा न थी कि इलाकी ओरसे मुझे जयके सम्बन्धमें कोई सूचना मिलेगी. तो भी अब बारह है और मैं सोया नहीं हूं और सच ही अबतक कोई सूचना भी नहीं आई है.

अब इस समय भी वही बात मनमें है. परिपूर्ति प्रेममें है. मानो वहां इच्छा तकका शमन है. वह है तो बाहरका कोई आघात आघात नहीं रहता. तब इतना स्वास्थ्य है कि प्रहार कोई घाव नहीं देता, रस देता है. ऐसा प्रेम अन्तमें श्रद्धा है. उससे अभाव भर जाते हैं और त्रुटि कहीं रह नहीं जाती...

२६ मार्च—

अखबारोंसे मालूम हुआ कि जय डेढ़ घण्टे स्वामी चिदानन्दके आश्रममें रहे. घण्टा भर स्वामीसे एकान्तमें बातचीत हुई,अनन्तर आश्रम वासियोंने उनका अभिनन्दन किया. उत्तरमें जयने कहा, 'आपकी यह संस्था, और दूसरे आश्रम भारतीय संस्कृतिकी परम्पराकी कड़ीमें हैं और उनसे वह आदर्श हम तक सुरक्षित चला आ रहा है, जो समाज निर्माण की दृष्टिसे ध्रुवका काम दे सकता है.' उन्होंने आश्रमके संस्थापक स्वामी चिदानन्दके प्रति प्रशंसात्मक आभार प्रदर्शित किया, कहा, 'ऋषिका स्थान भारतीय जीवनने ऊंचा रखा है. सम्राट युद्ध जीतता हो, वासनाओंको ऋषि जीतता है. जेता वही है. वास्तव मूल्यकी इसी आस्थासे

इतिहासकी सब उथल-पुथलमेंसे भारत अचल और सनातन रहता आया है.'

खबर है, वापिस आते समय हल्की दुर्घटना हो गई. चोट विशेष तो नहीं आई लेकिन हैदराबाद वाली आम सभामें पहुंचनेमें जयको आध घण्टेसे ऊपर देर हो गई. डाक्टरोंकी सलाहके विपरीत वह सीधे ही सभा-स्थल पर गए, जहां दो लाखसे ऊपर लोग उनकी उत्कण्ठामें बैठे थे. दुर्घटनाकी सूचनासे उत्कण्ठा व्याकुल थी. जय हाथ जोड़े, मुस्कराते हुए, मंचपर आए तो देरतक घोर जय-ध्वनि होती रही...भाषणकी लम्बी रिपोर्ट थी, पूरी ही पढ़ गया...मानता हूं जय को. हार्दिकता ही शायद श्रेष्ठ नीति है. गीताने कर्म-कौशलको योग कह दिया है...भाषणका कुछ अंश बड़ा ही सूचक है. जयके मानसकी और व्यक्तित्वकी गहरी झांकी देता है. भाषणके ढंगसे लगता है, वह भीड़से नहीं बोलते, मानो उसके अलग-अलग आदमियोंसे बोलते हैं. दोनोंमें अन्तर है और अन्तर मौलिक है...राज्यके बारेमें उन्होंने कहा—

'...वह (राज्य) आवश्यक बुराई समझा जाता है, हमें उसे अनावश्यक करना है. बुराई वह है इसलिए कि बेजान है, मशीनकी तरह है, मन उसमें नहीं है...आप हम सब जानदार हैं. इसलिए किसीके अधीन नहीं स्वाधीन रहना चाहते हैं. स्वाधीनता सबका हक है. साफ है, राज्य एक अधीनता पैदा करता है. कह लो कि लोकतन्त्रमें वह अधीनता अपनी निजकी ही है, यानी स्वाधीनता है. पर चुनावके गिनतीके दिनोंमें, जब हर आदमीसे मत चाहा जाता है, यह भावना कुछ जगी दीखती है. तब भी वह मुक्त नहीं होती. बादकी तो बात ही क्या ?...तो यह सब इसलिए कि राज्य एक लम्बा चौड़ा लवाजमा है. फिर वह अपनेमें एक काम बन गया है ! इसलिए लोग चाहते हैं कि और सब कामसे छुट्टी पा जाएं, राज्य करनेका काम ही एक उनका हो जाए. चाहिए यह कि वह अलगसे अपनेमें कोई काम रहे ही नहीं. जैसे मैं हूं,—क्या हरज है अगर मैं चार-छह घण्टे खेती करूं ? लेकिन आप जानते हैं यह मैं

नहीं कर सकता हूं. क्यों नहीं कर सकता हूं ? इसलिए कि एक बहुत बड़ा काम, जो राजपतिका है, मेरे पास करनेको हो आता है. मैं चाहता हूं और आप सब लोगोंको चाहना चाहिए कि जल्दी-से-जल्दी यह सब राजकीय काम जो बड़ा और ऊंचा और शानदार समझा जाता है, फालतू बन आए. गांवमें अब भी पंच होते हैं और उनके फैसले चलते हैं. पंच वे हम-आपमेंसे ही होते हैं, उसके लिए तनखा नहीं पाते हैं. पंच हैं इसलिए यह नहीं कहा जाता कि तुम सब काम छोड़ दो और आलसी बन जाओ...जमाना था जब राजाका काम ऐशमें और ऐश्वर्यमें रहना था. कभी हुआ तो लड़ाईमें मारने और मरनेका काम भी कुछ हो जाता था. अब हमको उस चीजपर हंसी आ सकती है, पर तब बड़ी महिमा थी... लेकिन जिसको लोक-राज कहते हैं उसमें भी कुछ वैसी बात चले, और चल तो रही है, तो क्या वह हंसीकी बात नहीं है ? चाहिए कि हम सब आपसमें इस तरह बरतें कि सरकारी काम फिजूल बने और खतम हो. राज-का काम करे वह मेहनतका काम भी छोड़े नहीं. सन्तोंको हम याद करते हैं, फकीरोंको यहां शाहनशाह कहा जाता है, तो इससे उनके कामिन्दा बने रहनेमें कोई दिक्कत नहीं हुई. कबीर साहब जुलाहे थे यह तो आप जानते हैं. लेकिन यह कम जानते हैं कि गांधीजीको भी जब मौका आया तो उन्होंने अपनेको जुलाहा कहा और लिखाया. समाज-वादी समाज और समाजवादी राज्य और लोक-शाही हुकूमत वगैरह वगैरह शब्द तो हैं. पर सच यह है कि हजूर और मजूर दो नहीं रहने चाहिए. हजूरकी जरूरत हो सकती है, पर उस कारण वह मजूर न रहे यह जरूरी नहीं है. हमारे मनमें, भारत भरके मनमें, सदा राम-राजकी बात रहती आई है. यह हमारा राज राम-राज्य तो नहीं है. तो क्या राम-राज्य कभी होनेवाला भी नहीं है ? हम भारतके लोग यह मानें तो हमपर धिक्कार है. कम-से-कम हमारी कोशिश तो यह रहे कि राम-राज्यको अपने बीच हम प्रत्यक्ष कर सकें. उसका यत्न होते रहना चाहिए. तब समाजवादी और दूसरे सब वादी शब्द बीचमें ही छूटे रह जाएंगे. और अच्छा होगा

क्योंकि हमारे दिमाग़ वोझसे हल्के होंगे...'

इसी तरहकी वातोंके वीचमें उन्होंने अपनेको लिया और कहा—

"...मैं आप लोगोंके सामने ऊंचे खड़े होकर वोल तो रहा हूं. पर मैं शरमिंदा हूं. एक तो देरसे पहुंचा और आपको विठाए रखा, यह शरम छोटी नहीं है. राहमें गिर पड़ा और चोट खा गया, यह वहाना चलना नहीं चाहिए. आप इतने भाइयोंका सवका आव-आव घण्टा खराव हुआ. हिसाव जोड़िए, कितने लाख घण्टे हो गए. तो यह वहुत वड़ी वरवादी है. लेकिन मैं गहरी शरमकी वात करूं. मैं भारतका हूं और उसकी रीति-नीति मानता भी हूं. अभी स्वामी चिदानन्द जीके पाससे आ रहा हूं. वह तो ऋषि हैं. मैंने उनसे भी कहा, आपसे भी कहता हूं, कि कुछ मेरे लिए उपाय कीजिए. अपने तीसरे पनमें मैं चल रहा हूं. साथ लगा चौथा भी आ ही रहा है. चौथा होने पर तो निश्चय ही मुझे सन्यास ले लेना चाहिए. वह तो शायद हो भी जाएगा, लेकिन इस तीसरे पनमें वताइए वानप्रस्थ मैं कैसे लूं ? एक तो आप सव लोगोंने मुझे राजकी कुरसी पर चढ़ा रखा है. आप सव मदद करें तव तो मैं उससे छूटूं. आप जानते हैं उस कुरसीमें चिपक है. लोग इसीसे उसकी इच्छा करते हैं. पर दूसरी वात वड़ी है. वह वड़ी वाधा भी है. गृहस्थ ही जो न हो उसे वानप्रस्थका हक कैसे आए...चिदानन्द स्वामी इन चीजोंको जानते हैं. इसलिए मैं उनकी शरण गया. कहा, 'ढंगका नहीं तो वेढंगका गृहस्थ भी आप मुझे न मानेंगे ?' (हर्षकी और जयकी ध्वनि)

'....भाइयो, मेरा यही भाग्य रहा है. कुछ मेरे साथ ढंगका नहीं हो पाया...लेकिन आप मदद करेंगे. मैं आपको मानता हूं. शास्त्रोंको मानता हूं जिन्होंने हमें टिकाए रखा है... लेकिन शव्दसे उनकी आत्मा वड़ी है. शव्द वदलते और पुराने पड़ते हैं, आत्मा अमर रहती है. शास्त्रोंका सार जीवनके अनुभवका सार ही है. उमर होती जाए तो जगकी चाह तभी कम होती जानी चाहिए. उमरके साथ हल्के-हल्के तवीयतको भगवानकी तरफ होते जाना चाहिए...यह शास्त्रोंमें

है. जीवनका मर्म भी यही है. मैंने चिदानन्दजीसे कहा कि शब्दकी बात आप जानते हैं. विधिवत गृहस्थ हूं या नहीं हूं, यह आप ही देखें. जो जो कहें सब ठीक है. लेकिन अपने मर्मकी तो कहने दीजिए. दर्द है इसलिए कहता हूं कि जो आसन मुझे दिया गया है म उसे छोड़ना चाहता हूं...बिना आपकी अनुमतिके, बिना सब लोगोंके सहारेके यह नहीं हो सकता है. क्योंकि आप स्वाधीन हैं, में नहीं हूं. मैं आपके अधीन हूं. चढ़ाया आपने तो मुझे चढ़ना पड़ गया, अब आप ही सहारा देकर उतारेंगे तब मैं उतर सकूंगा. आपके उस सहारेकी मुझे बड़ी जरूरत है. मुझे स्वयं तो उस आसनमें बहुत कुछ अब मिथ्या दीखने लगा है. और यह कि मैं वहां हूं और भी मिथ्या बन गया है. मेरे अन्दर उसकी उपयुक्तता खतम हो गई है.. फिर आप जानते हैं, दूसरे नेता लोग हैं और उनके दल हैं, वे उस आसनको व्यर्थ नहीं मानते हैं, बड़े अर्थसे भरा मानते हैं. वे कुरसीको खाली नहीं करना चाहते, जैसे कि मैं चाहता हूं. बल्कि इन्तजारमें हैं कि कब खाली हो कि वे भरें... तो सोचिए कि क्या वे उस कुरसीके साथ ज्यादा न्याय नहीं कर सकेंगे? मैं कहता हूं कि आप उनकी सुनें, फिर थोड़ी मेरी भी सुनें. और अब तो उनकी और मेरी दोनों ही बातें एक हो जाती हैं. मैं कहता हूं, मुझे वहांसे उतारनेमें मेरी मदद कीजिए. वे भी यही कहते हैं कि मुझे वहांसे उतारनेमें आप उनकी मदद कीजिए. जिसमें दोनों बाजुओंकी मदद एक साथ हो जाती हो वह आपको अवश्य करना चाहिए...हो सकता है कि मेरे उतरने तक सब सहमत हों, कुरसी भरनेकी जब बात आए तब उन विरोधी भाइयोंमें आपसमें झगड़ा भी दिखाई दे. पर उसपर आप घबराएं नहीं. अधिक-से-अधिक विरोधी दल आपसमें उस बातपर लड़ेंगे ही न? तो उससे उतना नुकसान नहीं होगा. क्योंकि नतीजेमें कुरसीपर वह आएगा जो प्रबल होगा और कुरसीकी ज्यादा ममता रखेगा.. संभव है, और मैं सच बनाना चाहता हूं, कि विरोधी दल विरोधमें मुझको लेकर ही एक न हों, अपने अन्तरंगसे ही एक बन आएं.

क्योंकि अपने विरोधमें मैंने जिनको भी देखा है, उनमें मतकी और विचार की बहुत ही दृढ़ता है. कुछ कट्टरता कहें, लेकिन दृढ़ता ही और दृढ़ बनकर क्या दूसरोंको कट्टर जैसी नहीं लगती ?...मैं कहता हूं उनको अवसर मिलना चाहिए...यह न मानिए कि विरोधियोंमें सामन्जस्यकी शक्ति नहीं है. हो सकता है विरोधका एक पक्ष अपने ध्येयको प्राचीनता-में और धर्मोद्धारमें देखें, उसीका दूसरा पक्ष पश्चिममें आदर्शकी स्थिति माने और धर्म और अध्यात्मकी सब बातोंको मूढ़ता और ढकोसला समझे. लेकिन यह न मानिएगा कि इन दोनोंमें मेल नहीं हो सकता है. ...देखते ही हैं आप कि मेल हो सकता है. (हंसी और ताली)...मेल-मिलाप करनेकी यह सामर्थ्य निश्चय ही उनके व्यवहार-कौशलका प्रमाण है. (तालियां) बड़ी यह बात है कि मत भिन्न रख सकते हैं, फिर भी कार्यक्रम एक बना सकते हैं (हंसी)...इसलिए विरोधी वर्गोंको आप अपना बल देंगे तो जरूरी नहीं है कि अशान्ति ही बढ़ेगी. अहिंसामें वे विश्वास नहीं करते, ठीक है, पर हिंसामें ही विश्वास रखते हैं, यह भी सही नहीं है. बात कुल इतनी है कि सिद्धांतसे वे बंधना नहीं चाहते, क्योंकि उन्हें दुनियांका काम करना है. (हंसी) उनके प्रदर्शनोंमे अगर हिंसात्मक नारे लगाए जाते हैं, और उस तरहकी कुछ छुट-पुट बातें भी हो जाती हैं, तो उस कारण यह मानना कि वह हिंसाको बढ़ावा देना चाहते हैं उनके साथ अन्याय करना होगा. क्या स्वयं उनके नेताओंने नहीं कहा कि वे शान्तिपूर्ण उपायोंमें ही विश्वास करते हैं, और कि वैसी घटनाओं की जिम्मेदारी उनकी नहीं है ?...'

क्या इस सबको सभाचातुर्य कहूं और टालदूं ? टालना बन नहीं पाता और निश्चय उसकी जड़ कहीं गहरी है.

और नीचेका यह चित्र :

'.. मैं जानता हूं कि उनकी बात झूठ न होगी. अहिंसाकी वे सौगन्ध नहीं खाते हैं, इसीलिए हिंसाका उनपर इल्जाम नहीं लगाया जा सकता. वह तो भेद यह है कि मैं जो दीवान बना हूं—दीवाना नहीं कह रहा हूं—

सो उसका गुस्सा उन घटनाओंमें फूटता दीखता है. मैं अगर वहां ओहदे पर न रहूं तो किसी अशान्तिका कोई कारण भी न रह जाए. . .मैं आप लोगोंसे पूछता हूं, आप समझदार हैं, सहृदय हैं, देशका हित चाहते हैं और शांति चाहते हैं. . .तो क्या कारण है कि इस एक मुझको, जो यों अहिंसाकी वात करता है लेकिन हिंसाका कारण वन रहा है, जिसकी वजह से बेचैनी है और प्रदर्शन हैं और उपद्रव हैं, उस गिनतीके एक मुझको क्यों चुप-चाप अलग न हो जाने दिया जाए ? मैं पूछता हूं, क्या कोई कारण हो सकता है ? वताइए—है ? हो सकता है ?—कहिए—वताइए ?...

'कई आवाजें "है."

'दूसरी कई आवाजें, "नहीं है."

'जयवर्धन, मानो और प्रतीक्षामें, कुछ रुके, फिर हंसते हुए कहा, "आपमेंसे कुछ कहते हैं है, कुछ कहते हैं नहीं है. फिर बताइए—है कि नहीं है? बोलिए,—कहिए ?"

'आवाजें "है."

'आवाजें "नहीं है"

'जयवर्धन हंसे, वहुत हंसे, कहा, "सुनिए, मेरा सवाल है, क्या मैं इस्तीफा दे सकता हूं ? वताइए,—कहिए ?"

'समवेत ध्वनि' "नहीं."

'जयवर्धन, "नहीं वाले न वोलें. मैं सुनना चाहता हूं, हां.—कहिए हां. कोई कहता है, हां ?"

'सबपर सुन्न सन्नाटा छा रहा.

'जयवर्धन, "क्या कोई नहीं है जो कह सके, 'हां' ?"

'सन्नाटेमें जैसे तनाव आया.

'जयवर्धन : "लेकिन सुनिए, मैं देना ही चाहता हूं इस्तीफा."

'अनेक इकट्ठी ध्वनियां : "नहीं ! नहीं !! नहीं !!!"

'जयवर्धन : "आप 'नहीं' कहते हैं. मैं सुन रहा हूं, लेकिन क्यों 'नहीं' कहते हैं, क्या आपमें उठकर कोई वताएगा ?"

कोई नहीं उठता.

'जय : "आप नहीं कहते हैं, लेकिन उसकी कोई वजह नहीं बता सकते. तो मैं पूछता हूं, क्या वजह है कि मैं आपकी 'नहीं' को सुनूं और मानूं ? कहिए, बताइए ?"

'जनता शान्त है, सब चुप हैं, कोई कुछ नहीं कहता.

'जय, "आप चुप हैं और मेरा ईरादा—"

'एक आवाज, "आप नहीं दे सकते !"

'जय, "कहां हैं आप ?"

'कई आवाजें: नहीं दे सकते, ! नहीं दे सकते !! नहीं दे सकते !!!

'मानों सारी ही भीड़में से शोर उठा, "नहीं दे सकते ! नहीं दे सकते !! नहीं दे सकते !!!"

'जय मंचपर चुपचाप खड़े रहे पांच-सात मिनटमें कोलाहल शांत हुआ. अनंतर फिर चुप उतनी ही घनी और निविड़ हो आई. खामोशी के एक मिनट बाद तक जय उसी तरह मौन और मूक बने रहे. फिर कहा, "वह उस कोनेमें कौन थे जिन्होंने पहिली आवाज दी ? वह कृपा कर यहां आएं."

'देखा गया कि एक अठारह बरस का लड़का अपनेमें संकुचित हो रहा है और लोग उसे खड़े होनेको प्रेरित कर रहे हैं.

'जय, "आओ भाई, इधर आ जाओ."

'लड़का शर्मसे और सिमिट जाता है, और आस-पासके लोग उसे गोदमें उठाते हैं.

'जय, "अच्छा रहने दो. वहीं खड़े हो जाओ...यह ठीक है. शरमाओ मत. तुमने जो कहा वह हुकुम ही दिया ! तो हाकिम होकर शरमाते हो ?...सुनो तुम्हारे बड़े तुम्हें हुक्म देते हैं तो तुम्हें कैसा लगता है ? अच्छा लगता है ?...सच बोलो, अच्छा लगता है, कि नहीं अच्छा लगता ? कहो, कहो, झिझको मत."

'लड़केने धीमेसे कहा, "नहीं अच्छा लगता."

'जय, "तो सुनिए मुझे भी यह आपका हुकुम चलाना अच्छा नहीं लगता...सुनो, तुम बापका हुकुम मानते हो ?"

"मानता हूं."

"अच्छा नहीं लगता फिर भी मानते हो ?"

"हां"

"अच्छी बात है. बैठ जाओ...सुनिए आप लोग, मुझे हुकुम सुनना अच्छा नहीं लगता है...हुकूमत भी इसीलिए अच्छी नहीं लगती है कि वहांसे हुकुम चलाया जाता है.. यह खतम होना चाहिए अब, हुकुम देना और हुकुम लेना...हुकुम हो आपके पास तो अपनेको दें और उसपर चलें...नेता और हाकिम नेतागिरी करते और हुकूमत करते हैं लोगोंपर जिनका वे भला चाहते हैं...जन-हितकी उन्हें लगन है...मैं दिन चाहता हूं वह कि नेता कुछ अपनेको भी राह दिखाएं और हाकिम अपनेको हुकूमतमें रखना सीखें...नेतृत्वसे और हुकूमतसे लाभ है तो यह अच्छा नहीं है कि नेता और हाकिम उससे वंचित ही रह जाए! यह निस्वार्थता किस कामकी कि हुकूमतमें दूसरोंको रखेंगे, खुद स्वेच्छाचारी बनेंगे, मार्ग दूसरोंको दिखाएंगे अपने बारेमें राह भूले ही रहेंगे !.. यह इसी-लिए होता है कि एक हुकुम देता है दूसरा लेता है ..मेरा धर्म है कि चाहे आपने हुकुम दिया लेकिन मैं उसे न लूं.. इस बारेमें मेरे मनमें भ्रम नहीं है.. लेकिन हम अभी लोकतन्त्रतक ही आए हैं पूरे-पूरे अपने तन्त्रतक उठना बाकी है.. स्वतन्त्रता पूरी होगी तब हुकुम मानने की मजबूरी किसीके पास न रह जाएगी. इसलिए हुकुम देनेकी वासना भी अनावश्यक हो जाएगी... आज वह दिन नहीं है...दुःख है कि नहीं है और हम संकल्प करें कि वह जल्दी आए...लेकिन तबतक मैं सच-मुच मजबूर हूं, दुःखी हूं छटपटा रहा हूं, लेकिन क्या करूं ? सन्यासी नहीं हूं, वानप्रस्थी तक नहीं हूं और लोकतन्त्रके अधीन हूं...हुकुम उस बालकको अच्छा नहीं लगता, पर बापसे आता है तो मानना ही पड़ता है....राज-काजमें जितने लोग हैं, सच मानिए, बालपनेमें ही हैं. जैसी

उनमें वृद्धि होती है, वैसी ही तृष्णाएं. प्रतिष्ठाका उन्हें लालच होता है और पद बढ़ानेकी जोड़-तोड़में रहते हैं. बालपना और दूसरा क्या होगा...आपने देखा, बच्चा था इससे झटसे उसके मुंहसे मेरे लिए हुकुम निकला ! हुकूमतपर बैठे लोगोंको इसी तरह हुकुम चलाना अच्छा लगता है. यह भी उनके, बचपन कहो कि कचपन, उसका सबूत है... लेकिन बालक है, इसीसे बुजुर्गका हुकुम उसपर चलेगा...तो हममें कौन बुजुर्ग है ? जयवर्धन कुरसीपर हैं तबतक,—नाबालिग तो नहीं, है तो बालिग पर—बुजुर्ग नहीं है....बुजुर्ग हैं आप, आप जो जनता हैं . देखा आपने कि जनता होकर, और जनताका होकर, एक अठारह बरसका बालक कितनी ऊंची बात कह आता है ? यह नहीं कहता वह कि पद उसे चाहिए, वह यह सोचता भी नहीं है...बल्कि मुझे सुनाकर कहता है कि जाते कहां हो, तुम पद छोड़ नहीं सकते !.. तो यह जनताकी शक्ति है...जीवनका जो परमधर्म है—यज्ञ और बलिदान—जनताके लिए वह सहज-धर्म होता है. बलिदान जितने हुए जनताने किए. क्रान्तियोंका सुख जिसके भी भाग आया, दुःख जनताने भोगा. जनता ही है जो किसीको अपने हाथों ताज पहनाती है, और फिर लौटकर स्वयं अपने हल-कोल्हूमें जुत जाती है....बुजुर्गोंका यही लक्षण है...भारत नहीं जीता रहा है सम्राटोंसे, बल्कि वह जीआ है और जीता रहेगा तो उस अपनी जनताके बलपर जिसने हुआ तो क्षण भरके लिए संभ्रमसे देख भर लिया अपने सम्राटको, लेकिन उसके पीछे अपने श्रमको और अपनी श्रद्धाको विशेष नहीं खोया. सम्राटपर और योद्धापर उसकी आंखें ऐसे ही गई हैं जैसे किसी अनोखेपनपर, अधिक वे वहां टिकी नहीं.. दर्शन अपना उस दृष्टि-ने कहीं भरपूर पाया तो सीधे-से संतमें और श्रद्धाका उपहार भी उसने चढ़ाया तो अकिंचन महात्माकी वेदीपर...तो आपका हुकुम मुझपर भारी कितना ही हो, मैं उसे अमान्य नहीं कर सकता...कैसे करूं ? ..वही तो प्रार्थना लेकर आया हूं...कि चौथापन मेरा आ रहा है, करुणा हो...मेरे कामसे आपको अगर किंचित भी सन्तोष हो तो

पुरस्कार इस रूपमें दें कि मुझे छुट्टी दें...शायद सन्तोष नहीं दे सका हूं, इससे यह दण्ड है और मैं सिर झुकाता हूं...

मंचसे भाषण देते मैंने जयको देखा नहीं है. देखना चाहता हूं कि क्या है जो लाखोंके मनोंको उनकी मुट्ठीमें दे देता है. बाहरका प्रभाव तो है, पर पाना चाहता हूं कि अन्दरका कुछ है तो क्या है ?

...चिदानन्दके साथ निवटारा हुआ ? हुआ तो कैसे ? जाननेका उपाय नहीं है. यह भी नहीं जानता कि जयने इलाको कुछ बतानेकी चिन्ता भी रखी या नहीं. दिनभर उधरसे भी कोई समाचार नहीं मिला है.

शामके अखबारने नई खबर दी ! नाथके प्रगति-दलमें अन्तरंग संकटकी स्थिति पैदा हो आई है. बैठक भंग होते-होते बची, अब लम्बी चलेगी. सुना जाता है कि श्रीमती नाथ शासनके साथ सहयोगके परि-च्छेदका आरम्भ चाहती हैं. असम्भव नहीं समझा जाता कि संकटका परिणाम फूट हो, और दल दो हो आएं...

यह क्या है ? भँवर, भँवर, भँवर ! क्या यही है जो सच है ? पर शायद यह सतह है, सच गहरेमें है और वह और है...थिरता वहांसे है. यह तो छाया है ! याद करूं, प्रणाम करूं, उसको जो कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है.

२७ मार्च—

खास बात नहीं, दिन खाली.

२८ मार्च—

खाली...इलाका हाल नहीं मिला. कुछ बात होगी. अखबारसे देखता हूं कि जय व्यस्त हैं. एक जगह उन्होंने कहा कि हमारी परम्परा

दूसरी, नीति दूसरी है. साम्यवादी, समाजवादी, प्रयोग हो चुके. उनकी जड़में समग्र दर्शन कब था ? हमें चाहिए ऐसी अर्थ-रचना और समाज-रचना जिसमें संभावनाएं किसीकी न घटें, बल्कि जुड़ती जाएं. इसीलिए हम राज्यके जरिए सिर्फ वही करना चाहते हैं जिसमें औरोंका वस न हो या रस न हो. इस तरह राज्य प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता, सहायक हो आता है. राज्य सबका वही जहां हर कोई अपनी जगह राजा हो, प्रजा होनेको अलग कोई रहे ही नहीं. यह नई चीज है और हम इसीपर चल रहे हैं. यह विश्वासके बलपर ही हो सकता है, हर मानवका विश्वास. विश्वास होनेपर तृष्णा काटती नहीं बल्कि स्वयं कटती है, और लोगोंमें स्पर्द्धाका स्थान प्रीति लेती है....

दूसरी एक कार्यकर्त्ताओंकी सभामें, उन्होंने कहा कि जिस समाजमें व्यक्तिकी समस्या अपना अस्तित्व रखनेकी भाषामें समझी और समझाई जाती है वह समाज विषम है और विफल है. पुराने वाद उसीको समझ मानकर चलते थे. जैसे मनुष्य प्राणी इतना हो कि मनुष्य हो नहीं. अस्तित्व सबका स्वीकृत है और समाज वह सच्चा है जहां अस्तित्व सबके लिए सहज हो. तब समस्या अपने बचाव और विस्तारकी किसीके लिए रह ही न जाएगी, वह स्वत्वके विसर्जनकी हो आएगी. पदार्थकी चिंता मनको पकड़ती है तबतक कहीं बड़ी त्रुटि है. उन्नति पदार्थके पीछे कैसे चल सकती है ? वह दिन क्या पुराना-सा नहीं लगता जबकि मनुष्यका माप पदार्थकी तोलमें होता था? जितना माल उतनी मनुष्यता! हमें दूसरी भाषा रखनी और देनी है. यानीकि जितना कम उतना उत्तम. आसक्तिसे अनासक्तिकी ओर बढ़ना ही बढ़ना है. उससे पदार्थकी प्रचुरता कम नहीं होगी, बढ़ेगी, इतनी कि पदार्थ मनको खींचनेकी शक्ति खो रहे. श्रम इतना स्वेच्छित होगा कि बिक न सकेगा. तब मानव संबन्धोंको किन्हीं ऊपरी कायदोंसे नियमित करनेकी जरूरत न होगी. व्यक्ति स्वतन्त्र होगा कि चाहे जो जमा करे, पर जमा करना सबको इल्लत जैसा लगने लगेगा. चिंता आदमीको अपनी न होकर दूसरेकी होगी और इसलिए आदमी लेना

नहीं, देना चाहेगा. चीज यह आज आपको इतनी ऊंची नहीं लगती, प्रकृत लगती है. सच ही वह सीधी और सहज है. पर एक दिन वह बात असंभव लगती थी और आज भी लोग हो सकते हैं जिन्हें वह अनहोनी जान पड़े. लेकिन उनमें तो अभी शंका है. जब विश्वास हो सकेगा तब देखेंगे कि आपा-धापीकी जरूरत उनको भी नहीं है. यह विश्वास उनमें जगाना हमारा काम है और इसीमें हमारे जीवनकी परीक्षा है. जिनके पास अवसर है कि जितना चाहे ले सकें वे ही जब तजते हुए और अपरिग्रही बने दीखेंगे तब उन्हें जान पड़ेगा कि तृष्णा व्यर्थ ही थी. जो अपनेको दीन मानता है उसे भरपूरसे भी अधिक मिले तो हम देखेंगे कि उसके भरपूरकी मात्रा स्वयमेव कम होती जाती है. हम उतना ही अधिक चाहते हैं जितना कम करते हैं. श्रम हमारा खुल जाए तो चाहकी धार आप ही कट जाए. चाहके फलकके दोनों ओर धार है और हम समाजमें उसे खुला रखकर आते हैं तो हर तरफ उससे घाव-ही-घाव होता है. उससे समाज कटता-फटता है. फलकका भी उपयोग है, पर चाकूकी तरह सदा उसे बंद रखना चाहिए. काम पर खुले कि फिर बंद. चाहकी धारको मन्द करनेका उपाय प्रेम और उसमें से पैदा होनेवाला श्रम है. प्रेम होता ही नहीं जो सेवा बिना तृप्ति पाए. इसलिए कार्यकर्त्ताका काम कार्य करना तो है ही, पर बड़ा काम अपनेको अनासक्त रखना है. अनासक्तिसे कामसे हार नहीं मालूम होगी, वह सतत होगा और फल भी उसका मीठा और बड़ा होगा. उसमेंसे प्रतिक्रिया नहीं पैदा होगी, बन्धन नहीं आएगा, बल्कि मुक्ति आएगी. वह न हो तो काम सब वृथा है. अर्थकी जगह वह अनर्थ करता है. अर्थ धनको कहते थे और धन वह था जो आत्मिक दीनताका ही नाम था. पुरुषका वह अर्थ बन जाए, तब पुरुषार्थ ही अनिष्ट हो जाता है. वही हो चला था. पुरुषार्थकी जगह विलासकी महिमा थी. उस अनर्थके मूलको हम काट रहे हैं. पुरुषार्थमें पुरुषको प्रतिष्ठित कर रहे हैं. समाजको भी पुनः उसी मूल्यमें प्रतिष्ठित करना चाहते हैं. कर्मकी जगह वह एक तरह अकर्मकी

प्रतिष्ठाका काम है. आप उसे उलटा न समझें. कर्मका मूल्य अकर्म ही है. उसी तरह जैसे नारियलपरके जटाजूट और उसके बाद पत्थर-से खप्परका मूल्य यही है कि भीतर गिरी हो. गिरी अकर्म है, कर्म तो वह जटाजूट ही है. इस बातको हम भूलें नहीं और जो ऊपरसे शानदार और बड़ा लगता है उस कामकी चाह और चकाचौंधमें न पड़ें. हाथ आया काम ही हमें सब है और अपने धर्ममें रहकर मरतक जानेमें मुक्ति है, पर-धर्म सदा भयावह है. स्वधर्म, यानि हाथ आया काम. पर-धर्म यानि वह काम जो सहज हमें प्राप्त नहीं है, इच्छासे जिसपर हम लपकना चाहते हैं. ऐसे गड़बड़ होती है ..लोकतन्त्रके बीते आदर्शने चुनावका रोग ऐसा लगाया कि सब अपनी कक्षा छोड़ अधिकार और पदके पीछे उच-कना चाहने लगे. उस प्रतिस्पर्द्धामें जो एक आवेशका रस था उसमें उन्हें प्रगति औरउन्नतिका चसका-सा मिलता था. पर चीज वह थोथी थी और झूठी साबित हुई. वह स्वाद, स्वयं उन्हींके मुंहमें जिन्होंने उसे चसकेसे चखा, पीछे कसैला हो आया. राजपन किसे अच्छा नहीं लगता ? पर राजाओंके सिर आरामसे सो नहीं पाए, कटे भी कम नहीं. सिर कटनेका मौका आए तब राज-पन लुभावना नहीं रहता, डरावना हो आता है. मैं आपको कहता हूं, बहुत-सी चीजें इस संसारकी हैं जो लोभ देती हैं. पर सही दर्शन आपको हो तो लोभकी जगह उनसे आपको डर ही मिलेगा. संसारका लोभनीय बहुत कुछ डरावना ही है. किसी सिद्धांत, या दर्शन, या शास्त्रमें से यह नहीं कह रहा हूं. मानिए कि भुक्त भोगमें से कह रहा हूं. शायद मेरे मुंहमें यह बात होनी नहीं चाहिए. ऐसा लगेगा कि नसीहत मेरी दूसरेके लिए है, अपने लिए नहीं है. नहीं तो मैं फिर जहां हूं वहां हूं क्यों ? कोई ऐसा कहता है तो ठीक ही कहता है. मुझमें झूठ कहे, मायाचार कहे तो वह ठीक ही होगा. पर भुगत रहा हूं उसमें मैं सीख ही रहा हूं. उसीको कहता हूं और वह इसलिए कि अधिकारपूर्वक कहनेकी बात अपनी जानी-भोगीके सिवा दूसरी कुछ मेरे पास हो भी क्या सकती है...

जयकी बातोंका तर्क भावशीलताका है. वे पूरी विज्ञान-शुद्ध नहीं लगतीं, फिर भी छूती हैं. यहां बैठा हूं तो और भी छूती हैं. कारण, देख सकता हूं कि कोरी बुद्धिकी नहीं हैं, कहनेकी ही नहीं हैं, उनमें वेदना है...

अपनेको कुछ ढील दे निकला हूं. सोचा था बिखरूंगा नहीं, एकाग्र रहूंगा. व्यक्तिके मूलको खोजूंगा. पर जय हैं नहीं, इला मेरी ओरसे बे-खबर है. इसीलिए अवकाश भी है. फिर सत्य कहीं आत्मामें बन्द हो ऐसा भी नहीं. नहीं तो बाहर जो यह इतना विस्तार है सो किसका है ? क्या यह भी एक सत्यका ही आयाम (डाइमेंशन) नहीं है. अनुभूतिमें है वह तो विस्तृतिमें भी उसीकी व्याप्ति है. विस्तारसे भय नहीं खाना है. अक्सर होता है कि उसके भयसे ही मुड़कर लोग आत्ममें और ध्यानमें डूबते हैं. विस्तारसे फिर उनका नाता क्षीण होता जाता है. वह फिर किताबोंसे घिरकर ही जी पाते हैं, आदमियोंके बीच होकर उन्हें असमर्थ और बेकार बनना पड़ता है. सिरेपर सत्य नहीं है, इसपर या उसपर. उन सिरोंको व्याप्त भावसे धारण रखता, उन्हें सार्थक और संयुक्त रखता है वह है सत्य ! बुद्धिकी मर्यादा है कि वह इधर या उधरके सिरेकी ओर, अंतिम छोरोंकी (अल्टीमेटकी) ओर चलती है. इसलिए बुद्धिमें जो आता है उसी कारण वह सजीव नहीं रहता, सच भी नहीं रहता. सच इससे होना ज्यादा है, जानना कम. और होनेमें सदा दोनों ही तट हैं. इन्द्रियां लेती बाहरसे हैं तो देती भीतरको हैं. सशरीर जीवनको लेकर ही अतः आदमी चल पाता है. और चलना अनिवार्य सत्यकी ओर है, नहीं तो चकराना है, और जानना सब चकराना ही है...

हां, एक बात ! फोन आया कि मैं मोहन हूं, इन्द्रमोहन. सहसा मैं कुछ समझा नहीं.

बताया, "आप पहिचाने नहीं शायद. बम्बईमें आपके दर्शन किए थे. कल ही यहां पहुंचा हूं. आपसे कब मिलना हो सकता है ?"

समय तो लगा, पर ध्यान आ गया. पर कम आशा थी कि वह स्वतः आएंगे. अनोखा-सा मालूम हुआ, कहा, "जी नहीं, मैं भूल नहीं गया

हूं. आप यहां कहां हैं ?"

सज्जन वही थे, वही स्वभाव. इष्ट विंदुसे न इधर न उधर. बोले, "सुविधाका आपका क्या समय होगा ?"

मैंने कहा, "सुविधा ही है. मैं बेकार हूं और आपका आना उपकार हुआ. सामग्री कुछ साथ हो तो मैं और उपकृत हूंगा—"

"मेरे साथ चाय ले सकेंगे—साढ़े पांच बजे?"

"कहां ?"

होटलका नाम बतलाया गया और मैंने कहा, सहर्ष !

मोहन व्यक्ति अपने ढंगके हैं. मित और नियमित.

...इलाको क्या हुआ है ? नहीं हो सकता कि जयने सीधी बात न की हो...फिर यह क्या कि मेरी ओरसे इतनी निश्चिंत हैं ! जानता हूं मैं अनावश्यक हूं. लेकिन अतिथि तो वह मुझे अपना मानती हैं. अतिथिके प्रति असावधानी उस जैसी नारीमें हो सकी है तो अवश्य कुछ बात होनी चाहिए. अवश्य है कुछ जिससे व्यस्त हैं, नहीं तो उसकी-सी स्वस्थ व्यवस्थामें यह त्रुटि संभव नहीं. मैं जिज्ञासु हूं.

कहना चाहिए, अपनी निश्चिततामें भी भीतर में प्रतीक्षामें रहा. पर नहीं, कोई फोन नहीं आया, न आदमी पूछने आया...रातका ग्यारह बजा है, अबतक नहीं !

मैं चिंतित हूं.

२९ मार्च—

सवेरेके अखबारमें मेरी भी खबर (ली गई) थी. कल एक जगह बोल बैठा था. उसकी रिपोर्टके वाक्योंके आस-पास क्या कुछ ध्वनि, कुछ अतिरिक्त संकेत तो नहीं डाल दिया गया ? मानो पाठकमें उत्सुकता जगाई जाती हो कि मैं कौन हूं और यहां क्यों हूं ?...नहीं, मुझे फैलना नहीं चाहिए, अखबारोंकी विज्ञप्ति मुझे बाधा होगी. पत्र वह विशेप विरोध पक्षका नहीं है,

शासनका समर्थक ही मैं उसे जानता हूं...दिनमें एक विशेप लोकप्रिय साप्ताहिक पर ध्यान गया. संभव था यों चूक जाता. लेकिन अनायास रैंपर खोला तो लाल पेंसिलका ऊपर ही नोट दीखा. तदनुसार अन्दर पढ़ा तो वहां फिर मुझे लिया गया था, खुलकर मेरी चर्चा थी: या थी प्रशंसा, पर अन्तमें प्रश्न था कि मेरा यहां क्या गम्भीर मिशन है और मैं राजपतिके निजी अतिथिके रूपमें क्यों अरसेसे ठहरा हुआ हूं. मेरे संवादों की ओर भी संकेत था और यह कि क्या वे वैसे ही निर्दोप और तटस्थ हैं जैसी ऊपरसे उनकी भापा दीखती है ? इत्यादि...

मुझे ध्यानमें कम आना चाहिए. क्या अन्यत्र ठहरना मेरे लिए उचित न होगा ? इलासे पूछना होगा.

उसी दैनिकमें काफी प्रधानता देकर आचार्यका एक वक्तव्य छपा था. शिवधाममें एकत्रित अनेक मान्य लोगोंको सम्वोधन देते हुए प्रार्थना-सभामें आचार्यने कहा, "राज्यपर लोगोंका वहुत ध्यान रहता देखता हूं...वह स्वाभाविक माना जाय पर शुभ नहीं है. राज्य तो हम लोग ही वनाते हैं, सुभीता देखते हैं तो उसे वदल देते हैं. पर उधर इतना ध्यान कि हाथका काम करनेमें विघ्न आए मन इतना विचल जाय, तो अच्छा नहीं है. कुछका काम होना चाहिए कि वे राज्यकी नव्जपर जव-तव हाथ रखकर परख लिया करें. तव उसके स्वास्थ्यके लिए विशेपज्ञ लोग दवा-दारूकी भी व्यवस्था सुझा देंगे. पर राज्य इसीलिए है और उसका काम इसीलिए है कि हम सम्भले नहीं हैं, और हमारे घर संभले नहीं हैं. हम संभले वनेंगे तो राज्यका ही दोप दूर न होगा, वल्कि राज्यके स्वयं दूर होनेका उपाय होने लग जाएगा. मूलमें तो राज्य एक दोप ही है, वह दवाव है. समय आएगा कि वह काम एक सहयोग संस्थाके जरिए हो जाया करेगा. अभी तो वह प्रभु-सत्ता है. फिर उसका रूप उतना भीमाकार और डरावना नहीं रह जाएगा. हो सकता है कि हवाकी तरह व्यापक और सुलभ भले हो जाए...विरोधमें होनेवाले प्रदर्शनोंकी धूम-धाम और शोर-शरावेसे जो अनावश्यक है, उसकी ही आवश्यकता मजवूत

होती है. हमें उन चेष्टाओंसे बचना चाहिए. जितने राज्यकी ओरसे उदासीन हम रहेंगे और जन-शक्तिमें स्थान और आस्था रखेंगे, उतने हम दण्ड-की शक्तिके भरोसे चलनेवाले राज-तंत्रको अनावश्यक बनाते जा सकेंगे. अशान्ति उपजानेसे वह नहीं होगा, नीचसे रचना आरम्भ करनेसे ही होगा.. नैतिकताकी बात में आपसे क्या कहूं ? रोज प्रार्थना करते हैं, कारण भगवानसे दूर है, प्रार्थनामें ही पास आते हैं. स्वामी तो वह है, जगत उसके चलाए चलता है. उसका रहस्य हमारी मुट्ठीमें नहीं है. इस-लिए मुट्ठी कसके और उस कसी मुट्टीको दिखाकर काम करनेकी कोशिशसे कोई स्थायी फल नहीं आनेवाला है. कौन पापी है, यह हम कैसे कहने चलें ? सन्तने जो गाया कि मुझसा खल और कुटिल कोई नहीं है, सो ही ठीक है. हरेकके यह अनुभवमें आ सकता है. बल्कि अपने अन्दर टटोलें तो इसके सिवाय दूसरा कोई सच मिलेगा ही नहीं. फैसलेको अपने हाथमें लेकर दूसरेको दण्ड देनेकी हिम्मत करे सो करे. पर जो नहीं करता है वह अच्छा ही रहता है. हम दण्डमें से आदमीका परिवर्तन नहीं ला सकते. समाजको बचाना ही जिनका लक्ष्य है, वे दुष्ट-को दण्ड देना चाह सकते हैं. ठीक. दुष्ट ऐसे दूर यहां तक कि खतम भी किया जा सकता है. लेकिन खुद परमेश्वरने तो ऐसा नहीं किया. दुष्टको उसने जगतमें होने दिया, यह उस परमात्माकी भूल है क्या ? अगर भूल नहीं है तो इसीलिए न कि दोषके त्राससे एक दिन दुष्ट अपनेसे अघा आनेवाला है और तब वह आप ही बदलने लगेगा है. दोषके नाशका यह उपाय स्वयं दुष्टमें से उपजता है. यानि दुष्टको दबाने या मार डालनेसे हम दोषको दूर नहीं करते हैं, शायद दोष तो उस तरह और बढ़ना ही हो. क्योंकि खतम तो यहां कुछ होता नही है. विज्ञानकी पहली सीख यह है आदमीका देह गिर जाता है, पर पंच-तत्वने वह बना है तो सब उन्हीं तत्वोंमें जा मिलता है. इससे दोषको बदलना ही है, नाश यहां नहीं है, सिर्फ परिवर्तन है. परिवर्तन नहीं कर सकते, तो भूल जाओ कि नाश करनेकी कोशिशमें से कुछ भी तुम नाश कर सकते हो...जो प्रदर्शन ही

रहे हैं, उनके जिक्रसे मुझे लज्जा होती है. आप सबको होनी चाहिए. अगर सचमें लोगोमें यह लज्जा व्याप जाए तो चन्द मुट्ठी भर आदमियों की हिम्मत भी नहीं रह जाएगी कि ऐसा करें. मैं नहीं मानता हूं कि चन्द ऐसा करते होंगे. करते चन्द हैं, पर सहारा उन्हें सबका रहता है. सब सहते हैं तभी चन्द कर पाते हैं. इस सहनेके सहयोगके बिना करने वालोंका काम चल नहीं सकता है. सज्जनका सहयोग न हो तो दुरजन की दुर्जनता जी नहीं सकती. हम मान लें कि सज्जनसे अलग दुर्जन नहीं है. सज्जनकी तारीफ यह नहीं है कि वह सहे. कष्टसे घबराता है वही अन्याय सहता है. यह भय ही बढ़ावा है, सज्जनको भय नहीं होना चाहिए. आप निर्भय हो जाएं और सचको न छोड़ें तो दुर्जनकी हिम्मत यों ही टूट जाएगी. दुर्जन जिसे समझा जाता है, ऐसे उसकी सहायता ही होगी. डरानेमें जो उसे स्वाद आने लगता है, वह मिट जाएगा. डर तो निमन्त्रण है, कि कोई डरानेवाला बने. इस तरह दुर्जनकी कार्यवाहीसे सज्जन अपनेको बरी नहीं मान सकता है...प्रदर्शन जिनकी तरफसे होते हैं वे स्वामी चिदानन्दजीकी बात सुनेंगे. स्वामीजीकी शक्ति कम नहीं है. लोग निश्चय ही उनके आदेशोंको भूलते हैं जब ऐसा करते हैं. मुझे आशा है कि उनका सशक्त शब्द आएगा और लोगोंकी परीक्षा होगी जो ऊपरसे उनको मान्य करते बतलाए जाते हैं...देश जैसे चल रहा है उससे असहमति हो सकती है. मुझे स्वयं सन्तोष नहीं है. हम नकलमें जो चले सो अबतक चल रहे हैं. भारतका असल चैतन्य मूर्छामें है. वह दबा है, उसे जगाना है, आगे फिर उसके अनुसार हमें काम करना है. उस जागृति के चिन्ह नहीं हैं, प्रयत्न भी नहीं हैं. लेकिन यह बात हम लोगोंपर आती है जो वैसी श्रद्धा रखते हैं. तत्पर हमें होना है. सबको राज्य वह मिलता है जिसके वह योग्य होते हैं. राज्यमें संस्कार लानेके लिए काम हमें प्रजामें करना है...आशा करता हूं कि भारतकी शक्ति समय पर हारेगी नहीं और वह निर्माण करके बता सकेगी, जिसे पदार्थ-पाठके रूपमें दुनियां सामने ले....

देखता हूं आचार्यका यह बल जयकी स्थितिको मजबूत करनेवाला है. लेकिन—

जयके बारेमें आजके पत्र मौन हैं. यत्नपूर्वक ही यह हो सका होगा...

श्री मोहनसे चायपर मिला. बात उनकी वही संक्षिप्त और आवृत.. जानना चाहा 'बम्बई से कब, कैसे आना हुआ ?' उत्तर आया 'आपकी कृपा है.' समझ लिया जिज्ञासा इस व्यक्तिको और बन्द करेगी. आवरणमें उसे प्रीति है, गुप्ततामें गर्व. मेरी जिज्ञासा गर्वको उल्टे गौरव देगी...समझा जाता होगा, वस्त्रोंका पहनाव ढंकता है. पर वही उघाड़ता भी है. बल्कि पहिनावा व्यक्तिको ज्यादा ही उघाड़ता है...परिधानमें अतिरिक्त भव्य, व्यवहारमें अत्यन्त शिष्ट, कुल मिलाकर जैसे कहीं बिन्दूमें केन्द्रित. क्या करते हैं, परिवार क्या है, आदि जाननेके लिए अवकाश ही न था. मानो प्रयोजन उन्हींका चलेगा, दूसरे उसके निमित्त ही हो सकते हैं. ऐसे व्यक्ति कम नहीं हैं,पर अक्सर उनमें शिष्ट-व्यवहारकी त्रुटि देखी जाती है. श्री मोहनकी विशेषता यह कि शिष्टताकी रंच त्रुटि नहीं, फिर भी सर्वथा अपने प्रयोजनमें दत्तचित्त. अखबारमें कहीं उनका नाम नहीं देखा, किसीसे जिक्र नहीं सुना. फिर प्रयोजन क्या ? यश उन्हें इष्ट नहीं, न सत्ता. कारण, सत्ताके लिए यशसे आरम्भ करना होता है. फिर इस व्यक्तिमें एकाग्रता है तो किसको लेकर ? सच, विस्मय होता है !

मुस्कराकर मुझसे पूछा, "आपका प्रवास, आशा है, सुखद रहा और शिक्षाप्रद."

उनकी भाषा एकदम दुरुस्त है, जैसे वस्त्र, जैसे उनका अन्य व्यवहार. मानो वाक्योंमें यथास्थान पंक्चुएशन तक हो, जैसे मुद्रित ही हों.

मैंने कहा, "जी, शिक्षाप्रद भी."

"आशा करता हूं" सज्जनने कहा, क्योंकि आपाततः वह सज्जन ही थे, "कि आपकी शुभ सम्मति दृढ़ ही हुई. कारण, और कुछ हो सकता न था !"

सज्जन कहकर मुस्कराते रहे. मैंने कहा, "जी, कदाचित्."

"तो आप आशा न करें." वह बोले, "कि मैं अपराध करूंगा. औचित्यका भंग मुझसे न होगा. किन्तु क्या आप सुनकर विस्मय मानेंगे कि मेरी भी सम्मति दृढ़ ही हुई है. और मेरे साथ प्रश्न सम्मतिका नहीं, यथार्थताका है."

मैंने भी मुस्कराते हुए कहा, "नहीं, मुझे विस्मय नहीं है."

"धन्यवाद," वह बोले, "किन्तु क्या आप नहीं चाहेंगे कि धारणा कटुसे मृदु हो ? वह आप कर सकते हैं. कटुता स्वादिष्ट नहीं होती. मैं स्वयं खिन्न हूं, पर यथार्थ कटु हो तो बताइए मैं कैसे अपनी सहायता करूं ? आप वह सहायता कर सकते हैं. क्योंकि आप यहां वर्धनके इतने निकट रहे हैं और जानते हैं कि यहां सब समीचीन है, उचित है और कहीं विकार नहीं है. मैं भ्रममें तो नहीं हूं ?"

मैंने शांत भावसे कहा, "नहीं, मेरी धारणाके सम्बन्धमें आपकी धारणा भ्रान्त नहीं है. पर हो सकता है, मैं पास हूं इससे कम देख पाता हूं. आप दूर हैं, इसीसे गहरे देखनेकी आपको सुविधा है. कुछ हो तो कहिए और कृपया यह न मानिए कि मैं अपनेमें, अपने विचारमें, इतना लिप्त हूं कि आपकी सूचनाओंके प्रति ग्रहणशील न हो सकूंगा. परीक्षा कीजिए, कदाचित मैं उनुत्तीर्ण न होऊं."

जाने मैं कैसी भाषा बोल निकला था. वह मेरे स्वभावसे संगत न थी. पुस्तक लिखी हैं, पर भाषा पुस्तकीय मुझे नहीं आती. लेकिन उनके समक्ष वही भाषा मेरे लिए सम्भव और संगत रह गई. अत्यन्त अ-सरल और अ-पौरुषेय.

बोले, "कहा था मैं वर्धनका सम्बन्धी हूं. आपको स्मरण होगा. सम्बन्ध दूरका है. कहिए अब वह है भी नहीं. किन्तु उसका इतना परिणाम शेष है, जीवन पर्यन्त शेष रहेगा, कि मैं उनका पक्ष करूं. व्यक्ति कितना ही अन्वेषक हो, समीक्षक हो, रक्तके रागसे उसे भी मुक्ति नहीं. इससे यदि मेरी सम्मति पक्षमें नहीं हो पाई, तो आप अनुमान कर सकते

हैं कि अपने ही साथ मुझे कितने संघर्ष और कष्टमें से निकलना हुआ होगा. पर आज कुछ निश्चित और उचित मेरे पास है, तो वह यही कि जयवर्धनको सहते रहना अब भारतके लिए असम्भव होना चाहिए, नहीं तो भारत क्लीव है, निर्भविष्य है. नहीं कहा जा सकता कि उसकी विद्यमानतासे भारतके शरीरमें रोगके कीटाणु कितने गहरे प्रवेश न पाते जाएंगे. उन कीटाणुओंसे मुक्ति पाने और स्वास्थ्य पानेमें देशको फिर शताब्दियां लग सकती हैं. रोगके चिन्ह ऊपर नहीं हैं. इससे चिन्ता और गहरी जरूरी है. कारण, रोग ऊपर फूटेगा तब उपाय न रह जाएगा. उपचार तत्काल आवश्यक है. जानता हूं, मैं समझा नहीं सकता. आपको ही नहीं तो भारतकी मूढ़ जनताको तो क्या समझा सकता हूं. आप आदर्शवादी हों, फिर भी उस वायुमें रहे हैं जहां वृत्ति वैज्ञानिक है. तत्व-ज्ञानमें भी वृत्ति वैज्ञानिक हो सकती है. प्रत्युत वहां वृत्ति और भी वैज्ञानिक होनी चाहिए. कारण, वहांसे व्यक्ति बनता है, सब कुछ बनता है. किन्तु यह जो श्रद्धा है, जो अपनी ही एक कुहेलिका और धूमिलता उत्पन्न करके, रहस्यावृत्त छायामयताकी सृष्टि कर लेकर, वैज्ञानिकतासे मुक्ति पाना चाहती है—वह क्या है ? जयने सदा उस घुट्टीका उपयोग किया है. भारतके प्राणोंमें पहले ही विष कम न था, इस व्यक्तिने वही भारतको और पिलाया है... देखता हूं आप हंस रहे हैं."

अवश्य मेरे चेहरे पर मुस्कराहट होगी. "आशा है" मैंने कहा, "हंसना निषिद्ध नहीं है और उसका सब श्रेय भी मुझे नहीं है. कुछ तो उसका भाग आपको भी ग्रहण करनेकी कृपा करनी होगी."

कठिनाई उन्हें चाहे हुई, फिर भी वह मुस्कराए. बढ़कर सामनेका पेग भरा और मेरे आगे करते हुए कहा, "धन्यवाद. मैं श्रेयका अपना भाग स्वीकार करता हूं. आपकी कृपा भी मानता हूं. लोग चाहे हंसें, पर एक बार सुन लें तो उनकी भी कृपा मैं मानूंगा. पर वह भी होता नहीं है. कारण ? कारण है वही विष. उसीका प्रभाव है कि आंख नहीं खुलती और वह जयकी मिथ्या विनम्रतापर लुभाई रह जाती है. आप—"

मैंने कहा, "कुछ प्रमाण हों तो—"

वोले, "प्रमाणके अभावमें मैं कुछ प्रतिपादन करूं क्या यह आपको सम्भव लगता है?"

मैंने क्षमा प्रार्थनामें गुनगुनाना चाहा कि, लेकिन—

उन्होंने मेरी चेष्टाको व्यर्थ करते हुए कहा, "लेकिनकी आवश्यकता नहीं. कारण, उपयोग ही नहीं.....क्या आपका अभ्यास छूट गया है? नहीं तो इन कुछ पैगोंका इतना तो प्रभाव नहीं होना चाहिए कि—"

मैंने नम्रता पूर्वक कहा, "धन्यवाद."

वोले, "प्रभाव न हो तो आपके भी निकट स्पष्ट हो आए कि जयमें कपट है. 'मैं' कहना अत्युचित है, वही मूर्तिमान कपट है...क्या मैं आपके चित्तको दुखा रहा हूं ?...तो मैं क्षमाप्रार्थी हूं."

अनुभव किया कि सभ्यता कहांतक जा सकती है. सच ही उसकी सीमा नहीं है. मनको अलग रखकर व्यवहारमें वह स्वयं-प्रतिष्ठ बनी चल सकती है. अर्थात् सभ्यको दुष्ट होने तकमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए. इस अनुभवपर जैसे मैं घवरा आया, वोला "नहीं, नहीं..."

सज्जनने कहा, "क्षमा कीजिए प्रश्नके लिए. वता सकते हैं आप यहां क्या चाहते हैं ? किसलिए हैं ? और—कवतक हैं ?"

मैंने उनकी ओर देखा. कुछ विस्मयसे, कुछ प्रश्नसे. भय मुझे संगत न हो सका. हंसकर कहा, "क्या मैं सच ही इतना आपकी चिन्ताके योग्य हूं ? तव तो भाग्यशाली हूं."

वोले, "हां, भाग्यशाली हैं कि—अवतक हैं." पर हम लोग जानना चाहते हैं. मैं इसी निमित्त आया हूं. मानिए कि भेजा गया हूं"

अव भी अपनेमें मैं भय नहीं पा सका, कहा. "नहीं, मैं यह नहीं मानना चाहता हूं. कारण, कोई शक्ति नहीं हो सकती जो आपको भेजे. आप स्वाधीन हैं. मस्तिष्कसे और भी स्वाधीन चेता हैं. किसीने चाहा होगा आप आएं, तो यह चाह स्वयं आपमें से ही उसे मिली होगी. मैं न मानूंगा, कभी मान नहीं सकता, कि आप स्वयं नहीं हैं, माध्यम हैं. कहिए...?"

बोले, "आपकी शुभ सम्मतिसे परम कृतार्थ हूं. आशय था कि मैं एक नहीं हूं, और अगर हम अनेक हैं तो यह भी सच है कि मैं केवल स्वयं नहीं हूं. हम हम हैं और मेरी प्रार्थना है कि बताएं कि आप शीघ्र-से शीघ्र कब अपने देश वापिस जा सकते हैं...?"

मैंने हंसकर कहा, 'अभी सामयिक रूपमें मैं विधुर हूं. इससे वापिस जानेकी आतुरताका मेरे साथ विशेष कारण नहीं है."

"आपके साथ नहीं है." उन्होंने कहा, "किन्तु क्या कृपया आप मुझसे भी वह कारण प्राप्त न करेंगे ? कारणकी व्यख्यामें न जाऊंगा. पर हो सकता है कि आतुरता अभी चाहे न हो, लेकित फिर आपको व्यग्र होना पड़ जाए. हम लोग सोचते कम हैं, इससे जो सोच लेते हैं वह अव्यर्थ ही होता है."

मैंने उस अत्यन्त भव्य और भद्र व्यक्तिको देखा. कुछ देर देखता रहा. कहीं सभ्यताका व्यतिरेक न था बल्कि संकल्पकी एक मोहिनी स्थिरता थी. आकर्षण हुआ, सहसा पूछा, "आपकी क्या आयु होगी ?"

बोले, "जो आप मानें. आपके अनुमानको मैं असिद्ध न करूंगा. किंतु क्या आप उत्तर बचाइएगा ? हमें उत्तरकी आवश्यकता है."

मैंने उनका पैग भरा, अपना भी भरा, खड़े होकर उन्हें कन्धेपर थपथपाया. कहा, "बाहर सुहावना होगा. आइए वहां चलें. कमरा यह काफी बड़ा नहीं है."

कहते हुए मैंने जैसे अपनेको युवा अनुभव किया. अब नहीं तो कभी तो युवा था. युवकोचित काम भी किए थे. इस समय उस कालसे इतना अन्तर नहीं रह गया कि वे यादमें परे रहें. वे एकदम मुझमें मचल आए. मानो उनका कर्ता मुझसे अनेक वर्षोंके अन्तरपर न रह गया, मुझमें वह इस क्षणकी सम्पूर्ण वर्तमानता बनकर उतर आया. हूं वह मैं न रहा, था सो हो आया. कहा, "आप चालीसके भी पूरे नहीं दीखते हैं. जवानीके भी उस किनारे नहीं, बीचसे इधर ही हैं. मेरी ईर्षाके पात्र हैं—आइए चलें."

वह भी उठे. पर जैसे यह शिष्टाचारवश अधिक हो. कर्तृत्व, जो

सदा उनके पास दीखता था, मानो इस क्षण अनुपस्थित हो. बोले, "सहर्ष! पर क्यों ?"

"बाहर खुला है न ! लॉन है, हवा है—आइए"

मैंने बांहसे लिया और, मानो शिष्टाचारके वश, वह भी साथ हो लिए. उनका पैग उठाते और उन्हें देते हुए मैंने कहा, "यह तो लीजिए."

मेरी ओर देखा, पैग लिया, और एक साथ आगे हो लिए. लॉनमें एक कुर्सी खींचकर उन्हें बिठाया, खुद बैठा, और कहा, "अब कहिए ?"

जैसे वह सहसा उपस्थित न हों, बोले, "क्या कहूं ?" असमन्जसमें कुछ मुस्कराए और हठात् कहा, "आपने क्या सब भुला नहीं दिया है !"

"क्षमा चाहता हूं" मैंने कहा. "आपने शायद आदेश दिया था कि मैं वापिस जानेको तैयार हो जाऊं. आज्ञा यही थी, यदि मैं नहीं भूलता हूं."

क्षणमें जैसे उन्होंने अपनेको समेटा. अब चेहरेपर वही ध्रुवता थी. कहा, 'जी !' कहकर उसी भांति उदारतापूर्वक वह मुस्कराए.

मैंने कहा, "आज्ञाका पालन हो सकता तो मुझे प्रसन्नता ही होती आदेशमें ऐसी दृढ़ता इस लंबी आयुमें अबतक मुझे अधिक नहीं प्राप्त हुई. भाग्यवश जब मिली है, तो उसका सम्मान ही उचित होता. आपके हितसे अधिक स्वयं मेरे अपने हितमें. किन्तु प्रतीत होता है, क्षमाकी फिर मुझे आपसे प्रार्थना करनी होगी—लीजिए, आपके स्वास्थ्यकी कामनामें !"

कहकर अपने पैगको उठाकर उनके हाथ वालेके साथ खनकाया और अपने ओठोंपर ले गया.

यह क्रिया इतनी अकस्मात् हुई कि उनको भी वही करना हुआ. तत्काल और भी उल्लास-भावसे उन्होंने दुहराया—

"आपके स्वास्थ्यकी और शुभ गृह-यात्राकी कामनामें !"—कहकर उन्होंने पैगसे सिप लिया और घूंट कंठसे उतारकर कहा, "क्षमा इस बार आपको मुझे करना होगा. कारण, आदेश निश्चय ही आपके हितमें है. और जहां से है, वहां अपालन सहन करनेका अभ्यास नहीं है."

मैंने कहा, "आभारी हूं. तो चलिए अभ्यासका मुझसे ही आरम्भ

हो, चलिए इतने काम तो मैं आपके आऊं. जान पड़ता है उपकार आपका व्रत है. मेरे हितका ही आपको ध्यान है. परिणाममें क्या मैं आप लोगोंके लिए इतना नहीं कर सकता कि नए अभ्यासका आरम्भ करा सकूं ? आशा है वह अभ्यास अनुपादेय न होगा. आदेश देने का काम सरल नहीं होता, प्रिय भी नहीं होता. आशा है एक वार उस अप्रियताके दायित्वसे आपको मैं हलका कर पाऊंगा. क्षमा कई वार पा चुका हूं, इस वार न करना चाहें तो दण्ड ही दें...मैं जल्दी वापिस जाने का विचार नहीं रखता हूं."

वोले, "सोच लीजिए."

मैंने कहा, "सोचनेकी आवश्यकता इसलिए और भी कम है कि देखता हूं इससे आपको कुछ कर्तव्य मिलेगा जो आपका कदाचित् प्रिय भी होगा."

वोले, "हमें जल्दी नहीं है. चौवीस घण्टा और है, सोच लीजिए. परसों तक आप निकल सकते हैं."

मैंने कहा, "इतना आपको मुझपर विश्वास है?"

वोले, "नहीं, विश्वास अपनेपर है."

विस्मय हुआ. सराहनाका ही भाव विस्मयमें अधिक था. कहा, "चौवीस घण्टेमें आप जानते हैं वहुत कुछ किया जा सकता है !"

वोले,"—और आप अवश्य कर सकते हैं."

और भी विस्मय हुआ. कहा, "जय नहीं है, इसको आप अपने पक्षमें वड़ी सुविधा तो नहीं मानते ?"

पहली घूंटके वाद पेग उनके हाथमें ही था. सुनकर उन्होंने एक घूंटमें उसे उड़ेला और पात्रको झटकेसे दूर झाड़ीमें फेंक दिया. फिर लापरवाहीसे कोटकी आस्तीनसे मुंह पोंछा, एक कड़वी हंसी हंसे और कुछ उत्तर नहीं दिया.

जो रस मुद्दतसे मुझे नहीं मिला था, अव मिला. मैंने भी पेग खाली किया, उसे मेजपर रखकर और हाथ वढ़ाकर उन महानुभावका हाथ

लिया और जोरसे झकझोरा. कहा, "विश्वास रखिए, वह मेरे लिए भी असुविधा नहीं है. जहां चाहें मैं आपको प्राप्त रहूंगा...लेकिन मि० मोहन, क्या मैं आपके लिए जयसे भी प्रथम हूं? नहीं जान सका कि जय आपको दुर्लभ क्यों हैं ?"

"दुर्लभ नहीं हैं" मि० मोहन ने कहा. "कठिनाई यह है कि हम लोग सदय हैं."

"सदय होनेका कोई कारण है ?"

"मैंने भी यही साथियोंसे पूछा था. कारण वे भी नहीं बता सके. लेकिन साथी हैं, मेरे पक्षमें यही एक कारण है."

"क्षमा कीजिएगा" मैंने कहा, "तो साथियोंके साथ अकारण भी आप कोमल हो सकते हैं, जयके प्रति नहीं ?"

मोहन हंसे, विलक्षण वह हंसी थी. कहा, "आप भूलते हैं. कोमलता नहीं है. वे साथी हैं. जय सिर्फ जय है. वह साथ नहीं चाहता, साथी नहीं चाहता, यद्यपि हम उद्यत थे, उद्यत हैं. पर छोड़िए, आप अपनेको लीजिए, चौवीस घंण्टे—याद रहेगा न ?"

"वे वीतें इससे पहले आप याद दिलाइएगा ही. यानी यादके वोझसे मुझे वरी मानिए. पर मि० मोहन आइए, वैठिए, पूछने दीजिए कि क्या मुझमें आप इतने निराश हैं कि प्रमाण आप मेरे सामने लानेका कष्ट भी नहीं करना चाहते ? निश्चय प्रमाण संगीन हैं और आपके लिए किसी भी और निर्णयका अवसर नहीं छोड़ते. यह तो मैं मान ही नहीं सकता कि अपने प्रमाणोंपर आपको अविश्वास हो. तव यही रह जाता है कि अविश्वास मुझमें है!"

वोले, "हां, यही है. आपने यहांसे जितने संवाद अपने देशको भेजे हैं हम लोगोंने अक्षर-अक्षर पढ़े हैं, विवेचनाकी है. कुल मिलाकर जगतमें वे जयका मान और मूल्य वढ़ाते हैं. जय जो है सो है. संकट उसका होना इतना नहीं है जितना उसके होनेका मूल्य वढ़ते जाना है. उसके इस भूतसे लड़ना मुश्किल होता है. उसके प्रभावका एक भूत ही खड़ाकर

दिया गया है और वह आप जैसे लोगोंने किया है. नहीं तो जय साधारण है, स्वल्प है. उससे भी कम है, क्योंकि विश्वासघाती है. पर आप लोग जो शब्दोंके गीत गढ़-गढ़के आसमानमें यहां-वहां उड़ाते हैं, संकट उसीसे बनता है. देश जाकर जो चाहे लिखिए. पर प्रत्यक्ष-दर्शी बनकर जो लिखते हैं वह जब प्रत्यक्षसे उल्टा होता है, अनुमान और वह भी सर्वथा मिथ्या अनुमान होता है—तो यह हम कैसे सह सकते हैं ? हम राजनीतिक नहीं हैं. केवल प्रज्ञावादी हैं और सत्यके शोधक हैं. एक ही हमें कर्त्तव्य है, वह यह कि सत्-मूल्योंका उद्घाटन एवं उद्भावन करें. मूल्य हमारे अस्त-व्यस्त हैं. इसीसे मूढ़ता है और जगमें विक्षोभ है. उस मिथ्याके आडम्बरको हमें खण्ड-खण्ड करना है. न हमें राग है,न द्वेष है. सत्तासे हमें प्रीति नहीं. पहली बार नहीं है यह कि राज्य अनिष्टकारी हो. सच यह कि वर्तमान राज्य उतना अनिष्ट है भी नहीं. प्रश्न वह नहीं है. प्रश्न केवल मूल्यका है. हमने विधिवत् जयका अध्ययन किया है. दिन लगाए हैं, और रातें भी इसमें लगा दी हैं. एक शब्द ऐसा नहीं है जो जयके सम्बन्धमें छपा हो और हमारे पास सुरक्षित न हो...पर आपके पास समय नहीं है, सचमें तो वृत्ति ही नहीं है. कितना भी कहें आप कि सत्तत्वके खोजी हैं, पर वह वृथा है. ईश्वरका जो नाम ले उसके मुंहपर सत्य शब्द भी झूठ हो जाता है. विश्वाससे चले वह परीक्षक हो नहीं सकता. हम सबने समझा था कि आप अन्त्रीक्षक हैं, परीक्षा करेंगे. प्रचार करेंगे तो विचारका, विवेकका. लेकिन देखा सो ,और ही निकला. जय जहां है वहांसे बहुतोंके स्वार्थके लिए बहुत कुछ कर सकता है. यही उसकी कुशलता है—अपनेको ऐसी जगह रखना जहांसे लोगोंमें प्रकार-प्रकारका लोभ जगाया जा सके और किंचित् उसको पूरा भी किया जा सके. यह अधूरी पूर्ति ही अग्निमें घृतका काम देती है. उसी क्षमतासे भाट और चारण उसके चारों ओर जुड़ गए हैं. कौन जानता था आप उनमेंसे ही निकलेंगे. पूछ सकता हूं, क्या सौदा है जो आप जयसे साधना चाहते हैं....होगा, और हमें जाननेकी आवश्यकता नहीं, पर असम्भव है

कि ग्रापका स्वार्थ न हो. कारण, बुद्धि ग्रापमें है ग्रौर वह ग्रच्छी तीक्ष्ण है. अवसर नहीं है कि व्यक्तिकी ग्रसलियतपर ग्राप न पहुंचें. . .हम निश्चित हैं. ग्रापने जो लिखा, कहा, समझा, उसके विश्लेषणके बाद संशय नहीं रहता कि ग्राप सत्य नहीं, स्वार्थकी सिद्धि चाहते हैं. स्वार्थ सब जगह है ग्रौर उससे लड़ना नहीं है, लेकिन ग्राप जो उसे बौद्धिकताका ग्रावरण देते हैं इसीसे हमें कहना पड़ता है. उसके कारण मूल्योंके सम्बन्धमें मतिभ्रम होता है. मतभेद इतने हैं, किन्तु उस सम्बन्धमें हमें कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता. कर्त्तव्य सब हमारा उन लोगोंके सम्बन्धमें है जो गहरे जाते हैं, विचारक हैं, जो लुब्ध नहीं हैं ग्रौर केवल तत्त्वके पर्त पर पर्त ग्रलग करके ग्रंतस्थ सत्यके उद्‌घाटनमें लगे रहते समझे जाते हैं. शायद ग्रब ग्राप हमें समझेंगे. लेकिन छोड़िए, समय ग्रापका बहुत लिया. ग्राइए चलें. मैं ग्रपने पास केवल पचास घण्टे लेकर ग्राया था. उसमें चौबीस आपके लिए ग्रौर हैं. फिर मुझे लौट जाना है. तबतक काम हो जाना चाहिए. काम है कि या तो जयके सम्बन्धमें हमारे बीच ग्राकर सचाई पानेके प्रयत्नमें ग्राप लगें, या ग्रपने देश लौट जाएं. नहीं तो जो तीसरी राह बचती है, उसकी बात न करना ही उत्तम है. . .ग्राइए, ग्रौर ग्राशा है ग्रापको समय याद रहेगा."

ग्रत्यन्त शिष्टाचार-पूर्वक उन्होंने विदा दी ग्रौर मैंने विदा ली. ग्रब यह लिख रहा हूं तो मनमें विचित्र शांति है. इन्द्रमोहनके लिए कहींसे भी उठकर भर्त्सना नहीं ग्रा पाती, सहानुभूति ही होती है.

सोचता हूं कि जयकी ठंडी शक्ति ही तो कहीं हठात् इन लोगोंको ग्रवरुद्ध ग्रौर प्रतिहत नहीं किए रहती ? शायद यही कारण है कि चुनौती खाकर इनकी बुद्धि मानो फन उठाए फुफकारती ही रह जाती है, कुछ भी ग्रौर काम लायक नहीं रहती !

नहीं, मुझे मालूम नहीं. ग्रो, परमेश्वर ! मैं तुझमें सो जाना चाहता हूं, सोचना नहीं चाहता. सोचना काल बुलाना है ग्रौर नींद ग्रकालकी ही ग्रमृत घुटी है.

३० मार्च—

सवेरे ही खबर देखी, एलिजाबेथ जयसे मिलनेको रवाना हुई हैं. जाना अचानक हुआ. अनुमान है कि वहां परामर्श लेंगी और शायद दल से अलग होंगी. तब निश्चय है भारी संख्यामें अन्य सदस्य भी उनका साथ देंगे. श्री नाथने कुछ बतानेसे इन्कार कर दिया. प्लेन लेनेसे पहिले संवाददाताओंने श्रीमती नाथको घेरा. वह मुस्कराकर टाल गईं. पत्रमें वर्णन था कि वह किस प्रकार जाते समय प्रसन्न मालूम होतीं थीं. पूछा गया कि वहां वह किस विषयमें परामर्शके लिए जा रही हैं ? कहा, 'सौ बातें हैं, एक मैं स्वयं हूं.' किसी साहसीने प्रश्न किया, 'स्वयंका आशय—क्या विच्छेद भी संभव है ?' उत्तर आया, 'उत्सुकता अपराध होना चाहिए. विश्वास है आप सहमत हैं.' वह संवाददाता लज्जित हुआ. लेकिन एक जो सबसे कम उम्रका था, बोला, 'दिलचस्पी आप और जगाती हैं, तनिक बुझाती क्यों नहीं ?' लिजाने उस बाल युवकको देखा, कहा 'शैल आई लव यू फौर यौर इंपर्टिनेस ! कुछ हम स्त्रियोंका भी हक है'...पत्रमें हैं कि लिजाकी प्रसन्नता संक्रामक थी और संवाद दाता सभी खाली हाथ रहकर भी प्रसन्न लौटे.

खबर छोटी न थी. पर मुझे अवकाश कम मिला. जाने क्या सूझा कि मैं इन्द्रमोहनके लिए पत्र लिखने बैठ गया. जानता था, न वह होटल होगा न शायद नाम ही वह हो. फिर भी आशा थी पत्र यथास्थान पहुंच जायगा . पत्र भेजकर मैं सोचता था कि इल्लतसे छुट्टी पाऊंगा, नहीं तो दिमाग़ यों यादसे छूटेगा नहीं. लिखा, 'प्रिय—, आपके आतिथ्यके लिए आभारी हूं. मेरी काफी उम्र है. बहुतोंसे मिलना हुआ है, लेकिन आपकी-सी सजगता और लगन अधिक देखनेमें नहीं आई. मेरी बधाई लीजिए...एक प्रस्ताव है, विचार कीजियेगा. जयसे आप मिलें और उनके सम्बन्धके सम्पूर्ण अध्ययनका फल उनके सामने रखें. और नहीं तो दूरी दूर होगी और सच आप सामने ला पाएंगे. लगता है वह आपका

विवशताको सराह सकेंगे. मुझसे इस संम्बन्धमें कुछ सेवा लेना चाहें तो कृतार्थ हूंगा. विश्वास मानिए आपकी मानसिक शक्ति अप्रतिम है. उसका बड़ा भविष्य हो सकता है—मैं हूं आपका सेवक.' पत्र अभी पूरा हुआ न था कि संदेश लेकर अरदली हाजिर हुआ. स्वागत अधिकारीने लिखा था कि इस समय मुझे सुविधा हो तो मेरे स्वागतका अवसर पाकर महामाननीया प्रसन्न होंगी. समझ न सका कि फोनकी जगह इस औपचारिक माध्यमका उपयोग क्यों हुआ. जो हो, खत पूरा किया, मोड़कर जेबमें रखा और तत्काल गया.

इला सौम्य मिलीं. उन्होंने क्षमा मांगी.

मैंने कहा कि उसकी आवश्यकता नहीं है. कारए, हो सकता है कि समय मेरे पास विशेष न हो !

उन्होंने प्रश्नसे देखा और मैंने हंसते हुए मोहनसे अपनी मुलाकातकी बात कही.

सहज भावसे बोलीं, "तो आपकी बात हो गई है !"

मैंने विस्मयमें कहा, "आप निश्चित मालूम होती हैं !"

बोलीं, "नहीं, बल्कि चिन्तामें हूं. मुझे बताया गया था, इसीसे बुलाया. वे खतरनाक लोग हैं, सिर्फ बातोंके नहीं हैं...आपको स्थान बदलना होगा, अन्दर आना होगा. वह मैंने कर दिया है, यहांसे आप नई जगह लौटेंगे. लेकिन नाम इन्द्रमोहन है उस आदमीका ?"

जैसे वह हैरतमें हों. मैंने कहा. "हां, पर उसमें इतना अनोखा तो कुछ नहीं है."

बोलीं, "कुछ तो है. इन्द्रमोहन नाम जय को प्रिय रहा है, शायद उस व्यक्तिको यह पता है. नहीं तो इन्द्रमोहन हो नहीं सकता. जय कहते थे, कबका वह खो गया !"

मैं उत्सुक हुआ, पूछा, "कौन था इन्द्रमोहन !"

बोलीं, "अधिक मैं भी नहीं जानती. इधर मुद्दतसे वह नाम सुना नहीं. पहिले कभी-कभी जयसे वह आ जाता था."

"आप कभी उनसे मिलीं ?"

"नहीं."

"कोई संबन्धी हैं ?"

"नहीं, संम्वधी तो नहीं."

मैं कुछ देर चुप रहा, फिर पूछा, "आप मानती हैं कि मुझे भयका कारण है ?"

वोलीं, "मुझे कहा गया था कि आपकी व्यवस्था वदल दूं."

"क्यों ?"

"मैं खुद नहीं समझी. मालूम करना चाहा, तो इतना ही वताया कि कुछ लोगोंको आपकी जरूरत है जो खतरनाक है."

मैं हंसा, क्योंकि मुझे तनिक भी खतरा नहीं अनुभव हुआ था. कहा, "क्या मैं उन अधिकारीसे मिल सकता हूं, जिन्होने चेतावनी दी !"

वोलीं, "क्या कीजिएगा ? खास खवर कुछ चाहें तो मैं पूछकर वता दूंगी. आप चिंता न करें."

मुझे विलक्षण लगा. मने कहा, "तो आपका सुरक्षा विभाग जगा हुआ है ! लेकिन—मैंने यह पत्र लिखा है, देखिए."

मैंने पत्र दिखाया. देखकर वह विशेष न समझीं. तव मैंने वताया कि वे लोग मेरे नहीं, दुश्मन हैं तो जयके हैं. पर अजव लोग हैं, दुश्मनीको गहरे सिद्धान्तसे जोड़े हुए हैं. यह तक नहीं मानते कि दुश्मन हैं. राजनीतिसे भी सरोकार उनको नहीं मालूम होता. इसीसे खत लिखा है !

इला सुन रही थीं ऐसा नहीं मालूम हुआ. सवके उत्तरमें एक ही सम्वोधन उनसे आया, "इन्द्र मोहन !"

कहकर वह ऐसी शून्य हो आई कि मैं और कुछ न कह सका, उन्हें देखता रह गया. कुछ देर वाद वोलीं, "जयका दुश्मन ! और इंद्र मोहन !!"

जैसे वोली न हों, आश्चर्यका भाव ही कंठसे फूट आया हो. कहकर फिर वह वैसी ही सुन्न हो आई. दो-तीन मिनिट यही भाव रहा, फिर

बोलीं, "सुनिए, जयने स्वयं कहा था. कहा था, आपको अपने निजी आवास में ले लूं, भूलूं नहीं."

"कब यह कहा था ?"

"आज ही रात, तीसरे पहर !"

अनायास मेरे मुंहसे निकला, "अभी, तीसरे पहर !"

वह चुप रहीं. मैं उत्सुक हुआ. पूछा, "क्या कहा था ?"

बोलीं, 'इतना ही कि भूलूं नहीं, सुरक्षाका ध्यान रखूं."

"और कुछ नहीं ?"

"नहीं"

"यह कि खतरा क्या है, कैसा है, कौन लोग हैं ?"

"नहीं"

"आपने फिर क्या किया ?"

सच यह कि अब मैं अवश्य ही चिंतित हो चला था.

"कुछ नहीं," वह बोलीं. "यही कि यहांसे आप नए वाले कमरेमें जाएंगे. और—आप चिंतित न हों."

चिंतित मैं था. जयको चितामें डालूं और मैं निश्चित बना रहूं, यह कैसे हो सकता था। ! कहा, "सुनिए, मुझे वापिस जाने दीजिए."

इला सहसा ही बदली दिखाई दी. बोलीं, "वह देखा जाएगा, उन्हें आने तो दीजिए."

मैं सच ही चिंतित था. मैंने कहा, "मेरे लिए यह बहुत है. और रहना मुश्किल है. अव्वल तो यही कि राज्यावासमें ठहराया गया, फिर यह कि चिन्ताका कारण बन रहा हूं...मालूम है आपको पत्रोंमें क्या लिखा जा रहा है ? एक ऐसा सन्देह उपजाया जारहा है जो अन्तर्राष्ट्रीय संबंधोंमें विष घोल दे. बात व्यक्तिकी नहीं है, बहुत बड़ी है. विनय है आप यह न करें. मालूम नहीं जयने क्या सोचा. लेकिन मेरा विचार है मैं कहीं होटलमें चला जाऊं. जब-तब और संवाद-दाताओंकी तरह मुलाकात पा लिया करूंगा, यही मेरे कामके लिए काफी हो जाएगा. आपको

जानना चाहिए कि मैं पत्रकार ही हूं. यहां जो सहसा उठाकर मुझे आप लोगोंने आत्मीय-सा वना लिया है, यह अति ही हुई है. वाहर इसकी प्रतिक्रिया है और यह अनिष्ट है...हो सकता है जयको इन सव वातोंका ध्यान न रहा हो. लेकिन आप सोचिए...मैं उत्तम यह समझता हूं कि जाऊं और मिलें तो उनके साथ रहने लग जाऊं जो अपनेको इन्द्रमोहन कहते हैं !"

इलाने मानो सुना ही नहीं. वह हल्के मुस्कराईं, कहा, "आप चिंता न करें. और दो दिनमें तो वही आजाएंगे."

मैं सोचमें हो आया, जाने मन कहां पहुंचा, पूछ उठा, "वात कव हुई थी ? तीसरे पहर कव ?"

व्यर्थ प्रश्न था. इला और मुस्कराई, वोली, "आप घवराते क्यों हैं ?"

सच ही मैं घवरा रहा था. यह कि तीन वजे जयने स्वयं फोनपर इलासे मुझको लेकर कुछ कहनेकी चिन्ताकी है, यह मेरे लिए कम घवराहटका कारण न था.

इला मुझे देखती हुई वोली, "सुरक्षा अधिकारीको वुलाकर मैंने ताकीदसे कह दिया है, आप एकदम चिन्ता न करें."

मुझमें विस्मय हुआ यह कि इला क्या सचमुच इतने ऊपरी तौरपर वातको ले सकती है. नहीं, वह सम्भव न था. क्षणके सूक्ष्म भाग तक संशयमें रहकर मैं समझ गया कि इलाका यह रूप व्यवहारका ही है, भीतर उसे मर्मकी पूरी अनुभूति है. कहा, "आपके आश्रयमें आकर फिक्र मैं क्यों करूंगा...लेकिन स्वामी चिदानन्दके वारेमें कुछ उन्होंने कहा ?"

इला मुस्कराती रह गई और कुछ उत्तर नहीं दिया. मैंने हठात् कहा, "तो जाने दीजिए."

वोलीं, "हां, जाने ही दीजिए. वात हंसीकी-सी है. मालूम होता है कि जय स्वामीजीको सन्तोष नहीं दे सके. कहीं समझौतेकी धरती ही नहीं मिली. जयने कहा कि मेरे पिता आ गए हैं, तव प्रश्न नहीं रहता. चिदानन्दको इससे समाधान न था. मेरे लिए दन्डसे कमकी व्यवस्था वह नहीं

चाहते, जयके लिए प्रायश्चित्त. दोनोंका रूप सार्वजनिक हो. इससे कममें दोषका मार्जन न होगा."

कहकर इला मुस्कराती मेरी ओर देखती रह गई.

मैंने कहा, "बस, यही अन्त ?"

बोली, "नहीं, प्रारम्भ. प्रस्ताव हुआ उनका कि पण्डितोंकी विशिष्ट सभा बुलाकर दण्ड और प्रायश्चित्तकी व्यवस्था ली जाए."

कहकर वह रुकीं, मुझे चिदानंदके साहसपर विस्मय हुआ. फिर हंसती हुई बोलीं, "जयने सुझाया कि पण्डितोंसे पहिले आप तो हैं, आप क्या व्यवस्था देंगे ? जयको दो उपवास बताए गए और मेरे लिए मन्तव्य हुआ कि पास पहुंचकर दण्डकी उनसे भिक्षा मांगूं."

मुझे हैरत थी कि यह सब किस तरह हुआ होगा. जयने किस प्रकार सहा होगा. पूछा, "फिर....?"

उन्होंने बताया, "जयने उपवासका आश्वासन दिया है. मेरे सम्बन्धमें कहा है कि कहूंगा....फिर जयने उन्हें पूछा, "जो प्रदर्शन हो रहे हैं उनके सम्बन्धमें आप क्या कर सकते हैं ?" स्वामी ने उनकी जिम्मेदारी अपनी न मानी. जयने कहा, "उनपर आपका अभिप्राय क्या है ?" बोले, "मुझसे सम्बन्ध नहीं है." जय ने कहा, "अखबारमें यह खबरें हैं—मैं पूछता हूं आप वह सब उचित मानते हैं ?" कहा, "अभद्रताको अनुचित समझता हूं." जयने कहा, "यही उचित है. कृपया यह वक्तव्य मुझे लिख भेजिएगा. लोग कुछ करें, आप ऋषि तुल्य हैं. आपका नाम अभद्र कार्यवाहियोंके साथ जाए तो यह आप न सहें. निर्दोष लोगोंके जान-मालके नुकसानसे किसको नफा है ? मैं हूं, मुझपर वे हाथ डालें, मुझे मांगें. न समझा जाए मैं सदा फौजोंसे घिरा रहता हूं. यह आपके समक्ष हूं और सबके समक्ष हूं. आप कह दीजिए कि मेरा वह जो बनाना चाहें बनाएं, लेकिन भारतका माथा न झुकाएं. उसपर कलंक आया तो हम सभी तो कलंकी बनते हैं...मालूम हुआ है चिदानंदने अपनी लिखित पंक्ति दी और जय धन्यवाद देकर चले आए...यह है

जो हुआ."

मैंने पूछा, "तो वह उपवास रखेंगे ?"

"अवश्य" वह बोलीं, "और उसे सार्वजनिक भी बनाए बिना न रहेंगे."

"और आप...?"

"देखती हूं आकर क्या कहते हैं, जो कहेंगे करना होगा."

"दण्डकी भिक्षा जाकर मांगेंगी ?"

"वह जानें. कहेंगे सो होगा."

सुनकर मुझे कष्ट हुआ. जय झुकें यह मेरी समझमें नहीं आता था. मैं इसी उधेड़ बुनमें जैसे कुछ खो रहा.

बोलीं, "आप सोचमें न पड़ें....पत्र भेजना चाहते हैं ?"

सुनकर मुझे पत्रका ध्यान आया. कहा, "हां."

बोलीं, "लाइए."

कहा, "मैं अपनी जगहसे भिजवा दूंगा."

बोलीं, "कहांसे भिजवा दीजिएगा ? न जगह है, न आदमी. लाइए, दीजिए."

मैंने अपने मनकी शंका रखी, कहा, "सुरक्षा अधिकारीको तो न दीजिएगा ?"

बोलीं, "कहना तो उसे होगा—पर पत्र पहुंच जाएगा."

मैंने आपत्ति की कहा, "मैं यह नहीं चाहूंगा कि उनपर विपद आए."

बोलीं, "पर आपपर भी कोई विपद नहीं आनी चाहिए.—लाइए."

पत्र मैंने दे दिया. कहा, "मैं आपसे वचन चाहता हूं कि उनका कोई अनिष्ट न होगा."

बोलीं, "नहीं, अनिष्ट न होगा. लेकिन उन्हें खबर होना आवश्यक है कि हम बेखबर नहीं हैं...आप सोचते हैं कि आपका पत्र परिणाम लाएगा ?"

"मेरा मानना है कि वे लोग राजनीतिक चक्रमें नहीं हैं."

इलाने विशेष नहीं कहा. उनकी सौम्य मुस्कराहटको भेदना मुश्किल था. जैसे वह अधिक जानती हैं.

उसके बाद कमरोंपर कमरे पार करके मुझे अपनी जगह पहुंचाया गया. अनुमान न कर सका मैं कहां हूं. सब सुविधा थी, पर लगा कि कड़ा पहरा भी है. सामान सब मेरा वहां आ चुका था, और कमरेमें काफी पुस्तकें थीं जो मेरी रुचिकी हो सकती थीं.

दोपहर भोजन इलाके साथ हुआ, शामका भी. अपरान्हका उपाहार ही कमरेमें. ऐसे दिन बीत गया, रात हो आई. अघटनीय कुछ न घटा.

रेडियो ने अवश्य खबर दी कि श्रीमती नाथकी राजपतिसे पैंतालीस मिनट बातचीत हुई. अनुमान है बातचीत अभी जारी रहेगी....

लिजा !...मेरा मन आश्वस्त नहीं है.

३१ मार्च—

...एक साथ दो वक्तव्य. श्री नाथकी घोषणा है कि भविष्यके और प्रगतिके सम्बन्धमें चिन्ता रखनेवाले सब तत्वोंके लिए सचेत होनेका समय आया है. शासनकी नीति ऐसी ही ढुल-मुल रही तो देशको बड़े संकटका सामना करना पड़ेगा. मेरा प्रयत्न होगा कि बहुत जल्दी उन सब तत्वोंको विचारके लिए निमन्त्रित करूं जो स्थितिकी विषमताके ति जाग्रत हैं और संकटपर जय पानेके लिए कुछ किया चाहते हैं. पल पलका मूल्य है, और आशा है कि अगले ही पखवाड़ेमें यह सम्मेलन हो सकेगा....

उधर एलिजाबेथ ने प्रेसको बुलाकर कहा कि आलोचनाकी राजनीतिके इतने लम्बे अनुभवने मुझे बताया है कि उससे व्यक्तिको और समाजको

कुछ बेचैनी ही प्राप्त होती है. रचनाका इतना काम पड़ा है और उस शक्तिके लिए आह्वान है जो मार्ग न पाकर नकार-निषेधोंमें भटकती और हठात् व्यय होती है. समय यह अपने और अपने दलोंके अभिमानको उभारे रखनेका नहीं है. मेरी चेष्टा होगी, और आशा है श्री नाथ इसमें साथ होंगे कि मतभेद रहते भी सब दल ऐसी रचनात्मक भूमिकाका अपने बीचमें आविष्कार कर सकें जहां शक्तियां एक दूसरेको परास्त करनेमें न व्यतीत हों, बल्कि किसी महा उद्देश्यमें वे परस्पर पूरक हो आएं. उद्देश्य वह है और आज भी सबके भीतर उपस्थित है. भारतका भाग स्पष्ट है. विश्वको जिस एक पदार्थपाठकी आवश्यकता है वह भारतमें ही प्रत्यक्ष न हुआ तो कहींसे होनेवाला नहीं है. हम निर्दलीय शासन चाहते हैं, या कहिए सर्वदलीय. एक व्यवस्था निकली थी मोनोलिथिक जिस में दल ही नहीं रह जाते थे. उससे कुछ लाभ दीखा था, पर फिर अलाभ सामने आ गया. आदमी पुर्जा तो नहीं बन सकता, बनाया जा सके तो सच ही एक देश बड़ा काम कर ले जा सकता है. पर वह देश शेषके लिए मुट्ठीके मानिंद बन्द होकर शंकाका कारणभी बन आता है. उपाय वहां है, जहां एक-ता है, एकमत-ताका आग्रह नहीं है. श्री वर्द्धनका उधर प्रयास है. सर्वदलीय शासनके प्रयोगके लिए वह तैयार हैं. सर्वदलीय भी यों तो कम है. और उन्होंने मुझे कहा कि 'जानता सदा जनता है, कभी वह दल नहीं है. फिर भी जनताकी अनुमतिसे सर्वदलीय प्रयोगके लिए मैं उद्यत हूं.' उसकी कुछ रूपरेखाके साथ यहांसे श्री नाथके पास जाकर इस विचा-रके विस्तारका मेरा प्रयत्न होगा. जो हो, मुझे इसमें लगना है और यदि सब दलोंमें सहयोगकी भूमिका बन सकी तो समस्त राजनीतिके इतिहासमें यह अपूर्व बात हो जाएगी. लड़ाईके लक्षसे देशोंमें विविध दल मिल आ सके हैं. मिलानेकी वह क्षमता लड़ाईमें ही हो, शांतिमें नहीं, तो यह विडम्बनाकी बात होगी. अबतकका तो यही अनुभव है, किन्तु श्री वर्द्धनने कहा, और ठीक है, कि शांति और प्रेमकी भी 'वासना' हो सकती है. शांति विश्राम नहीं है, वह सतत कर्म है. उसमें एक प्रकारका युद्ध भी

आ जाता है. यदि युद्ध ही स्फूर्ति देता है, तो उस युद्धके लिए शांतिके मैदानमें कम अवकाश नहीं है. हमें नकारात्मक प्रवृत्तियोंसे अपने भीतर और बाहर युद्ध करनेका निमन्त्रण है. रचनात्मकताकी यही चुनौती है. उन बन्धुओंको जिन तक मेरे यह शब्द पहुंचें मेरा निवेदन है कि वह देशके इतिहासमें इस नए परिच्छेदके आरम्भमें योग दें...

निश्चय बड़े शब्द हैं. लिजाको यह क्या हुआ है ?

जयके सम्बन्धमें पत्र आज भी मौन हैं. यह कम समझमें आता है.

...इन्द्रमोहनका क्या हुआ ? जाननेका उपाय नहीं है. जानना चाहता अवश्य हूं. उसमें विश्वास अनुपम था. अपना ही उसे भरोसा हो, यह तो नहीं लगता. अवश्य पीछे संगठन है और वह विश्वसनीय है. नहीं तो उसका-सा निश्चय बातमें आ नहीं सकता...या उनके इरादोंमें ही फेर-फार हो गया ?...मेरा पत्र मिला ? मिला, तो क्या हुआ ?

...देशसे प्रकाशकका फोन आया. तुरन्त जयके सम्बन्धमें पुस्तक चाहते हैं. मैंने असर्थता बताई. उन्होंने ऑफर एक साथ दुगना किया. मैंने कहा, अगले मासके अन्त तक स्वयं पहुंचकर बात करूंगा. आग्रह हुआ, तबतक पुस्तक निकल आनी चाहिए. भारतीय झुकावके पक्षको चुनावमें अवश्य जीतना है, इससे पुस्तक चाहिए और समय पर. कह दिया कि जो संवाद मेरे गए हैं, उनमेंसे अपनी पुस्तक निकाल सकें तो देख लें, अधिक मैं इस समय नहीं कर सकता हूं. हठ हुई, निजी कुछ चाहिए, और प्रत्यक्ष और घनिष्ट, जिसमें हृदयपक्ष उभर कर आए. डपट दिया, मैं नहीं कर सकता.

अब सोचता हूं क्यों नहीं कर सकता ? क्या यह सही समय और सही काम न होगा. वहांकी मजबूती जयको घरमें मजबूत बनाएगी. क्या यही मैं नहीं चाहता ? मुझे आदमी पंसद आया है. सच ही अलग है और बेलाग . एक साथ निर्मम और कातर. ऊपरसे लगता है अपनी स्थितिके बारेमें बेखबर है, पर सोया भी नहीं है. बेखबरी उलटे उसके पक्षमें पड़ती है. कारण, अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिके हिसाबसे उसे अपने

को साधनेकी जरूरत नहीं रहती. वह स्थिति ही चाहे तो उसे समानेकी चिन्तामें अपनेको अदला-बदला करे.

सच ही गहरा अध्ययन है कि आदमी अन्तरंगसे साम्य साधने जाकर बाहरको सहज ही कैसे साध आता है ? राजनीतिज्ञ विफल हो सकता है, चाल उसकी चूक भी सकती है, और नहीं तो इसीसे कि वह चालकी भाषामें सोचता है. यहां जय है जिसे वह भाषा, वह वृत्ति ही अप्रस्तुत और असंगत है. बाजी जैसे उसकेलिए बाहर कहीं बिछी ही नहीं है. क्या चलना और कैसे चलना, जैसे इसका सम्बन्ध ही उसके निकट जमी हुई बाजीकी बिछातसे और उसके मोहरोंसे नहीं है. जैसे आंखें ही उसकी वहां नहीं हैं. फिर चाल कैसे और क्यों ठीक बैठती है, मैं समझ नहीं पाता हूं. पर यह ही है जो समझना चाहता हूं. विज्ञानसे भी क्या कोई ऊंचा विज्ञान है ? वैज्ञानिक बुद्धि कारण-कार्य-शृंखलासे चलती है. एसे चलकर क्या-क्या करिश्मे उसने नहीं दिखा डाले. निश्चय उस बुद्धिकी सिद्धि कम नहीं है, पर क्या उससे भिन्न, उससे आगे कुछ और भी है ? कारण-कार्य-तर्क ठीक है, ठीक है कि उसकी शोधसे हमने पदार्थ पर प्रभुता पाई है. लेकिन हमारे अपने कार्यका कारण कहां है ? उसकी शोध बहुत शेष है. हम अपनेसे अलग हों, तभी अपनी शोध चल सकती है. अलग, यानि इच्छाओंसे प्रथक, सर्वथा दर्शक. इच्छाएं मुझसे जुड़ी न रहें, गुण-रूपमें अपने नियमसे स्वयंमें प्रवर्तित होती रहें. ऐसे भोक्ता मिटेगा नहीं, कर्त्ता भी स्वस्थ रहेगा. पर तब दोनोंके ऊपर दृष्टा सतत साक्षी बना विराजित रहेगा और अपने अंतरंगके कारण-क्रियाके ज्ञानको वह अपनी साक्षीमें जुटाता रह सकेगा...

जो हो, जय राजनीतिज्ञसे पृथक है. इसीसे अपेक्षतया सफल और अचल है.

क्या मैं उस तत्व-विज्ञानको प्रेषणीय रूपमें रख सकूंगा कि रहस्य सुगम हो और जीवनकी उलझन खुल आए ?

अपने सम्बन्धमें यह विश्वास नहीं हो पाता, इसीसे प्रकाशक को

कह दिया कि पुस्तककी वात न करो. घटनाएं दे दूं, कुछ इधर-उधरकी दिलचस्प कहानियां, तो उससे क्या होगा ? लोग पढेंगे, रस भी पाएंगे. ठीक है, पर रस तो कौन नहीं देता ? पैसा जो लेते हैं, वदलेमें रंस ही देते हैं. उससे वड़ी सार्थकता मैं न दे सकूं, तो क्या लाभ ? इससे नहीं लगता है कभी जयपर पुस्तक लिख पाऊंगा.

शायद यही ठीक है. जो है सो होते-रहनेमेंसे ही दीखता है, घटनाओं से ही सचको वर्तित हुआ कहा जा सकता है. यों सत्य निराकार है, अगम है. समय और संसारमें से ही हो तो वह सुगम हो सकता है....

भोजनपर इलाका साथ न हुआ सो अपरान्हके उपाहार पर स्वयं आई और वताया कि शामको भी उन्हें अन्यत्र किसी भोजमें जाना है इससे —

मैंने लिजा और श्री नाथ के वक्तव्योंकी वात कही.

इलाने उन्हें पढ़ा था और वह मुस्करा कर रह गई.

मैंने कहा, "लिजामें यह परिवर्तन तो शुभ है !"

इला ने सुन लिया, वोली नहीं.

मैंने कहा, "लगता है योरोप जानेकी वात हट गई है. भारतकी राजनीतिमें ही अव उसे काम हो रहेगा."

कहकर अपेक्षासे देखा कि इला कुछ कहेंगी. पर वह नहीं वोलीं.

मैंने हठात् कहा, "अच्छा ही है, उतना जिम्मेदारीका काम श्रीमती नाथके हाथमें एकाएक आना जाने कैसा रहता !"

अव धीमे-से इलाने कहा, "उन्होंने कुछ सोचा ही होगा."

जाने मनुष्य कैसा वना है. मैंने कहा, "अव, मालूम होता है कि स्वयं उनकी एलिजावेथको अनुमति है कि वह नए काममें लगें."

मानो टालना चाहती हों, कहा, "आने पर मालूम होगा."

मैंने इलाको देखा, जयमें उसे विश्वास अगाध ही था. पर उसके पास कुछ अपनी मति, अपनी अनुभूति न रह गई थी, सो भी नहीं.

मैंने कहा, "इस काममें एलिजावेथको सफलता मिलनेकी संभावन

वना है, आपको क्या लगता है ?"

वोलीं, "यह मेरा विषय नहीं है."

पर मेरी जिज्ञासा और थी और मैं रुक न सका, कहा, "भारत एलिजावेथ के लिए सहज क्षेत्र नहीं है शायद. उनका रहन-सहन, रीत-नीत लोगोंकी निगाहमें उनके आज के वक्तव्यके शव्दोंसे मेल खाती दीख सकेगी, आप समझती हैं ?"

वोलीं, "शायद योरोप ही उन्हें ठीक रहे. पर जैसा जय सोचें ?"

मानना हुआ भारतीय नारी नारी ही नहीं है, साथ भारतीय अवश्य है. पूछा, "आपके सुरक्षा अधिकारीने फिर कुछ खवर दी ?"

मंद स्मितसे उत्तर आया, "अव तक वह जा चुके होंगे."

"हां, जाना तो उन्हें था." मैं वोला. "लेकिन क्या यह वही इन्द्र-मोहन हैं ? कौन लोग हैं ये ?"

"मालूम नहीं."

मैंने कहा, "शायद मालूम करना भी आपने नहीं चाहा."

"हां नहीं," अमनस्क-सी वह वोलीं "नाम ही सुना है. यह भी कि वहुत घनिष्ट थे...इनके वारेमें वताया गया कि वहुत वड़े खान-दानके कोई हैं और मालूम हुआ कि अध्ययन उन्हें व्यसन हैं और कुछ पुरानी पोथियोंके सौदेके लिए आए थे. कुछ खरीद भी ले गए हैं.. कहीं कुछ संदिग्ध नहीं पाया गया."

"छोड़िए, जय कव आ रहे हैं ?"

"कल सवेरे" और ईपत् स्मित पूर्वक कहा, "आपकी लिज़ा भी शायद आ रही हैं."

यह अप्रत्याशित था. पूछा, "यह कैसे ?"

वोलीं, "रात कहा कि लिज़ा नाथसे विगाड़कर आई है. कह रहा हूं, पर जाने क्या है कि वापिस जानेमें उसे झिझक है...अलग होगी तो दलके वहुत आदमी भी उसके साथ आएंगे. यह ठीक नहीं होगा. कह रहा हूं उसे कि सव छोड़े, योरोप चली जाए. नाथके लिए भी यह कम

चर्चा और बाधाकी बात होगी. नहीं तो खुला विग्रह अच्छा नहीं है. वह कहती है, मैं भारत रहना चाहती हूं....बताओ क्या करूं ?...मैंने कहा, साथ ले आओ...बोले यह तो वह चाहती ही हैं, मैंने इन्कार कर दिया...मैंने कहा इंकार क्यों किया ? अब कह दो और ले आओ... जानती थी कि इंकारमें वजह मेरी भी होगी. पूछने लगे कि यह ठीक होगा ? कह दिया कि सब ठीक होगा, जरूर ले आओ. कह इसलिए दिया कि जिम्मा मेरा है. और इसलिए भी कि यहां आपसे मुकाबिला हो सकेगा..."

सच ही यह खबर मेरी व्यस्तताका कारण बनी.

१ अप्रैल—

...जयका स्वास्थ्य पहिलेसे अच्छा है. लिज़ा बराबरमें ठहरी है और बदली दीखती है. प्रकृति नहीं जानता, रूप तो बदला है. रंग ऊपर कहीं नहीं, नाखूनों पर भी नहीं. नमस्कार ही हो पाया, मिलना तीसरे पहर हुआ.

पर पहिले जय आ गए. सूचना न थी और उनका चलकर आना अजब मालूम हुआ.

अभ्यर्थनामें उठने न पाया था कि कुर्सी खींचकर पलंगके पास ली, बैठते-बैठते कहा, "आना अनियमित हुआ शायद. पर तकल्लुफ़ नहीं... ख़ासे खुश और खुर्रम दीखते हो !"

मनको हठात् उभारकर कहा, "कुछ अंदेशा था क्या ?"

"हां, होने लगा था...इलाने ठीक किया...मिला तुम्हें वह, देखो, यही आदमी था ?"

चित्र देखकर मैंने कहा, "हां."

"इलाने बताया—पत्र तुम्हारा ठीक था" कहते-कहते जैसे फिर अपने

से कह निकले, "लेकिन अजब बात है. खैर, वह है तो नाम इंद्रमोहन क्यों रखे हैं ? मैं जानता रहा था वह है नहीं. है तो मुझे अवसर भी है. इन्द्रमोहन नाम लेकर सामने आया तो आशय इसके सिवाय और क्या कि मैं पहचानूं और उठूं...बिलबर, इन्द्रका मैं अपराधी हूं. उसने क्या मेरे लिए नहीं किया ? लेकिन मैं मान बैठा कि नहीं रहा, और उसे भूल रहा....अभी आनेपर पता चला और मैंने कह-सुन लिया है इला-को कि इन्द्रमोहनका नाम आते ही खबर मुझे क्यों नहीं की गई....पर छोड़ो. अब है तो अब सही. तुमसे पूरा वृत्तान्त लेने आया हूं."

जो था मैंने कह सुनाया.

सुनकर वह हिले नहीं, जाने कहां भूल रहे. अनन्तर बोले, "इन्द्र ठीक है...विश्वासघातपर मन किसीका उलट आए तो अचरज नहीं. क्या विश्वासघात ही न था मेरा कि जिसने मुझे हर तरह बढ़ाया, अपनेको मिटाकर मुझे बनाया, और ज़रा बात हुई कि उसीसे ऐसा विमुख हुआ कि...? छोड़ो, वह कष्टकी कहानी है....लेकिन उसका भी तो जुल्म है. लम्बे बीस बरसोंसे मुझे भनक तक न दी !....बिलबर तुम नहीं जानते, शायद कोई नहीं जानता, कि मैं कितना ऋणी हूं. मैं चम-कता गया, चढ़ता गया—क्यों ? क्योंकि पीछे इन्द्र था जिसे चाह न थी. बराबरका था, लेकिन मुझे अभिभावक हो रहा. मैं तो आदर्शको हांकता गया, वह था जिसने मेरा व्यवहार साधा, साधन उसने जुटाए...सोचता हूं तो दंग रह जाता हूं...पत्रोंमें छपा, शोक सभाएं हुई और मैं भी शोक को भीतर पीकर मान रहा कि इन्द्र चला गया...तब वह रूठा था, मैं रूठा था. पर मैं उतना साधन-हीन न रह गया था...लेकिन सर्वथा साधन-हीन था तो मुझे किसने अपनाया ?...वही इन्द्र आज अगर कहे कि मेरे सम्बन्धमें जितना जो उपलब्ध है अक्षर-अक्षर वह जानता रहता है तो बिलबर, सोचो कि उसकी चिन्ता आज भी मेरे बारेमें कितनी अगाध है...प्रेमकी कहानियां तुमने सुनीं होंगी. यहां तो कोई स्त्री है नहीं, फिर भी उसकी तुलना कहीं मिल सकती है ?"

मैं वह सव ले नहीं सका, कहा, "वह तो दुश्मन है !"

धीमे और अलग-अलग वोले, "कोई वज़ह नहीं है कि दुश्मन न हो. पर क्या इतनी वड़ी भी लगन हो सकती है...पता तो होगा तुम्हारे पास ?"

वताया कि यह व्यक्ति आते समय वम्वईमें मुझे मिले थे. कार्ड दिया था जो खो गया. पर पता तो लग जाना चाहिए. आपका सुरक्षा विभाग...

वोले, "लग तो जायगा. पर मुझे सुरक्षाके विभागसे घिन है. वह छोड़ो."

पूछा, "आप क्या कीजिएगा ?"

वोले, "जानता नहीं. लेकिन शत्रु वह नहीं है, मित्र है, और अत्यंत दुर्लभ मित्र, यह अवश्य जानता हूं. उस मित्रतासे वंचित होकर मैं रह सकता हूं ?"

सव यह मेरे लिए नया था. इतिहासकार जो आजतक चकित थे कि अपने आरम्भ कालमें इस जयने अर्थकी और पदार्थकी इतनी विशाल सहायता कहांसे पाई—सो क्या कुंजी यह इन्द्रमोहन है ? शायद ही किसी गाथामें इसका उल्लेख है. जयकी सिद्धियोंकी वात आती है, पीछे क्या शक्तियां और स्रोत काम कर रहे थे, इसका लेखा-जोखा नहीं मिलता. सामने वृक्ष विराट् है—जड़ें कहां किस प्रकार दूरसे खींच-खींच-कर अपना पोषण प्राप्त करती रही हैं, इस अवगाहनमें कौन जाता है ? विराट्तापर विस्मय हो सकता है, फलमें प्रीति हो सकती है, पर जड़ोंको पड़तालने क्यों कोई जाए ? जान पड़ा, इन्द्र कोई वह है जहांसे जड़ें सिंचती रही हैं. वृक्ष जव उठकर सर्व-समर्थ भावसे आकाशको छू आया है तव उसे अपने मूलकी याद एकदम नहीं रह गई है. देख सका कि यह सच ही कितने विषादकी कथा है.

इसीसे वात फेरनेकी दृष्टिसे कहा, "इला चिदानन्दके वारेमें वताती थीं. तो वह मान नहीं सके !"

वोले, "माननेको क्या था ? उनकी राय निश्चित थी, निश्चित है-

वह दण्ड भी तब देंगे जब उनसे जाकर मांगा जायगा. निश्चय ही कठिन पुरुष हैं."

"सुना है, आप उपवास कीजिएगा—उनका आदेश है."

"हां, आदेश वृथा अमान्य क्यों करूं ? उपवास शुद्ध करता है."

"इलाको भी कहेंगे, जाकर दण्ड मांगे ?"

"कहूंगा कि चिदानन्दजीका कहना है—आगे वह जाने."

"तो आपने कहा ? फिर, उन्होंने क्या कहा ?"

हंसकर बोले, "हां, मैंने कहा. और उन्होंने कुछ नहीं कहा."

"अगर जानेंगी कि आपका मन क्या है, तो वही करेंगी."

"हां, शायद. पर मेरा मन कुछ है नहीं, जानेंगी क्या ? इसीलिए शायद उन्होंने कुछ नहीं कहा."

"हो सकता है. पर उनका दोष क्या है ?"

"दण्ड तो बिना दोष लेना भी बुरा नहीं है भाई." वह बोले, "पर इस विषयमें मेरी सलाह न होगी."

मैंने कहा, "बिना दोष दण्ड ले लेना अच्छा है ?"

गम्भीर हो आए, बोले, "निर्दोष जो कष्ट पाता है उससे दूसरोंके भागका प्रायश्चित होता है. बिलबर, लगता है विकासकी यही रीति है. निर्दोषको कष्ट देगा और उसीके कष्टसे मानव अपने अन्तरको पहले आकुलित फिर प्रकाशित पाएगा. जड़ताको गलानेका क्या और उपाय है, बिलबर ?"

सुनकर सच ही मुझे कष्ट हुआ, कहा, "क्या दण्ड जो दे उसका महत्त्व बढ़ानेमें हमें निमित्त होना चाहिए ?"

बोले, "बिलबर, ईशु क्रॉसपर चढ़ गए, दोष उनका कितना था ? पर क्या किसीने उन्हें इसके लिए धिक्कारा है कि उन्होंने जज को फैसला सुनाने दिया और वधिकको वध करने दिया ? पर क्या हुआ ? जज वे कहां रह गए और सूली चढ़ानेवाले रोमन सरदार क्या हुए ? जो फला और अमर हुआ वह क्या ईसाका नाम और उपदेश ही न

था ? बताओ विकासकी इससे दूसरी पद्धति हो क्या सकती है. कष्ट ही मनमें गहरे जाता है. वहां जो अतलमें पड़ा है उसे उभारकर चेतनके उजालेमें नहीं तो फिर क्या लाए ? वह अभीष्ट सम्पन्न कैसे होगा कि जब निर्दोष ही आगे बढ़कर सिरपर दण्ड स्वीकार करने नहीं आएगा ? दण्ड न दे तो वह करे क्या जो अभी कठिन है, उसे अपना स्वधर्म पालना ही है कि लोगों को कष्ट पहुंचाए. पर कष्ट देते हैं हम उन्हें जिन्हें प्रेम करते हैं. दूसरा स्वेच्छाभावसे इस कष्टको सह ले, तो क्या यही उपाय न होगा कि कठिनको अपने काठिन्यसे मुक्ति मिले ? पर यह तर्क है बिलबर... मुझमें निश्चय ही यह नहीं है कि इला जाकर दण्ड मांगे ...इलामें स्वयं हो आए तो बात दूसरी है, पर वह आवश्यक नहीं है."

"चिदानंद रुष्ट न होंगे ?" मैंने कहा, "और उत्पात अब भी शान्त नहीं दीखते !"

मानो अन्यमनस्क हों, बोले, "हां."

उस हां का आशय मुझे कुछ न मिला, कहा, "वक्तव्य जो आपने प्राप्त किया था उसका परिणाम कुछ नहीं दीखा."

उसी भाव से कहा, "हां."

हठात् पूछना हुआ, "आप आशा करते हैं, वह बदल सकेंगे ?"

"निराशा तो कर नहीं सकता" धीमे कहा और निगाह अन्यत्र थी, पर अब मेरी ओर देखा, बोले, "लेकिन बुराई क्यों होती है ? क्या उसमें अपनी ताकत है ?"

प्रश्न विचित्र ही था. बचाव-सा करते हुए कहा, "बुराई क्या अनादि नहीं है ?"

जैसे सुना न हो, बोले, "लगता है जिदमें से होती है. कुछ गलती हुई तो आदमीमें एक शर्म-सी बैठ जाती है. फिर सुधारको मन होता है पर लाजके मारे उधर चला नहीं जाता. तभी मानो अपनी शर्मको न पहचाननेकी आदमी ज़िद बांध लेता है....कुछ ऐसा ही लगता है. चिदा-नंदमें कहीं गांठ पड़ गई है, और अब शायद ज़िद है."

कहकर मानो सोचमें चुप रह गए, मैंने हठात् कहा, "तो ?"

"तो समझ नहीं आता. जिद यों दूर न होगी. ऊपरके जोरसे वह और कसेगी. लेकिन फिर क्या ?...आज ही लिखूंगा कि प्रदर्शनोंका वही रुख है, उनके वक्तव्यके बाद यह संभव है तो क्या वह सलाह देंगे कि पुलिस सख्तीसे पेश आए ?...जिम्मेदारी अवश्य उन्हें बटानी हैं. अच्छा, अब मैं छुट्टी लूंगा."

वह खड़े हुए. मैं भी खड़ा हो आया, पूछा, "आचार्यका कोई संदेश मिला !"

"नहीं."

"एलिजाबेथ क्या आपके साथ—"

बीचमें बोले, "उनकी खबर उनसे लीजिए."

...जय गए कि पांच मिनटमें कमरेमें एलिजाबेथ आईं. मैं टिका ही था कि द्वारसे ही "हैलो" आया, और तत्क्षण लिजाने मुझ उठते-उठते का हाथ थामा.

वही वेग, वही तत्परता. बोलीं, "मेरी बधाई लीजिए !"

मैं असमन्जसमें हुआ कि किस बातकी बधाई !

बोली, "मैं बराबरमें ही तो थी, प्रतीक्षा भी थी. पर जय नहीं आए. —आप भाग्यवान् हैं !"

लिजा अकुशल नहीं हैं, फिर भी खुली और हार्दिक हो सकती हैं. कहा, "आशा न थी इतनी जल्दी और यहां मिलना हो जाएगा. सोचता था, पैरिसमें हो तो हो."

वह मुस्कराई और बीचमें साधारण पेय लेकर हम बैठे और बातें हो निकलीं. लिजामें छिपाव और दुराव न था. लेकिन लगा कि चक्र और आवर्त कम नहीं हैं. मालूम हुआ कि जाएंगी तो वहां अवश्य, पर भविष्य नायकके साथ है इसमें अब शंका है.

पूछा, "मामला क्या है ?"

बोलीं, "ईर्ष्या, निरी और केवल ईर्ष्या."

"ईर्ष्या जयसे ?"

वह बोलीं, "मैं तो चाह तक सकती हूं कि ईर्ष्याका कारण होता. पर जय—उनसे अप्राप्य भला क्या है ?"

मैं हंसा, बोला, "अप्राप्य क्यों ?"

बोलीं, "पूछते हैं आप—आप पूछते हैं ?"

"अप्राप्य भगवान भी नहीं हैं," मैंने कहा "—भक्ति चाहिए."

"भक्ति पत्थरकी ?"

"भगवान पत्थरके सिवाय और देखे भी हैं ? वह पत्थरके ही हो सकते हैं."

"छोड़िए, मैं आपसे सलाह लेने आयी हूं. भारतमें मुझे दस बरससे ऊपर हो गए. जगह भी कुछ बनी है. पर मैं अलग हूं, यह देश अलग है. शायद इसीकी वजहसे हममें एक दूसरेके लिए मोह हो. फिर भी मेल नहीं है. नाथ तो पति हैं, इतने बरस साथ रहे हैं, योरोप उनकी प्रकृति-में भिदा है, फिर भी हम दोनोंमें अन्तर रहा है...कहिए, क्या मेरा यहां रहना और काम करना कृत्रिम होगा ?"

'नहीं.'

"पर अनुभव करती हूं कि कहीं वह असहज है...मैं क्या करूं ?"

उसके स्वरपर मैं चौंका, कहा "लिजा, ठीक कहो, विवाह तोड़ोगी?"

जैसे प्रार्थी हो, वह बोली "विवाह यों प्रतिज्ञा है, पर सच कहिए सामयिक सुविधासे वह अधिक है ? प्रेम तो उसमें साथ देता नहीं. प्रेम मुक्त है, विवाह आबद्ध है. अन्तमें विवाह बस निर्वाह हो रहता है, ईर्ष्यासे बांधें तभी बंधा रहता है. विवाह टिकानेको ईर्ष्या जरूरी है. द्वारपर पहरेके लिए ईर्ष्याको बिठाकर ही मानो विवाहकी सुरक्षामें रहा जा सकता है...यह सब बेकार है, अड़चन भी है. उपयोगमें अड़चन है, और स्वतंत्रतामें और पूर्णतामें...बच्चे हों तो घर चाहिए, तब बच्चोंका एक बाप भी चाहिए. पर बच्चे क्यों हों ? मर्दुमशुमारी अब ही कम नहीं है. माना जाता था बच्चोंके लिए प्रेम सिरजा गया है. स्त्री है, इससे मां भी

होना होगा. पर मालूम हो गया, यह ग़लत है. प्रेम रह सकता है, बच्चे बच सकते हैं. मांकी बजाए बहुत कुछ और बना जा सकता है. पुरुषके लिए थीं स्त्रीके लिए भी वे सब राहें खुली हैं और मददके लिए विज्ञान है. तो फिर विवाह क्यों रहे, और यह कि जिसमें मैं हूं ?...नाथ अब भी देखते हैं तो ऐसे कि याद हो आए कि मैं गोरी हूं जो वह नहीं हैं. सच कहती हूं मुझे अपनी गोराई याद नहीं रहती, पर वह देखते हैं या यहां दूसरे देखते हैं, तो याद जरूरी हो आती है. बड़ी तकलीफ देता है यह सदा अपनेको यादमें रखना. मैं भूलना चाहती हूं, पर भूल नहीं पाती....एक आदमी मिला यहां, मि० हूस्टन, जिसे मेरे अस्तित्व तकका विचार न हुआ. लगता है उस निगाहमें मैं रही तक नहीं, अपनी याद मुझे बिसर रही...अनुभव मेरे लिए यह नया है, बहुत चुभता है, पर जाने कैसा एक सुख भी देता है. लगता है अगर उस निगाहमें बस रहूं ऐसी कि स्वयं रह न पाऊं, तो क्या यह अच्छा न होगा....महत्व बढ़ना अच्छा लगता है, पर यह भी लगता है कि वह सर्वथा मिट जाए, कुचल-कर खत्म हो जाए, तो और अच्छा लगेगा. यह क्या चीज़ है, प्रिय बिल-बर बताओ. मैं परेशान हूं. बहुत परेशान हूं, एकदम नई चीज है मेरे लिए. मैंने यह कभी नहीं जाना. अब चारों तरफ देखती हूं और कुछ पता नहीं चलता, किससे पूछूं ?"

यह मेरे समक्ष क्या आया ? पैंतीस-छत्तीससे कम आयु न होगी. प्रभावशाली, सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित. फिर क्या था सो समझ न सका.

कहा, "एक शब्द है प्रेम. लेकिन वह शब्द अधिक है."

बोली, "जानती हूं, नई उम्रमें वह हुआ करता है. मुझे भी हुआ था. फिर विवाह हो गया. विवाह प्रेम नहीं है, जानती हूं. पर आदि नहीं तो वहां समाधि तो है प्रेमकी. लेकिन अब जो यह है वह तो कभी हुआ नहीं और मैं एकदम नहीं जानती."

कहा, "आप बदल गई हैं !"

जैसे समझी न हों, पूछा, "क्या मतलब ?"

"जैसे—अब कोई सज्जा नहीं है !"

"सज्जा ! कैसी सज्जा ?"

"हाथमें सिगरेट भी नहीं दीखती !"

जैसे हैरतमें हों बोली, "सिगरेट ! आप कह क्या रहे हैं, मैं नहीं समझी. क्या मैंने सिगरेट छोड़ दी है ?"

उस समय उसके साथ मुझे हमदर्दी हुई, बात हटानेके लिए मैंने कहा, "आपका वक्तव्य मुझे पसन्द आया था."

बोलीं, "मुझे खुद पसन्द आया. अब भी उसे यादकर लेती हू... पर वह सम्भव है ? सोचती हूं तो सम्भव नहीं लगता. पर तब सम्भव लगा था. अब भी जयको सुनती हूं तो उतना असम्भव नहीं रहता, पर हटती हूं तो फिर वही...सुनिए, मैं दो विचारोंमें हूं. पैरिसकी बात है, और अब वक्तव्यकी. इसमें कौन रक्खूं ?"

मैंने कहा, "नाथसे पूछिए."

"सो तो पूछूंगी. पर मानूंगी, यह पता नहीं है."

सुनकर मन जाने कैसे वात्सल्यसे भर आया. इस नारीके प्रति यह भाव मैंने सम्भव न माना था. लेकिन लगा कि वह मेरी पोपिता ही हो.

कहा, "लिजा, प्रिय, जीवन आकांक्षासे चलता है. पर ऐसे वह ठीक चलता है, यह मैं नहीं कह सकता हूं. आनन्द तो आता है, पर परिणाममें कुछ और भी आने लगता है जो आनन्द नहीं होता. प्रौढ़वयपर जब कि जीवनका एक तरह ढलान आएगा, तब जान पड़ेगा, आकांक्षाके हाथ पतवार देनेसे नाव यों चलती तो रही है, पर वही ही है बढ़ी नहीं है, और अब भी मझधारमें है जहांसे किनारा नज़र नहीं आता है...लिजा, प्रिय, यहां सब कुछ तो मिल नहीं सकता. इससे चाहमें अपनेको छोड़नेसे अन्तमें टूटना ही पड़ता है.—देख लो, नाथसे तोड़नेमें जल्दी न करना."

वह शांतिसे सुनती रही थी, आंखें अन्यत्र थीं, मेरी ओर नहीं देख रही थीं. अब मुंह ऊपर उठाकर बोलीं, "नहीं, जल्दी न करूंगी. पर टूटका आरम्भ उधरसे हो चला हो तो ?"

वाणीमें जैसे अनुनय था. उस नारीको कातर पाकर जाने कैसा लगा. कहा, "तो भी सम्भालना. चार विवाहोंमेंसे मैं निकला हूं, लिजा, मगर टूट फिर जुड़ती नहीं है. और एक तोड़के बाद तोड़ना सहज होता जाता है. फिर आदत-सी हो चलती है और अंतमें तो जोड़नेकी सामर्थ्य ही नह रहती. तनिक दबावपर तोड़ आना पड़ता है और पीछे फिर लगता है कि सब हुआ, पर कुछ न हुआ !"

लिजा सुन रही थी. धीमेसे बोली, "नाथ मुझे बहुत चाहते हैं."

मैंने लिजाको देखा. वेग शान्त था, मानो वह आर्द्र थी, कहा, "पुरुष-को चाहमें भगानेसे बड़ी चीज़ स्त्रीके लिए उसको थाम पाना है. ये हिन्दू लोग इस बातको जान गए थे. इससे स्त्रीके धर्मको पतिसे अलग उन्होंने रहने नहीं दिया !"

बोलीं, "यह कैसे हो सकता है ?"

"मालूम नहीं, पर यहां तो हो सका है. शायद प्रेममेंसे ही हो सकता होगा."

जैसे अचरजमें मुझे देख आई, देखती रही, फिर एक साथ हाथोंमें मुंह लेकर सुबक उठी. बोली, "नहीं, नहीं, मैं नहीं..."

कुछ-कुछ ही समझ सका. सही तो भोगता है वही जानता है... कह गई थी, मैं शामको उसकी ओर आऊं. गया तो वह अशान्त थीं. अशान्त, कि जय व्यस्त हैं और उन्हें समय नहीं निकल पाया है !

मैंने सुझाया कि नाथके पास लौट जाओ.

उसे स्पष्ट था कि जाना तो है, पर इधर कुछ निश्चय करके जाना है....

देखो, कब समय मिले और क्या निश्चय हो !

...ओ प्रभु, तू घट-घट वासी है. सबकी विथा जानता है. फिर सब तू ले क्यों नहीं लेता, विथा देता क्यों है ?...प्रार्थना अब तुझसे क्या करूं ?

२ अप्रेल—

अवकाश विशेष नहीं. जयने कहा और एक विद्वन् मंडलसे मिला. विद्वान् थे सो हम पासकी बातोंपर नहीं आए, दूर ही दूर रहे. फिर जयकी प्रेस-गोष्ठीमें शामिल हुआ. प्रेस विचित्र संस्था है, शक्ति बहुत, दायित्व कम. गोष्ठी दिलचस्प रही.

जय ने कहा, "...मुद्दत बाद हम मिल रहे हैं. हम पुराने मित्र हैं और इतनी मुद्दत बीतना अच्छा नहीं है. लेकिन मेरे पास कहनेको क्या होता है ? प्रश्नोंकी झड़ी आप लगाएं उससे पहिले आज कुछ कहना है. तरह तरहकी बातें उठती हैं. प्रश्न हैं, कहीं निंदा भी है. खासकर उद्योगोंके बारेमें क्या नीति है, यह सवाल होता है. नीति यह है, कि राज्य भरसक वही करेगा जो औरके बसका या इच्छाका न होगा. सरकारसे हमें सहकारपर आना है. राज्य अच्छा वह जो राज कमसे कम करे. लोक कल्याण-राज्यकी एक कल्पना थी, वह बीत गई. वह हमारी नहीं है. उसमें सब कुछ राज्यके करनेके लिए हो जाता था. हम राज्यके पास करनेके लिए कमसे कम छोड़ना चाहते हैं. आखिर करने वाले कौन हैं ? लोग ही तो हैं. राज्य करता है, यानि लोग करते हैं. सहकारके साथ एक उद्देश्यमें जो मिल आए, वे लोग और उनका समाज. तो इस तरह समाज सब करता है. राज्य समाजके हाथका एक यंत्र है. यंत्र ही है, मालिक नहीं है. लोक-कल्याण-राज्य, यानि लोगोंका कल्याण राज्यके किए हो. तो यह उल्टी बात हो जाती है. जैसे लोग न जानते हों, कल्याणको जाननेका भी काम राज्यका हो, और वह करे तभी हो. इस रास्तेसे राज्य चाकर बनते-बनते मालिक बन जाता है. अधिनायक राज्य और लोक-राज्यमें इस रास्ते बहुत अन्तर नहीं रह जाता. हम एक ध्रुवको भूलना नहीं चाहते हैं. वह यह कि शासन न करना पड़े जिसे वह शासन अच्छा है. यानि राज्यका काम कार्मिक नहीं, नैतिक रह जाए. राज्य अतः करणके मानिन्द हो. लोग सभी तो अवयव हैं. राज्य

अपने अलग हाथ पैर बनाता है और फैलाता है, तो लोग अपनी सूझ बूझसे हाथ-पांव चलानेमें असमर्थ होते और परमुखापेक्षी बनते हैं. इतिहासमें यह बड़ी भूल होती रही है. राज्यने कर्मको पकड़ा है, अकर्मको छोड़ा है. अकर्मकी महिमा गीताने बताई है. उस मूल्यकी पहचानसे भारतका राज्य जब डिगा तब कठिनाई ही पैदा हुई. करोड़ों अरबों रुपया जुटाकर बड़ी योजनाएं चलाई जा सकती हैं और लग सकता है बड़ा काम हुआ है. पर काम असल तो मानव सम्बन्धोंमें विश्वास और मिठास बढ़ाना है. उनमें खटास पड़ती जाए और जहर घुलता जाय तो समाजका कल्याण नहीं होता है. सुख महलमें रहता है यह किसीका अनुभव नहीं है. निर्माण सुखका करना है, महल खड़े करनेसे वह होता तो बात क्या थी. इससे राज्य पर जो आएं, उनकी निगाह सीधे उद्योग और उत्पादनपर कम भी रहे, मानव सम्बन्धोंके सामंजस्यपर कम नहीं रहनी चाहिए. कर्तव्य मुख्य यहां है. उद्यम और उत्पादनकी प्रवृत्ति तो हर मनुष्यमें है. काम किए बिना कौन रह सकता है ? हाथ कुछ न कुछ करेंगे ही. उनके पीछे जगा हुआ दिमाग रहे और मुहब्बतसे भरा दिल रहे, यह असल बात है. इससे सरकारको हाथोंका योगफल होना नहीं है, सिर्फ बहुमतका संगठन होना नहीं है, विवेकका प्रतिनिधि होना है... विवेक खुद नहीं करता, करते हुए हाथोंको सिर्फ सही रखता है. और मुहब्बत भी कुछ नहीं करती, उन करते हुए हाथोंको थकनेसे बचाती है. तो सरकारके पास इससे दूसरी तरहका, और अलग, अधिक काम नहीं रहना चाहिए. मिलकियत उसे बांटनी चाहिए, अपनानी बहुत कम चाहिए. स्टेट-कैपिटलिज्म कैपिटलिज्म्का बुरेसे बुरा रूप है...तो इसमें से उद्यगोंके सम्बन्धमें हमारी नीति यह हो आती है कि सबकी सूझ-बूझ जगे और काममें आए. यानि उद्योगोंपर कहीं किसी प्रकारकी रोक-थाम न रहे. नीतिका दूसरा अंग है यह कि श्रमका क्रय असंभव हो जाए. उद्यम और उद्योगकी स्वतन्त्रतामें से एक समय पूंजीवाद निकला था. उसमें से समाजवाद निकल आया और वहांसे साम्यवादकी

राह अधिनायकवाद फलित होता दिखाई दिया. लेकिन इसलिए यह मानना कि उद्यम और उद्योगकी स्वतन्त्रता गलत है जल्दी करना होगा. गलत वह नहीं हैं, गलती वहां हुई जहां श्रमको और श्रमिकको बाजार-में बिकना हो गया. यानि जिसका सिक्का चला गलती उस सरकारकी समझसे शुरु हुई. लोगोंमें तो स्वार्थ रहा होगा, पर उन स्वार्थोंमें सर-कारने अपना स्वार्थ पैदा कर लिया. पूंजी तो सदा काम आती है, पर इस स्थापित स्वार्थने उसे शोषणका साधन बना दिया. यह पूंजीवाद बना. उसमें से फिर इलाज करनेके नामपर जो और वाद फूटते चले गए वे भी स्थापित स्वार्थसे जुड़े रहे. तो उनसे क्या होना था...कर्मसे स्वार्थ पैदा हो सकता है, अकर्म निःस्वार्थ है. और हमारी दृष्टि यह है कि अकर्मकी निष्ठा समाजमें सामान्यतया देरसे भी आए, पर उसका वह उत्कृष्ट अंश जो राजकाज संभाले अवश्य अकर्म पर आरूढ़ हो, राज कर्मचारियोंमें अपनी चाह न रहे. अन्तिम होकर वह प्रसन्न रह सकें. अभी तो ऐसा नहीं है, और मुझे दुःख है...बात साफ है. राज्य है तबतक प्रजा भी है...यह दो पलड़े हैं. अब हम किसे भारी चाहते हैं ? प्रजाके पलड़ेको भारी चाहते हैं तो राज्यवालेको हल्का करना होगा. पर राज्यके सदस्योंको यह साफ बात साफ तौरपर दीखती नहीं है. वे तनख्वाहें ज्यादा चाहते हैं, और सब कुछ ज्यादा चाहते हैं. मानते हैं कि रौब नहीं तो कैसे जमेगा. यानि 'स्टेण्डर्ड आफ् लिविंग' मामूली नहीं होना चाहिए, बढ़चढ़ कर होना चाहिए. इसलिए कानून बनाते हैं तो अपने लिए मोटी तनख्वाहें और भत्ते मंजूर करते हैं...मैं कहता हूं, पर ऊपर भी मैं ही हूं और सबसे मोटी तनख्वाह पाता हूं...लेकिन सोचने की बात है कि ऐसे क्या हम राज्यवाले प्रजापर भारी नहीं हो आते ? प्रजा पिसेगी तो उतनी ही न कि जितना ऊपरका राज्यका पाट भारी-से भारी होता जाएगा? अबतक यह गलती होती आई है, और हम उस-से बरी नहीं हैं. लेकिन बरी होना है, और राजको हलकेसे हलका बनाना है. गांधीको पाकर भी भारत यह नहीं कर पाया तो अफसोस

की वात है...मेहनत प्रजा करती है, हम राजवाले मेहनत कराते हैं और उसकी देखभाल करते हैं. यह देखभालका काम अभी तक ऊंचा वना हुआ है. उसकी कीमत हमने ही चढ़ा रखी है. कीमत आखिर हमारी वनाई है. अपनी कीमत हम क्यों कम करने लगें ? लेकिन असली कीमत एक रोज उभर कर आएगी, तव वह क्रान्ति होगी जो चाहिए. हम भारत वासी ज्यादा झमेलोंमें क्यों जाएं ? गांधी राम-राज्यका सूत्र हमें दे गए हैं. वह हर देशवासीमें धड़कता है. वह हर राज्यके लिए कसौटी है. तो हमारी वनाई कीमतें असली कीमतको ढकनेको रह न जाएंगी, तव राज होगा जो लोगोंको राम-राज सा लगे...

यह लम्बा भाषण-सा लिख गया हूं, पर भाषण वह न था. वातचीत थी, और बीचमें चुहल भी हो जाती थी. भारी वह नहीं लगी, अगरचे प्रेस वालोंमें बहुतोंको वह कविता-सी लगती दीखी. स्पष्ट था कि अनेकों ने उसे महत्व नहीं दिया. वातें जानी बूझी-सी थीं और सहज रूपसे आईं. संवाददाता कहने वालेके व्यक्तित्वके कारण ही उन्हें महत्व देते लगे, यों नहीं. लेकिन मुझे वे प्रिय हुईं.

....एकने पूछा, "क्या सरकारका यह दावा है कि देशसे गरीवी और वेकारी दूर हो गई है?"

"नहीं, दावा यह नहीं" जयने हंसकर कहा. "हां उल्टा अवश्य हो सकता है. सरकार रहेगी तवतक कोने भी होंगे जहां गरीवी रहे. रोजगार सरकारसे मिलेगा तो वेरोजगारीको भी रहना होगा. सिक्केमें अमीरी है तवतक गरीवी पूरी तरह जा नहीं सकती. और नौकरीका रोजगार जवतक है, वेरोजगारी भी रहने वाली है...लेकिन मेरी ओरसे आपको सुभीता है कि आप इस सुनेको अनसुना कर दें."

कहकर जय जोरसे हंसे. हंसी संक्रामक हुई और करीव सभी हंस आए. लेकिन एकने आपत्ति की, कहा, "अगर सरकारका और समृद्धिका ऐसा ही विरोध है तो सरकारी योजनाओं का क्या मतलव ?"

"यहीं कि वे सरकारी न रहें, सहकारी वन जाएं...अंक आपके

सामने हैं, उनसे इस दिशाकी सफलताका आपको अनुमान होगा."

प्रश्न आया, "व्याख्या अलग, क्या एक वाक्यमें बतलाया जा सकता है कि अर्थ और उद्योगके सम्बन्धमें नीति क्या है ?"

उत्तर : अर्थ श्रम मूलक हो, उद्योगकी छूट हो, और श्रमका क्रय अपराध हो. एक वाक्यमें यह नीति समझिए.

प्रश्न : सहकारका और विनिमयका माध्यम सिक्का है तो कैसे संभव है कि क्रय-विक्रय पदार्थका ही हो, मनुष्यका और उसके श्रमका न हो पाए ?

"हां, मनुष्य आवश्यकताओंसे जुड़ा है. इससे यह समस्या है. लेकिन क्या इसीके लिये मैं और आप नहीं हैं ?"

जयकी हंसी फिर संक्रामक हुई और बात पैनी होनेसे बच गई.

...गोष्ठी सद्भाव और सौहार्दके वातावरणमें पूरी हुई. कुछ अनुमान मिला कि जन-साधारणका मन मुट्ठीमें कैसे आ रहता है.

...पार्टीमें लिजा मिली. कलका चिन्ह न था. मग्न थी और व्यस्त. पर साज एकदम न था. यहां तक कि साड़ी थी और सफेद. यह मैंने संभव न माना था. पर व्यवहार पहले ही जैसा—कि सभी परिचित हों और सभी घनिष्ट.

व्यस्ततामें अवसर निकालकर मेरी ओर आई. तनिक एक ओर हो निजी भावसे मैंने पूछा, "बात हो पाई ?"

"समय हुआ है, कल." और धीमेसे कहा, "आप तनिक उनसे कह दें."

मैं न समझा कि क्या ?

बोलीं, "यहांके राजनीतिक क्षेत्रमें मैं उनके बड़े काम आ सकूंगी."

मैं मुस्कराया.

बोली, "पता निकल रहा है कि स्थिति कितनी विषम है और लगता है मैं कुछ कर सकती हूं."

मैंने धीमेसे कहा, "तो करो, जयकी अनुमतिको क्यों ठहरो ?"

वोली,"कर सकती हूं यदि विश्वास पाऊं. आप कहिए उन्हें कि मेरा पूरा विश्वास करें."

क्या कहता, मुस्कराकर रह जाना पड़ा.

वोली, "देखिए अभी वह—उतने घिरे नहीं हैं, अभी कह दीजिए."

लिजा व्यावहारिक है. तभी जो वह मुड़ी तो मेरे देशके राजदूत-की पत्नी, जो निकट ही थीं, उन्हें लेकर समक्ष आईं.

संक्षिप्त औपचारिकताओंके वाद महिलाने कहा, "आप महामान-नीयाको जानते हैं ? वह हैं यहां ?"

मैंने कहा, "दुःख है, नहीं हैं."

वोलीं, 'ओह!' और कहकर दोनों एक ओर चली गईं. मैं कुछ न समझा. अपनेको खाली पा मैं जयकी ओर वढ़ा और उन्होंने भी आगे हो-कर लिया, कहा,"क्यों विलवर,विशेप असुविधा तो नहीं अनुभव होती."

मैंने कहा,—"लिजाको आपने कल समय दिया है. कहती थी मैं कहूं कि आप उनका विश्वास करें".

जय वोले, "कह देना, अविश्वास मैं कर नहीं सकता...और नायसे पूछे, वह मुझपर कृपा करेंगे, तनिक घूम आ सकेंगे ?...दोनों अन-वन कर वैठे दीखते हैं...तुमसे कहा ?"

"कहा तो था, लेकिन—"

"हां, वह है, मैं समझता हूं."

तो भी कहा, "वह यहां आपके काम आना चाहती है. कुछ संकट देखती है."

"कहना, वह न देखें और पहिले अपने काम आए. अपने लिए संकट न रचे."

साथ चल रहा था, स्पष्ट था शब्दोंके पीछे अधिक भाव है.

"कहोगे न ?"

उत्तरकी आवश्यकता न हुई. सामने ही सपत्नीक रूसी राजदूत हो आए, जयने उनसे मेरा परिचय कराया और...

...याद आता है, बदनपर जयके एक ढीला कुर्ता और मद्रासी धोती थी. याद करके अटपटा लगता है. पर तब कुछ नहीं लगा था. व्यक्तित्व प्रस्तुत रहे तो वस्त्र हुए अनहुएसे हैं. वही हो आते हैं, यदि व्यक्ति कम पड़े. समझ आया कि वस्त्रका ध्यान आवश्यक क्यों बनता है.

...इला क्या जा रही हैं? ऐसी कुछ भनक पड़ी थी. किसने कहा, शायद किसीने नहीं. हवामेंसे बात मिली या तो मेरे भीतरसे ही बन आई...लिजा और लेडी 'हिलकी मुस्कराहट याद आती है. लेडी' हिलने पूछा था, और सुनकर कि इला हैं नहीं, उन्होंने 'ओह!' किया था और चली गईं थीं. क्या उसमें अधिक आशय था ?

...बड़ा वैसा लग रहा है. इन अवसरोंपर एक अभाव खलता ही होगा. इला हों सामने तो अभाव न रहे. वह अपनी रुचिसे अनुपस्थित रहती हैं,या उपस्थित हो नहीं सकतीं? सहसा यह प्रश्न हुआ है और मन सोचमें पड़ गया है. देख सकता हूं कि ये अवसर जयको प्रिय न होते होंगे. हर क्षण लगता होगा कि इलाका अपमान हो रहा है. सभीके मनमें इलाकी अनुपस्थित उपस्थित रहती होगी और साथ प्रश्न-चिह्न. इला कितने बरसोंसे यह सह रही है और जयको भी सहन करना पड़ रहा है. इस समय उस सबका अनुभव हो रहा है जो पहिले नहीं हुआ था और मैं व्यग्र हूं...विस्मित हूं कि जयकी राजनीतिक स्थिरता और उच्चताके नीचे क्या सामाजिक आधार है. सामाजिक आधारके बिना राजनीतिक स्थिति बनती कहां है ? समाज राजसे संकेत लेता है. सामाजिक आधार कमजोर पड़े, तो राज्यकी स्थिति डगमगा आती है. लेकिन यहां व्यतिक्रम देखता हूं. जयके नीचे सामाजिक आधार दुर्बल दीखता है, सम्बन्धोंकी विस्तृति और घनतापर व्यक्तिकी स्थिति बनती है. इला है, पर वह सामाजिक और सार्वजनिक अवसरोंपर अधिकारतः समक्ष आ नहीं सकती—तो क्या स्थितिकी यह बड़ी कमजोरी नहीं है?

देख सकता हूं कि विरोध पक्षका यह कितना गहरा वार है! सामाजिक स्थिति संदिग्ध बन आए तो राजनीतिक स्थिति संभले संभल नहीं

सकती. इसलिए राजनीतक मतवाद और विवादमें न पड़कर, आर्थिक या सब प्रश्नोंसे दूर रहकर, जो जयके सम्बन्धमें केवल इलाका प्रश्न ही उठाते हैं, उसीपर प्रकाशको केन्द्रस्थ रखनेका प्रयास करते हैं, वे, ओछी हो पर, गहरी राजनीति खेलते हैं. यह भी अब समझमें आ गया कि समाज नीति प्रतिष्ठितोंकी प्रतिष्ठाकी अनुवर्तनी ही क्यों रहती है... विधायक नेतृत्व इसीसे सहज हाथ नहीं आता, बलिदानकी राह ही जगाया जाता है. यानि संघर्षमें से उसे बनाना होता है. संघर्ष स्थितिका और गतिका. मामूली तौरपर समाजमान्य राजमान्य होता है. लेकिन राजक्रांतियां समाजमान्यके द्वारा नहीं, हुई हैं तो उनके बलपर जो बाहरी अमान्यताओं से अपनी आस्था और चर्यासे नई मान्यताओंको उदयमें लाते हैं.

बड़ी बात होती कि इलाको जय सार्वजनिकरूपसे साथ और समक्ष लाते. नहीं लाए, इसमें भी एक गम्भीर धर्मभाव देख सकता हूं. चाहा है कि इसमें जयकी मान्यतासम्बन्धी कोई दुर्बलता देख लूं. पर लगता है कि समाजका या लोकमतका भय वहां नहीं है, विनय ही है. लोक-रीतिके इस सत्कारमें एक गहरी ईमानदारी और विनम्रता ही है...

लेकिन इला! उसके भागमें तो त्याग और उस कष्टका ही भोग है. उस मनोव्यथाका कहां पार होगा...निश्चय प्रेमकी क्षमता अपार है. वहां सब बलिदान संभव है, और सहज. और पुरुष जो है, स्त्रीके बलिदानपर है.

३ अप्रेल—

...घटनाओंमें सहसा वेग आया दीखता है. कल अनुमान न था, आज अखबारमें है कि मंत्रिमण्डलने जयको अतिरिक्त विश्वास और अधिकार सौंपा है. समयपर मंत्रिमण्डल अपनी जगह खाली करनेको प्रस्तुत होगा, जय सर्वदलीय शासनकी बात आगे बढ़ा सकते हैं.

शासनारूढ़ दलके नेताओंमें यह रुख जय ला सके तो कैसे ?...

पत्रका अनुमान है कि इस सम्बन्धमें आचार्यका परामर्श प्राप्त हुआ है और जय उनसे मिलने जाएंगे.

बड़ी बात है. लेकिन पास रहते मुझे उसका आभासतक न मिल पाया!

इस सम्बन्धमें लिजाका ध्यान आया. चार बजे उसका फोन मिला, आ सकती हूं ? आई तो मन्द थी, और व्यस्त. सीधी जयके पाससे आ रही थी. बैठी, चाय सामने की तो विधिवत् अपना प्याला बनाया, बिस-किट भी कुटका, लेकिन यन्त्रवत्.

मैंने कहा, "लिजा, प्रिय, क्या बात है ? अपनी प्रफुल्लता कहां सौंप आई हो ?"

संक्षिप्त भावसे उसने पूछा, "आपने कहा था ?"

क्या कहनेको था सो याद करनेमें समय लगा, कहा, "लिजा, जयमें विश्वासकी कमी नहीं है."

उसने वही दुहराया, "आपने कहा था ?"

"कहा था. लेकिन कहो क्या बात हुई ?"

"कुछ नहीं..."

साफ था कुछ है, और उसे कहना भी है. पर प्रयत्न लगा. अन्तमें मालूम हुआ कि जयका कहना है, लिजा तत्काल नाथके पास जाए, पूछे कि क्या वह जयके साथ बातचीतके लिए निश्चित तिथिपर आचार्यके यहां आनेको राजी होंगे ? तीन और व्यक्ति चर्चामें हो सकते हैं, और हेतु होगा सर्वदलीय निर्माणके सम्बन्धमें चर्चा...अच्छा तो है, पर लिजा का अनमनापन क्यों ?

आगे मालूम हुआ कि जयका परामर्श था कि लिजा योरोपमें प्रति-निधित्व संभाले. उसने पूछा कि सर्वदलीय निर्माणकी चर्चामें क्या उसका उपयोग नहीं हो सकता, तो वह बात उन्होंने टाल दी! इसीपर लिजा खिन्न थी.

मैंने समझाया, "लिजा, यह कितना बड़ा विश्वास है,तुम्हीं सोचो कि

कहते हैं योरोपका काम संभालो और नाथको राजी करो!"

बोली, "असल यह है कि वह मुझे यहां नहीं चाहते."

मैंने विस्मयसे पूछा, "तुम अपनेको यहां चाहती हो !"

प्रश्न उसे लगा, मानो चौंकी, बोली, "हां, मैं भी अपनेको यहां नहीं चाहती...पर आपसे कहती हूं, सब-दल-वाली चर्चामें नाथसे अधिक मेरा उपयोग है. लेकिन उनके नक्शेमें मैं हूं ही नही. इसी कारण न कि पुरुष नहीं हूं ?"

उसे समझना कठिन हुआ. कहा, "मिल रहा है वह दायित्व पानेवाली तुम पहली स्त्री होगी. फिर नाराजी क्यों ?"

अब और खुलकर नाराज हुई, बोली, "नाराज नहीं हूं. लेकिन आप उन्हें कहें कि प्रगति दलकी शक्ति मेरे कारण थी, और अब मेरे ही कारण नहीं रही."

"नाथ अकेले तो नहीं जाएंगे" मैंने कहा,"तुम भी साथ होगी."

"साथ हूंगी" और उसके चेहरेपर व्यंग उभरा "यही न ? निमन्त्रण तो मुझे न होगा."

"निमन्त्रण कठिन नहीं है, हो जाएगा."

व्यंग और तिक्त हो आया. बोली, "हो जाएगा ! यानि आप यह कर देंगे. पर उनकी आंखोंमें तो निमन्त्रण था नहीं...छोड़िए, वह चर्चा मुझे तो सफल होती दीखती नहीं."

अचरजसे कहा, "मैं सोचता था, तुम्हारे कारण बात उठी है."

बोली, "मैं भी कुछ ऐसा सोचने लगी थी. लेकिन देखती हूं कि मैं नहीं हूं, निमित्तसे अधिक नहीं."

मुझे सहानुभूति हुई, कहा, "लिजा, निमित्त होना छोटी बात नहीं है."

कुछ देर चुप रही, फिर बोली, "आप समझते हैं नाथ सहायक होंगे? मैं कहती हूं कि अगर जय आशा वहां रखेंगे, जहां अभी इच्छा भी नहीं है, तो कुछ न होगा."

"सुनो लिजा" मैंने कहा, "तुम चाहोगी तो भी नाथ सहायक न होंगे ?"

"मैं चाहूंगी, इसलिए और भी न होंगे!"

मैंने लिजाको देखा, पूछा, "सच कहना, तुम चाहती हो? चाहोगी ?"

लिजाने भी मुझे देखा, बोली, "सब जयपर निर्भर है. वह ऊंचे रहेंगे तो रहें...पर अपनी आवश्यकता जताने नीचे उतर सकेंगे तभी कुछ पा सकेंगे. सत्कारमेंसे सहयोग आ सकता है, तिरस्कारमेंसे उसे लाना संभव नहीं है."

मैंने मानो स्वरमें अपने वयके अधिकारको लेकर कहा, "लिजा, क्या कह रही हो तुम ? असम्भव है कि जयसे तुम्हें तिरस्कार मिला हो !"

मानो भीतर चोट हो, बोली, "हां, असंभव है. क्योंकि तिरस्कार देनेकी उन्हें आवश्यकता नहीं है, वह उनमें गर्भित है और एक निगाहसे मिल सकता है. पूछती हूं, सब बराबर नहीं सिरजे गए हैं ? छोटा और बड़ा ? पुरुष और स्त्री ?"

सहानुभूति गहरी हुई, कहा, "लिजा, प्रिय, और छोड़ो, मुझे लो. क्या हम सब समयमें ही नहीं हैं? और मैं तुमसे चौथाई सदीसे भी ऊपर यहां रहनेका मौका पा चुका हूं, तो क्या उतना ही बड़ा मुझे न मान सकोगी ?...लिजा, आवेश छोड़ो, बताओ क्या बात है ?"

देखते-देखते वह कुछ और हो आई. बोली, "मि० हूस्टन, आप अभिभावक तुल्य हैं....मैं पतिसे तोड़कर किसलिए आगई ? स्त्रीके लिए यह आसान नहीं होता. सबके अनुमानोंको अपने ऊपर झेलना सुख नहीं देता. वही मैंने किया. किसलिए ? क्या इसलिए नहीं कि सहायतामें काम आऊं ? पर सहायता कौन चाहता है ? जय जहां हैं वहां शायद खाली नहीं कि समझ सकें दूसरा क्या चाहता होगा...तो मुझे भी आवश्यकता नहीं! वह चाहते हैं मैं जाऊं, तो मैं भी चाहती हूं अभी चली जाऊं. लेकिन एक बात जो नहीं हो सकती वह नहीं हो सकती. दुत्कारमेंसे सहकार नहीं आ सकता!"

"लिजा !"

मालूम नहीं उसे क्या हुआ था. वह बोलती गई—

"इलाजी सीताके समान हो सकती हैं, लेकिन उन्हें अनुमान है उस परिस्थितिका जो फंदा बनकर किसी समय जयको घोट सकती है ? सतवन्तीपना ठीक, लेकिन क्या वह काफी है ?"

सच ही वह उस समय मेरी समझसे बाहर हो आई. कहे जा रही थी—

"मैं इसीलिए आई हूं. आप जयसे मिलें. मैं शायद आज ही चली जाऊंगी. कह दें उन्हें कि पीछे मुझे दोष न दें. मुझे नहीं जाना योरोप. यहां रहूंगी और कोई वजह नहीं है कि न रहूं. भारत मेरा देश है, जन्मसे कोई कहीं बंध नहीं जाता. भारतीय राष्ट्रप्रेमपर मेरा वैसा ही हक है जैसा किसीका. नहीं जानती आगे क्या है, पर जो होगा उसका सामना लूंगी. शामतक हूं, कहिए राततक और, जरूरी समझें तो मुझे याद किया जा सकता है. लेकिन गई तो गई, और आप भी फिर दोष मुझे न दीजिएगा."

बीचमें हमारे मेज थी, मैं अब अपनी जगहसे उठा, उसकी कुर्सीकी बांहपर आया और उसके बालोंमें हलके-हलके उंगलियां फेरते हुए कहा, "लिजा !"

वह थिर बैठी रही.

"लिजा !!"

मानो देहमें कुछ कम्पन आया. मेरा हाथ तब उसकी दाहिनी कनपटीपर गया और वहां हौलेसे दबाव देकर मैंने उसके चेहरेको अपनी ओर झुकाते हुए कहा, "अशान्त न होओ, लिजा."

वह समझ न सकी, मैं समझ न सका. किंचित वहां प्रतिरोध अनुभव हुआ, लेकिन फिर वह सिर, मानो आश्वासनमें, मेरी हथेलीके दबावके नीचे झुकता गया और मेरी जांघपर टिक आया. वह कुछ बोली नहीं. धीमे-धीमे उसकी दाहिनी कनपटीको थपकते हुए मैं कह

चला, "लिजा, तुम्हारे आगे बड़ा काम है. तुम अपनेको भूल नहीं सकती. ऐसे खोओगी तो कैसे चलेगा ? तुम स्त्री हो, पर स्त्री ही तो नहीं हो. इसीसे बड़ा काम तुम उठा सकती हो और दूसरे तुम्हें सौंप सकते हैं. यह क्या कि निरी स्त्री बनी जा रही हो! मानापमान तो असल चीज है नहीं, लिजी, वह तो मनकी कमजोरीमेंसे बनते हैं. और सोचो तुम्हीं कि जय इस योग्य है कि उसपर नाराज हुआ जाए ? एक तरह वह अकेला है. इलाको जानती हो, पर नहीं जानती. जयके दुर्भाग्यको तुम नहीं समझती. वह ऊंचा इसलिए है कि है तक नहीं. इसलिए उस ऊंचाई मेंसे किसीको अपना अपमान लेनेका अवसर नहीं होना चाहिए. लिजा, आज नहीं जाओगी तो कल जाओगी. जब भी जाओ, रोष लेकर मत जाना. मैं बाहरी हूं, यहांकी राजनीतिमें मुझे दिलचस्पी नहीं है. लेकिन तुमसे कहता हूं, लिजा, कि जयकी शक्ति कम हुई तो यह शुभ न होगा..."

मैं कहे जा रहा था. लेकिन मालूम हुआ कि सुननेवाला सुन नहीं रहा है. उसकी आंखें मुंद आई थीं और वह निश्चेष्ट थी. जैसे खो गई हो.

कहना रुक गया. मैं स्वयं रुक गया. तीन चार मिनट मानो चारों ओर सभी कुछ रुक गया. लिजाका सिर उसी तरह गोदमें रहा, बाल उसके सुनहरी थे और मुलायम थे और बहुत थे. अजब अनुभव हुआ, और उस रुके हुए समयमें मन जाने कहा-कहां उड़ा फिरने लगा.

कि अकस्मात सिर उठा, लिजा संभली, बालोंको समेटा और लजाई सी मुझे देख उठी.

मैंने अपने साथ जल्दी की, "तो जाओगी ?"

"हां."

"जरूरी है !"

"जरूरी न हो तो वह कह सकते हैं."

"नाराज तो नहीं हो ?"

"आपकी आभारी हूं."

कहते-कहते वह उठी. मैंने हाथसे उसे लेकर कहा, "लिजा बैठो" और बिठाकर उसके सामने तनिक मेजका सहारा लेकर मैं भी टिक गया, बोला, "नाथको सहयोगकी राहपर लाना संभव हो सकेगा ?"

"शायद नहीं."

"तो तुम क्या करोगी ?"

"मैं—?"

"प्रयत्न न करोगी ?"

उसने निगाह ऊपर की, विलक्षण मुस्कराहट थी. बोली, "आप चाहेंगे, प्रयत्न करूं ?"

जैसे मेरे लिए बचावकी आवश्यकता हो. कहा, "क्यों न प्रयत्न करो ?"

"आप कहते हैं ?....प्रयत्न विच्छेद पास लाएगा. कहते हैं आप, करूं ? विच्छेदकी तय्यारी करूं ?"

और कहते-कहते उस मुखकी मुस्कराहट कुछ विशद ही हुई. मैंने कहा, "विच्छेद !"

बोली, "तुम्हें कहती हूं, विलबर, हर कोशिश करूंगी कि मौका न आए. पर आया ही तो ? तो क्या होगा, कह सकते हैं ? मैं नहीं कह सकती. अब जाऊंगी तो उन्हें क्या पाऊंगी, पता नहीं. लेकिन देखिए—"

"लिजी, योरोपका प्रस्ताव तुम मान क्यों न लो ?"

"प्रस्ताव तो सौभाग्य ही था. अब भी मानना सौभाग्य होगा. पर विलबर, आजकी बातसे मन ऐसा मर गया है कि क्या कहूं !"

"क्यों ? ऐसा क्या हुआ, तुमने बताया नहीं !"

"बात कुछ नहीं, उनमें तो भाव सत्कारका था. पर उसीसे और लगा कि वह दूर हों. जैसे सब कामकाजके सिलसिलेसे हो, अतिरिक्त कुछ नहीं...विलबर, मैं और सब समझ सकती हूं, दो आदमियोंके बीच यह ठण्डक मेरी समझमें नहीं आती. आदर वहां अन्तराय डालने आता है.

उस समादरके व्यवधानको किसी क्षण लांघकर मैं पास हो पाई, या पास ले पाई, यह तनिक अनुभव नहीं हुआ...तो क्या सब वृथा ही नहीं है ? योरोपका काम, या सर्वदलीय चर्चामें मेरा योग...सब वड़ा ऊपरी लगता है, विलवर, और जी होता है, शामकी जाती अभी चली जाऊं."

उस समय लिजाको मैं समझ सका. लेकिन जय—?

कहा, "नहीं, तुम नहीं जाओगी ?"

"क्यों नहीं जाऊंगी ? आप चाहते हैं, इसलिए ?"

"हां, इसलिए ही सही."

कहकर मैं मुस्कराया. अधिक आशय उसका न था. उसने मुस्कराहट को देखा, वोली,

"आप कव जा रहे हैं ?...,आपके साथ चलूं ?...असम्भव नहीं है, पर छोड़िए," और वह गंभीर हो आई. "नहीं, उनकी ही आवश्यकता पर रुकना हो सकेगा. नहीं तो—"

हठात् उस गंभीरताको अस्वीकार करते हुए मैंने कहा, "मेरी आवश्यकताका कुछ विचार न हो पाएगा ?"

हंसकर वोली"—आवेदन है ?"

"स्वीकृतिकी आशा हो तो आवेदन प्रस्तुत है"

उसी हंसीमें वोली, "आशा वहीं है जहां निराशा भी संभव हो. आप आशासे अधिक तो नहीं चाहते ?"

सच ही लिजा उस समय कमनीय जान पड़ी. लेकिन मैंने नाटक खत्म करते हुए कहा, "कोशिश करूंगा, जयसे मिल पाऊं. क्या कहना होगा ?"

"नहीं, रहने दीजिए."

"नहीं, लिजा, रोष लेकर तुम जाने न दी जाओगी."

और तत्काल मैंने फोन उठाया. जय प्राप्त न हुए, मैंने निजी सचिव से 'जरूरी' कहा. उसने भरोसा दिया कि जल्दीसे जल्दी सूचित करेगा!

लेकिन लिजा तनी थी. उसने कहा कि नहीं, जरूरत नहीं है. वल्कि

अब तो वह और भी पहले निकल जाना चाहेगी. बोली, "मैं प्रार्थिनी नहीं बनूंगी. नहीं, प्रार्थिनी में नहीं बन सकती !"

...गई तो वह हठपर ही थी. मानिनीमें कोई अतिरिक्त आकर्षण हो आता है क्या ? पहले तो संभव न हुआ. पर ठीक साढ़े छः बजे जय मेरे कमरेमें आए,दो वाक्य मुझसे सुने और मुझे लेकर सीधे लिजा के यहां पहुंचे.

लिजा लेटी कुछ पढ़ रही थी. घबरा आई, सहसा पलंगसे उठी, फिर देखकर कि कपड़ा पूरा नहीं है वहीं बैठ गई....

जयने कहा, "अपराध मुझे मालूम हुआ है, माफी मांगने आया हूं"

लिजा जल्दीमें हल्का-सा शाल ऊपर लेकर पलंगपर सिमिट बैठी थी, बैठी ही रही, कुछ बोली नही.

जयने कहा, "सर्वदलीय चर्चामें आप भाग लेना चाहती हैं, यह तो शुभ ही है, पर मैं अगर नहीं चाहता तो कारण है. कारण, मैं राजनीतिके इन कामोंको महत्व नहीं देता हूं, महत्व आपका अधिक है. योरोपकी बात जो कही उससे भी बहुत प्रसन्न नहीं हूं, उसमें भी राजनीति है और बात हल्की है. राजनीति ऊपर चलती है, असल गृहनीति है. वह प्रकृतिसे आप के हवाले है. वह संभली रहे तो फिर उलझन बड़ी नहीं रहती...आदमी तो सामने है, स्त्री पीछे रहकर जो कर सकती है, सामनेसे हो नहीं सकता. आदमी बस सामना लेनेको है. इसको आप असम्मान मानें, तो क्षमा करें, मैं सहमत न हो सकूंगा. हृदय भीतर रहता है, देख उसे कोई नहीं पाता, पर सब क्या उसीसे नहीं चलता है ?"

मैं एलिजाबेथको देख रहा था. इससे कहा, "चर्चामें आप इन्हें भी निमंत्रित कर सकते हैं."

जय लिजाको देखते हुए बोले, "कहिए, कर सकता हूं ?"

लिजा जयको देखती रही, बोली नहीं.

जयने मुझे देखकर कहा, "कहिए, अब क्या करना होगा ?"

मैंने कहा, "यों भी नाथ इनके बिना कैसे चल सकते हैं. निमन्त्रण

इनको उचित ही है."

जयने फिर जैसे सब लिजाके समक्ष किया, कहा, "जी, उचित है ? मैं आदेशकी प्रतीक्षामें हूं. . .और जाएं तो, बताकर जाइएगा. क्षमा कीजिए, बिना सूचना किए आना अनुचित हुआ. पर समय और न था और अपराधीको स्वयं आना चाहिए था...बिलबर, अब जाऊं?...विशेष आपत्ति न हो तो श्रीमती कृपया निमन्त्रण पाकर चर्चामें अवश्य योग देंगी... नमस्कार !" कहकर जय ठहरे नहीं, मुझे साथ न लिया, दरवाजा स्वयं बढ़कर खोला, और बाहर चले गए.

जानेपर वह टक बांध कुछ देर दरवाजेपर ही देखती रही, फिर एकाएक कुछ क्रुद्धभावसे बोली, "यह क्या है ?"

मैंने क्षमा मांगी कि सूचनाके लिए समय न था.

उसने जैसे सुना न हो, कहा, "यह है क्या? बाहरसे आपने घंटी क्यों नहीं की ?"

मैंने कुछ कहना अनावश्यक समझा.

आविष्ट स्वरमें ही बोली, "लेकिन यह सब क्या है? मुझे निमन्त्रण नहीं चाहिए. और कह दीजिएगा, मैं आज जा रही हूं...ओह ! क्या बजा है !"

कहकर उठी, शाल दूर फेंका, फोन लेकर स्वयं पूछताछ करना चाहने लगी कि सीटकी क्या व्यवस्था संभव है ?

मैंने रोका नहीं, मुड़कर धीरेसे दरवाजा बंद किया, और अपनी कुर्सी पर आन बैठा. स्वागताधिकारीने बीचमें पड़कर सब भार अपने ऊपर लिया और कहा सब व्यवस्थित मिलेगा. सुनकर वह अपने सामानकी ओर मुड़ी. तभी, जैसे पहली बार मुझे देखा हो, बोली, "आप यहां क्या कर रहे हैं?"

"तैयारीमें कुछ मदद कर सकता हूं?"

"कृपा है, आप जा सकते हैं."

मैं बैठा रहा.

जोरसे बोली, "क्या मतलब है आपका ?"

मैंने ऊपर देखा, कहा, "सुनो, तुम नाराज न जाओगी!"

"छोड़िए, मैं नसीहत नहीं चाहती. और क्या आप नहीं जाएंगे?"

लिजा उस समय सचमुच मनमोहक हो आई.

मैं चुप रहा और बैठा रहा.

उसने भी फिर चिंता न की, और सामान इत्यादि समेटनेमें लग गई. मैं देखता बैठा रहा. क्रियामें वेग था और तुनक और आवेश. सारे चेहरे पर और वदनपर एक विशेष प्रकारकी तल्लीनता थी. जैसे वह है और उसका संकल्प है, आसपास बाकी कहीं कुछ नहीं रह गया है. मैं चुपचाप बैठा रहा और वह, व्यस्त, करती रही. आठ दस मिनट हो गए. सामान काफी ठीक हो गया. फिर वह अन्दर गई. अब उठकर मैंने हाथोंमें किताब ले ली और पढ़ने लग गया. अन्दरसे आई तो वह तैयार थी. मैंने देख लिया और फिर किताबमें ध्यान दिया. उसने उतरे बचे-खुचे कपड़ोंको बैगमें लापरवाहीसे अन्दर फेंकते हुए कहा, "सुनिए, जरा घंटी कीजिएगा."

जैसे सुना न हो, कहा, "क्या ?"

"कष्ट न कीजिए" और कहकर वह बटन दबाने आगे बढ़ी.

उस समय फौरन बढ़कर मैंने उसका हाथ रोका, कहा, "आप कष्ट न कीजिए. बैठिए."

वह आश्चर्यसे मेरी ओर देख उठी. बोली, "यह क्या है ?"

चेहरेपर भय-सा दीखा, मानो कुछ अपेक्षा भी. उस समय वहां उस भयभीत अपेक्षाको देखकर जैसे मुझे अपना पता न रहा. हाथमें थमे उस हाथको उठाकर हठात् मैंने होठोंसे लगाया.

"गुड हैविन्स, "विलवर, यह क्या है ?"

हाथ वह मेरे हाथमें निश्चेष्ट-सा टिका रहा, जैसे आपत्ति कहीं न हो, और मैं फिर उसे होठोंसे लगा उठा.

अब उसने हाथ खींचा और वह हंस आई. बोली, "क्या यह सच है ?"

मैंने कहा, "सच ही है!"

क्या सच था, क्या सच नहीं था, कह नहीं सकता. अन्दर विचार या विकल्प नहीं था. शायद सच आदमीसे तभी होता है जब अन्दरका सब डूब जाता है. वह नारी अपने आवेश और आवेगमें इतनी स्वयं हो आई थी, बाहरकी ओरसे इतनी बेभान, कि मैं स्वयं भूल रहा. सच क्या वही नहीं है जहां हर स्वयं भूल रहे ! नहीं तो क्या आदमीके संकल्प-विकल्प सच हैं ?

हंसना उसका बन्द हो गया. जैसे खोई-सी मुझे देखती रह गई. उस दृष्टिसे मैं सहम आया. पीछे हटनेको था, कि उसने झपटकर मुझे लिया और अपने ओठ मेरे होठों पर गाड़ दिए. मैं अनुद्यत था, और उस क्रिया की तीव्रताके उत्तरमें तुरन्त लगभग कुछ मुझमें से उठकर न आ सका, जैसे मैं सर्वथा निश्चेष्ट बन आया, मानो केवल विषय रह गया. कितनी देर तक इस अवस्थामें रहना हुआ, कह नहीं सकता. देर अनन्त-सी लगी.

अलग हुई तो चौंकी-सी बोली, "बिलबर, यह क्या ?"

मैं सचमुच लज्जित था.

उसने जैसे बेहद आश्चर्य और बेहद ग्लानिसे मुझे देखा. कहा, "कृपया अब आप घंटी कीजिएगा ?"

स्वरमें जैसे हैरत हो और भर्त्सना.

क्या हो गया मैं जान न सका. अब भी वह नारी परम रमणीय प्रतीत होती थी. लेकिन जैसे कहीं अपनेमें असमर्थित भी हो.

मैंने घण्टीके लिए बटन दबाया और फौरन उठकर दरवाजेकी चटखनी खोली.

वह देख रही थी. मैं वापिस हुआ तो जैसे उसका भाव कुछ बदला था. मानो वहां अब परमसंतोप हो. बोली,

"ओः, तो चटखनी बंद थी !"

मैं मुस्कराया.

"कहा क्यों नहीं?"

अब भी कुछ नहीं कहा, उसी तरह मुस्कराता रह गया.

"तव क्यों मैं जाती!"

उसी समय दरवान अन्दर आया और लिजाने हुकुमके स्वरमें कहा, "देखो, यह सामान है. गाड़ी लगी है?"

गाड़ी थी. दरवानने सामान वाहर किया और वह चला गया.

मैं देखता रहा...सिरपर हैट लिया, दस्ताने पहने,आईनेमें अपने को देखा और दुरुस्त किया. मैं देखता रहा. वह मेरी ओर आई, हाथ मिलाया, कहा, "विदा, विलवर, मैं याद रक्खूंगी.—पर तुमने देर की."

सहसा कहा, "मैं साथ आ रहा हूं !"

दृढ़ स्वरमें वोली, "धन्यवाद. नहीं."

कहकर वह तेजीसे वढ़ी और चलती चली गई.

...देखता हूं, हम पाश्चात्य रक्तसे शेष मनुजोंके साथ एक ही हों, संस्कारमें अलग हैं. व्यवहारको हम और रूपसे लेते हैं, और सिद्धान्तको भी...

जयको सूचित किया कि एलिजावेथका जाना सहज रूपमें हुआ, कहना कठिन होगा.

वोले, "ठीक हुआ!"

मैं यह सुननेको तैयार न था. कहा, "ठीक हुआ तो नहीं लगता."

वोले, "शायद अव वात नाथसे जल्दी शुरू हो सकेगी."

"मुझे संदेह है," मैंने कहा "कि लिजा सहायक होंगी."

फोनपर ही वोले, "मुझे संदेह नहीं है. हृदय उसका हीरा है. सख्त पर उतना ही निर्मल."

...विचित्र लगा था ! जय कल्पना लोकमें तो नहीं रहते ? पर रहनेको सवके पास अपना कल्पना लोक ही तो है, नहीं तो क्या है! लोक स्वयं जो कल्पना है !

जय, ऐसा तो नहीं कि, पार देखते हैं,इससे पास देखनेका अवसर नहीं रखते ? अनुमान है उन्हें कि एलिजावेथमें क्या है ? स्पष्ट है कि अपेक्षा शील नारीत्व है, पर क्या जयको भी स्पष्ट है ? और कौन जाने कि नारीत्व वह उन्मुख है तो जयके प्रति ही अधिक...अनुमान न हुआ और जय

चूक गया तो क्या उस नारीत्वकी उन्मुखतामें से विमुखताकी ज्वाला ही न दहक आएगी !

ओ मेरे ईश्वर, ऐसा कर कि यहां कोई व्यर्थ न हो,कोई अकृतार्थ न हर जाए !

४ अप्रेल—

पत्र मिला :

महोदय, क्षमा चाहता हूं कि पत्रमें देर हो गई. कारण, देहलीसे विवरण आनेमें देर हुई. अनुमान था आप विचारके धनी हैं. वही हमारे लिए चिंताका कारण था. चिंता, अर्थात आकर्षण. अब हम निश्चिन्त हुए. कायरकी चिंताकी क्या आवश्यकता ? इस पत्रके द्वारा यही सूचित किया चाहता हूं कि आप सर्वथा निश्चित रहें और सुखसे रहें. आप-को मृत्युका भय है, इसलिए जीवनका भी भय हुआ. और ठीक किया आपने कि महामाननीयाके आंचलकी शरण ली. महामाननीया शब्द हमें आदरका ही नहीं है, श्रद्धाका भी है. हम सब लोगोंमें उनके प्रति पूज्य भाव है. जयने जो पाया उनके पुण्यप्रतापसे. किंतु उसकी चर्चा आपसे अनावश्यक है. सार यही कि उनकी शरण पाकर आप हमारे लिए सहज अवध्य हो गए. कायर यों स्वयं अपनेको समाप्त कर लेता है, अधिककी आवश्यकता नहीं रहती...अब आप क्या लिखते हैं इसकी ओर भी हमारा ध्यान न होगा. शब्दमें महत्व व्यक्तिसे आता है, आपका व्यक्तित्व प्रगट होनेके बाद शब्दोंको महत्व देनेका कारण कोई हमारे लिए नहीं रह जाता. कृपया इस पत्रका जिक्र किसीसे न कीजिए.

मैं हूं आपका कृपाकांक्षी.
आई० एम०.

पत्र अच्छा लगा. सोचा उत्तर दे दूं कि कृपा है; किंतु अनुरोध मानें कि जयसे अवश्य मिलें. दो पंक्तियोंमें यह उत्तर लिख भी डाला. पर मालूम हुआ कि पत्रपर पता ही नहीं है. तब पत्र, लिफाफा और उत्तर

तीनों नत्थीकर एक ओर रख दिए कि जयको बताना होगा.

...एलिजाबेथके आगमनको पत्रोंने ध्यानमें लिया है. नायके पास पहुंचनेकी खबर भी छपी है. नाना अनुमान हैं, किंतु लिजाकी ओरसे मण्डन है न खण्डन...लिजाका चित्र ध्यानमें उठा, मनमें स्पृहा जगी. यह नहीं होना चाहिए.

पर परम आश्चर्य यह कि तीसरे पहरके समय पूछा गया कि मुझे असुविधा तो न होगी, महामाननीया आना चाहती हैं. कुछ ही बाद सचमुच इला आ पहुंची. रूप भव्य, वेश शुभ्र, सर्वथा अनलंकृत, व्यक्तित्व समाहित. चित्तको आल्हाद हुआ. भारतमें देखा है, लोग पांव छूते हैं. वह तो न हुआ, लेकिन उसकी आवश्यकता समझ सका. समय होता है जब झुके बिना तृप्ति नहीं मिलती. चरण-स्पर्शकी प्रथाकी गंभीर सार्थकता मुझे अनुभव हो आई.

अभ्यर्थना पूर्वक कुर्सी समक्ष की और मैं—

उन्होंने साथकी दोनों परिचारिकाओंको जानेको कहा और कुर्सीपर बैठती बोलीं, "ऊंचा रहना चाहें तो मेजपर बैठिए, खड़े क्यों हैं ?"

मैं सचमुच मेजपर ही टिक रहा, कहा, "यह लीजिए. लेकिन यह दण्ड क्योंकि मुझे बुला नहीं भेजा गया ?"

बोलीं, "महामाननीया हूं, यही न ? जिनसे हूं, वह तो यहां काफी हाजिरी बजा गए हैं. फिर—"

मनमें हुआ, कहीं ऐसा तो नहीं कि जयके संकेतपर आई हों. कहा, "उनकी कृपा है, लेकिन—"

"सुनिए, मैं जा रही हूं. कह नहीं सकती कब आना हो. आई थी कि—"

मुझे पता न था, पूछा, "शिवधाम जा रही हैं, कब ?"

"कबका पूरा निश्चय नहीं है, उसीके लिए आई हूं."

"निश्चयके लिए, यहां ?"

"हां. आपका क्या कार्यक्रम है ? जय, अनुमान है, एक सप्ताहमें

शिवधाम आ सकेंगे. अपनी ओरसे निश्चित हैं, लेकिन कुछ अन्यकी भी सुविधाका प्रश्न है. आपनें जयसे वात की ? आप उनके साथ आएंगे ? या—?"

"नहीं, उनसे कोई वात नहीं हुई."

"न हुई होगी." कहते हुए इला हंसी "आप अतिथि मेरे हैं, शायद उन्होंने माना हो कि वात मुझीसे होगी. तो कहिए ?"

"आप कव जा रही हैं ?"

"जल्दी-से-जल्दी जा सकती हूं. संभव हो तो आज. आप कहिए—"

मैंने कहा, "मुझे 'अशोक' में जाने दीजिए....मेरी ओरसे निश्चित रहिए."

"चिंता आप ही की है, —मेरे साथ चलिएगा ?"

विस्मित हुआ, कहा, "—आपके साथ ?"

"समझ गई, विशेष आकर्षण नहीं है !" हंसती हुई वोलीं, " पर जयकके साथका—सोच लीजिए. अच्छा तो यही दीखता है कि मेरे साथ चलें."

"आना ही हो तो उनके साथ नहीं आ सकता ?"

"तो वढ़कर स्वयं आपको उनसे वात कर लेनी चाहिए."

"आप न कर लीजिएगा ?"

"नहीं, हमारे विभाग स्वायत्त हैं. आप मेरे विभागमें हैं तो उनका दखल कैसे होगा."

"इसीसे कहा, विभागाध्यक्ष वात कर लें. असवाव जहां रख दीजिएगा, रह जाएगा !"

इलाने मुझे देखा, पूछा, "आपका काम—कितना वाकी है ?"

अवतक असाववान ही था. इस प्रश्नपर ध्यान आया कि पत्रोंमें मेरा यहां रहना चर्चाका विपय वना है. तो निजी था वह सार्वजनिक हो रहा! इला जो सामने कुर्सीमें वैठी है, और मैं जो उसी कमरेमें लापरवाहीसे मेजपर टिका हूं, सो यह इस कमरेके दोके वीचका आपसी

ही कुछ नहीं है, राष्ट्रनीति और परराष्ट्रनीति और अन्तर्राष्ट्रनीतिसे भी जुड़ा-जकड़ा है! यह ध्यान आते ही सहसा मैं विचलित हुआ. तब जैसे अनायास कुछ न रह गया, सायास हो आया. कहा, "काम तो किसी समय भी पूरा समझा जा सकता है."

किन्तु देखा, इला सहज है और प्रकृत. हंसती बोली, "किसी समय कैसे ? आनेसे पहले भी क्या पूरा था? आइए, मेरे साथ चलिए. बापूके पास 'यह सब' तो न होगा, पर कोई कष्ट आपको न होने दूंगी."

'यह सब' कहते हुए उसकी व्याख्यामें जो उन्होंने अपना खुला दाहिना हाथ चारों ओर घुमाया, उसमें मेरे कमरेकी ही सुख-सुविधा न आगई, प्रत्युत बाहरका सब साज-बाज भी गिन गया. उस समय उनके स्वरमें जैसे एक करुणभाव बज आया.

मैंने कहा, "नहीं, अभी तो नहीं, कुछ रोज स्वतन्त्र नागरिक ही यहां देहलीमें बन लूंगा. शिवधाम फिर अकेला आ जाऊंगा."

"यह अकेला-पन क्या आपको बहुत प्रिय है ?"

मैंने कहा, "पर राज-विचार शायद झमेलेकी चीज है—बाहरी आदमी और झमेला बन सकता है !"

"ओह, तो यह बड़ी-बड़ी बातें आपके मनमें हैं ! छोड़िए. होटलमें ही क्यों, यहां भी स्वतन्त्र रहिए. राजकी चिन्ता हो जिन्हें हो, हम आप वह क्यों ओढ़ें ?"

इलासे यह क्या सुन रहा हूं ? इला, जो अकुशल किसी ओरसे नहीं हैं.

बोला, "नहीं, मैं यह गलती नहीं करूंगा. आप लोगोंकी उलझन बढ़ाऊंगा नहीं. आप कब जा रही हैं ? तभी मैं यहांसे अन्यत्र चला जाऊंगा. ...भारतमें तो अभी रहना होगा. पूरी तरह मैं ही नहीं जानता कि यहां मेरी खोज क्या है. पुस्तक लिखना मेरा हेतु नहीं है. पुस्तक तो घर बैठे कहींके किसीके बारेमें कैंचीके कमालसे बन सकती है. इसलिए मेरा काम यहां पूरे होनेका जवाब स्वयं मेरे पास नहीं है." और जाने किस आवेप-में कहता गया.

हमलोगोंनें संकटके लिए एक ही उपाय माना है. वही कारगर देखा जाता है, इसलिए वही वैज्ञानिक. वह है बल प्रयोग. बलका अर्थात् आतंकका प्रयोग. डरसे असुविधाजनक तत्व दब जाते हैं और संकट टल जाता है. या कुछ नहीं दबते तो उनको विज्ञानकी बारूदसे उड़ा देना होता है. बस यह हुआ कि विजय पूरी हुई और प्रगतिकी राह खुल पड़ी. इससे साफ है कि कहीं कुछ चूं-चां हो तो फौरन उसे कुचल दो. जड़ फूटेगी ही नहीं तो फल कहांसे होगा. ऐसे समाजवाद यह हुआ कि जो असामाजिक हैं, वर्ग या व्यक्ति, उन्हें नष्ट कर दो. यह प्रयोग बरता जाता है और इतिहास लड़खड़ाता बढ़ता रहा है. पर रोगका फूटना बन्द हुआ है, इतिहास यह नहीं बताता. ....तो मैं यहां क्यों आया हूं, क्यों बना हुआ हूं ? इसका ठीक मुझे ही पता नही है. लेकिन शायद कुछ आशा है...हमलोग भारतसे आगे ही हैं. फिर भी कुछ मुझे यहां खींच लाया है. मानना होगा कि हममें परीक्षाकी प्रयोगकी लगन है...पर वह छोड़िए, राजनीतिमें मेरी दिलचस्पी नहीं है. राजनीतिके लिए अनिवार्य है कि राज कई हों, एक राज हो तो भी अन्दर उस राजको चाहनेवाले कई दल हों. तभी राजके लिए अपनी एक अलग नीतिका प्रश्न होता है...मुझे लगता था कि मानवके लिए अगर कोई नीति है, तो उसीसे सब जगह काम चलना चाहिए. क्या समाजका काम क्या राजका काम. लेकिन मालूम हुआ कि बात ऐसी सरल नहीं है...शास्त्र तो लगता है कोई लिख सकता है, अच्छी-अच्छी सिद्धांत की बातें एक सी हैं, और आसानीसे दुहराई जा सकती हैं, लेकिन राज हर कोई नहीं कर सकता है. उसकी कुशलता अलग है. वह अपनेमें स्वतन्त्र विद्या है... खैर, वह सब मुझको जंचता नहीं था...आप जानती हैं, हमारे देशमें एक आइंस्टीन हो गए हैं, यानि हमारे देशमें वह मरे हैं ... तो उनकी खोज रही पदार्थ-क्षेत्रमें उस सूत्रको पानेकी जो सबके मूलमें है...चेतनका क्षेत्र उससे कोई अलग या उलटा तो नहीं होना चाहिए. आइंस्टायनने जो बताया उससे मालूम हुआ, जड़में चेतन है, यानी जड़ सब

चेतन है. शक्ति चलाती है तो जिसे चलाती है वह भी शक्ति-पिण्ड ही है. सब एक ही माया है! बात अब वह किताबी-सी हो आई है और सब जानते हैं. लेकिन जीवनका क्षेत्र संघर्ष-विग्रहके रोगसे घिरा है. तो समझ नहीं आता कि विचार क्यों असमर्थ है, और क्यों इसके निदान तक पहुंचकर समाधानका उपाय नहीं पाता है....इसीमें मैं चला आया और यहां हूं. काम तो वह पूरा होनेवाला नहीं है, शेष कुछ रहे ही जाएगा... लेकिन आप लोगोंके लिए मैं किसी तरहकी असुविधाका कारण न बनूंगा.—"

सामने इला थी और सुन रही थी. चेहरेपर उसके लीनता थी. जो मैं कह गया सो उस कहनेका उत्साह क्या मैं वहींसे पाता गया? नहीं तो वह सब कुछ असंगत ही था. जान पड़ता है इलाके चेहरेपर जो रुचि और रसका भाव प्रत्यक्ष रहा, उसीसे उन बातोंमें मैं उतरता चला गया. कहनेके बाद मुझे भान हुआ और लज्जा हुई.

प्रसन्न मुस्कराहटसे इलाने कहा, "तो आप रुक गए!"

मैंने कहा, "क्षमा चाहता हूं."

बोली, "क्षमा तो करना ही होगा. भला मैं आपकी इन बातोंको समझ सकती हूं...पर बताइए, कुछ वह सूत्र मिला, जो हमारे सारे जीवन-व्यापारको धारण रखता है..धारण करे उसे हमारे यहां धर्म कहते हैं. पर सुनती हूं धर्मको विज्ञान नहीं मानता. उधर कहते हैं विज्ञान अधार्मिक है...तो क्या करें? प्रयोगशाला खतम कर दें, या मन्दिर-गिरजे सब गिरा दें? सुनती हूं ऐसी कोशिशें दोनों तरफसे होती रही हैं. पर कायम भी दोनों चीजें हैं. मुझे तो आपलोगोंका यह मामला समझमें नहीं आता है. धर्म और विज्ञान लड़ें और चाहें तो मेल के नामपर लड़ें—लड़ाईमें हम स्त्रियोंका बस उतना चलता नहीं... लेकिन सुनिए, असुविधा वगैरहकी बातें आप मुझसे या किसी स्त्रीसे न कीजिए...आखिर असुविधाको लेकर आप जाएंगे कहां? होटलमें जहां आप पैसा देंगे और मानेंगे कि असुविधा देनेका प्रश्न नहीं रह गया—

यही न ? जैसे पैसेसे भरपाई हो जाती हो...लेकिन असुविधा उठाना हम स्त्रियोंका हक है. और जब कोई अतिथि बनकर इस तरहकी बात हमारे सामने करता है तो वह हमारे लिए निन्दाकी ही बात है. अतिथि देवता—"

मैंने बीचमें कहना चाहा, लेकिन अवकाश नहीं मिला. वह बोलती गई—

"—नहीं, और सवाल मत लाइए. राजकी बात राजवाला देख लेगा. न वह आपका काम है, न मेरा काम है. अखबार अपनी जानें. उनकी सब बातोंके लिए खुद खाली रहनेका मेरा जिम्मा नहीं है. न रुचि है, न आवश्यकता है...मैं अब जाऊंगी...दो ही चीजें हैं, यदि भारतमें रहना है तो देहलीसे अन्यत्र जानेका कार्यक्रम जयसे मिलकर, या स्वतन्त्र, जो चाहिए बनाइए. देहलीमें हैं तबतक यहां ही रहेंगे... पर बापूके पास आपको आना है. यहां सब व्यवस्था राजकीय थी, यानी मुझे सेवाका अवसर ही नहीं आया. वहां मैं आपको हाथसे बनाकर कुछ खिला पिला सकूंगी. वह अवसर दिए बिना आप जाएंगे तो क्या यह न्याय होगा ? तो या तो मेरे साथ चलें, नहीं तो जयके साथ आ जाइए. आप मानवनीति वगैरहकी बातें करते हैं तो चलिए, कुटियामें आइए. यहां महलमेंसे हमपर क्या निर्णय दीजिएगा ?"

मैंने इलाको देखा. अपनी कैसी घनिष्ट कथाएं मुझे सुनाने तक यह नारी आगई है. पर वह सब होनेके बाद भी कहींअसमंजस नहीं है, प्रभावशालिता और शालीनतामें कहीं त्रुटि नहीं. देखकर लगभग उसी समय की कलकी एलिजाबेथका ध्यान आया. बहुत ही विलक्षण प्रतीत हुआ. निश्चय ही सामने बैठी नारीमें नारीत्व किसी ओरसे कम न था, पर वह तनिक भी मुझ पुरुषमें उद्वेगका कारण न बना. प्रत्युत एक समाहित शुचिता और संतोषका अनुभव हुआ. व्यक्तित्वके चारों ओर एक सौंदर्यका परिमण्डल था, पर उससे भावकी भव्यता ही मिली. मनमें चंचलता नहीं पैदा हुई.

कहा, "साथ चलूं ?"

प्रसन्न हो आई, बोली, "सच, चल सकते हैं ?"

"जयका आदेश हो—तो, हां."

"आदेश ? उनका ?—वह कभी न होगा."

हंसकर कहा, "क्यों, इतने शंकालु हैं !"

हंसकर ही उत्तर दिया, "हां, बहुत ही शंकालु हैं. इतने, इतने कि आदेश कभी दे ही नहीं पाते. मुझ तकको नहीं, जिसे सब बेखटके दिया जा सकता है.—कहिए, किसी औरका आदेश चलेगा ?"

"आप दीजिएगा ?"

"जरूर, और हिम्मत है तो उठिए, तैयारी कीजिए."

मैं अचकचा आया, कहा, "क्या कह रही हैं आप ?"

"देख लीजिए," उन्होंने कहा. "आदेश तो हो गया. आगे आप जाने. ...सुनिए, संकोच न मानिएगा. श्वेतांग परिचारिकाएं हैं यहां आपकी ही सुविधाके लिए हैं. मैंने कह दिया है, और किसी प्रकारके संकोचकी बात सुनी तो मुझे कष्ट होगा...मालूम हुआ, आपने अपने कपड़े आज खुद धोए ! हमारे लिए क्या यह दंड उचित था ?"

हंसकर कहा, "मुझे अपाहिज तो न बनाइएगा...तो मान लिया आपने मैं नहीं चल रहा हूं ?"

"हां, मान लिया" हंसकर बोली, "आपकी एलिजाबैथ-सी जो मैं नहीं हूं !"

"एलिजाबैथ !"

"जी, आपकी लिजा. वह गईं ?—"

मैंने इलाको देखा, मेरी निगाहमें प्रश्न था.

बोलीं, "क्या चाहती थीं और क्यों गईं, बता सकते हैं ?"

"क्यों गई, कह नहीं सकता. चाहती शायद जयका विश्वास थीं.—लेकिन, क्यों ?"

"इसलिए कि आप चल नहीं रहे हैं...वह फिर आएंगी ?"

"नहीं तो—"

"नहीं आएंगी ?"

"जय अधिक जानते होंगे."

"जय ?...शिववाम आएंगी वह नाथके साथ ?"

"मुझे निश्चय नहीं है."

"चलिए न, मुलाकात हो जाएगी !"

मैंने इलाकी आंखोंमें गहरे देखना चाहा, यह निरा विनोद है या—? कह उठा—

"तव तो चलना कठिन होगा."

जैसे उसे विश्वास न हुआ. पूछा, "क्यों ? अनवन हो गई है ?"

"हटाइए—मैं वचना चाहता हूं."

और भी आश्चर्यसे वोलीं, "क्यों ? डर है ?"

समझ न सका कि एक पर एक आते इन प्रश्नोंमें क्या है—संशय? जिज्ञासा ? या कहीं भीतर जयके लिए चिंता है ?

मैंने कहा, "नहीं, उन्हें काम जयसे है. पेरिस जानेकी वातपर पहले खुश थीं, अव उनके सर्व-दलीय काममें सहायक हुआ चाहती हैं. ठीक तो है, आप क्या सोचती हैं ?"

"मैं ?—"

मुझे अपेक्षा रही, पर वह रुक आईं, जैसे कुछ भूल रही हों. अनन्तर वोलीं,—

"—नाथसे खटपटकी वात कितनी सच है ?"

मैं असमंजसमें पड़ा, कहा, "जयसे तो देरतक उनकी वातें हुई हैं!"

"फिर जय !" क्षुव्ध-सी वह वोलीं. "सामने आप हैं, वीचमें उन्हें क्यों लाते हैं ? सुनिए, मुझे वह ठीक नहीं लगती है."

मैं तैयार न था कि इतना सीवा निर्णय इलासे आएगा. कहा, "क्यों ?"

"राजनीति स्त्रियोंके लिए नहीं है."

मैंने गौरसे इलाको देखा. कहा "—सचमुच नहीं है?"

"निश्चय नहीं है."

"यह आप कह रही हैं!"

"ओह, तो आपने मुझे यह समझा है, राजनीतिज्ञ! समझती थी—"

मैंने कहा, "आपकी जगह होकर असम्भव है कि कोई नीति-निपुण न बन आए. नहीं, मैं गलत नहीं हूं और माफी चाहता हूं."

"चलिए, माफी मिली और मुझे राजनीति-विशारदा होना स्वीकार हुआ. लेकिन कृपया अपनी लिजाको संभालिए और जयसे उन्हें दूर रखिए."

"जय अभाववान हैं?"

"देखिए, फिर जयको लाए आप! वह जहां हैं वहां कोई भी शरारतके बल और हकसे पास पहुंच सकता है. शासनमें शरारतवालेका मूल्य हो आता है. विरोध भड़काइए और नेतासे जितनी चाहे मुलाकातें ले लीजिए. नहीं तो कहिए,इन नाथ लोगोंकी ही यहां क्या संगति है? ...स्नेही ही दूर रह सकते और रखे जा सकते हैं, विरोधी और विद्रोही को सदा पास आनेका अवसर है! शासनकी यह अहिंसक नीति है! ...इसलिए कहती हूं वह और कुछ नहीं, मेरे लिए दुष्प्राप्य बन सकते हैं...कहते हैं, इस कामकी तनख्वाह पाता हूं कि मेरा कोई अपना न रहे और सब गैर मेरे हों! साफ कह रखा है उन्होंने मुझको कि मेरे समयपर कभी मांग न रखना. यानि उनका समय सबका है, नहीं है तो अपनोंका नहीं है. तो यह है.. अब आपपर छोड़ती हूं कि एलिजाबेथ जैसे हो परे ही रहे."

यह अच्छा नहीं लगा और विशेष समझमें भी नहीं आया. आया तो यही कि इला माननीया है, पर नारी है.

मैंने धीमेसे कहा, "अपने विश्वासमें आप त्रुटि न लाएं. जयको सावधान होनेकी आवश्यकता नहीं, वह उत्तीर्ण हैं."

सुनकर एक साथ नाराज हो आईं, बोलीं, "उत्तीर्ण या कुछ, आप उन्हें बीचमें न लीजिए. और मुझे भी मुझपर छोड़िए...पर प्रार्थना है, एलिजाबेथको संभालिए."

इसबार मालूम हो आया कि सच ही बात कुछ अधिक है. अवश्य जयने कुछ कहा-सुना है. पर वह क्या ?

विवशभावसे पूछा, "क्या संभालना होगा ?"

बोलीं, "वह आप जानें. उस रक्तके, स्वभावके, संस्कारके आप सहभागी हैं...जयके हितैषी भी हैं...कुछ हुआ तो आप अपनेको क्षमाकर सकेंगे ?"

जिस स्वरसे कहा गया उससे अपने बावजूद मैं व्यग्र हो आया. पूछा, "कुछ हुआ ! याने—?"

"मैं नहीं जानती, आप जानें. लेकिन कह चली हूं .. अच्छा होता आप साथ आ सकते...एलिजाबेथ अवश्य पहुंचेगी, नाथ चाहे न भी आएं. अब तो निमन्त्रण है, यों ही वह आती ..पर छोड़िए, हो सके तो उनके साथ आजाइएगा. फिर कहती हूं, वृथा नहीं है, इतनी बात रख लीजिएगा."

...उन शब्दोंके मर्मको पा नहीं सका. पर देखा भीतर कुछ गंभीर है. अब भी इलाकी व्यग्रता भूल नहीं पाता हूं. यद्यपि अन्ततक हमारी बातचीतमें इलाके साथ सब स्वस्थ और शालीन रहा, फिर भी कहीं गहरे में वहां कुछ कुतर रहा है यह जाने बिना मैं न रह सका.

इला उसी दिन चली भी गई. पर कहीं पत्रमें रेडियो या टेली-वीजनपर—कोई सार्वजनिक सूचना अबतक नहीं है!

.. ऊंचे जाओ तो उतनी हवा सूक्ष्म होती है और सांसपर जोर पड़ता है. ऊंचा होना इससे सुखकर नहीं है. मर्यादा वहां उतनी ही अधिक है, जितनी स्वतन्त्रता कम.

५ अप्रेल—

"तो आप गए नहीं. और होटलमें रहिएगा ?"

तीसरे पहरका समय था, मैं लिख रहा था. किवाड़ोंपर थपथपाहट हुई और बिना मुड़े मैंने कहा, "आइए." जो आए उन्होंने पीठ पीछेसे यह शब्द कहे, और मैं चौंककर रह गया, जब देखा कि स्वयं जय थे.

हंसकर बोले, "क्या लिख रहे हो ?"

मैं खड़ा हुआ, कुर्सी दी, बराबर बैठा और कहा, "आपने तो चौंका दिया !"

"तुम्हींने कहा, आइए...दरवाजा पहले जरा खोलकर मैंने देखा कि लिखनेमें लीन हो तो मैं लौट जानेवाला था. पर मुझे और समय न था और तुम्हारे लिए शायद अशोकमें व्यवस्था भी होनी थी, है न ? मैंने इससे फिर खटखटाया, तुमने कहा आइए, और यह मैं हूं !.. हां, कहिए, आप क्यों नहीं साथ जा सके. ?"

"कह गई हैं, आपके साथ आऊं."

"पर यह होटलकी बात क्या है ?"

"मैं राजकीय व्यक्ति नहीं हूं और शायद इसमें सबको सुभीता होगा."

"देखो भाई, शायद मेरे पास अपनी जैसी या स्वतन्त्रता जैसी कुछ चीज नहीं है. हां, तो उसके लिए इतनी-सी जगह मुझे दी गई है. इसीको अपना घर मान सकता हूं. नहीं तो दुनियामें मुझे कोई घर नहीं है...राजकीय होते तो ठीक था, मुझे अपने घरमें तब तुम्हें लानेकी जरूरत न थी. पर अब तो वह उपाय नहीं है. मालूम है तुम्हें कि जितने दिन बाहर राज-व्यवस्थामें तुम ठहरे उसका खर्च मेरे भत्तेमेंसे कटेगा. मैं वैतनिक आदमी हूं और यहां आगए हो तो उतना तुम्हारा खर्च नहीं आएगा. हां, होटलमें और सुभीता है, तब उस खर्चसे भी बचूंगा... तो वही चाहते हो ?"

उनके चेहरेपर व्यथा थी. एक तरहसे यह अजब और अच्छा लगा

कि बड़ी-से-बड़ी बातोंके बीच वह छोटीके लिए भी खाली है, और मन छू आया, बोला, "देवी इला तो हैं नहीं, फिर...."

"मुझे भी अनाथ कर गई हैं...तो छोड़ो और साथ शिवधाम चलोगे ... एक और निवेदन है...छुट्टी लेकर इन्द्रमोहनको एक रोजके लिए शिवधाम ले आना होगा."

"इन्द्रमोहन !"

"हां, असंभव वह नहीं है...मेरा स्वयं जाना हो न पाएगा, यद्यपि ठीक वही था....विचित्र है कि माफी जिससे मांगनी है उसीको पकड़कर बुलाना पड़ रहा है. पर इन्द्र समझ जाएगा."

"क्या आपका उनसे सम्पर्क हुआ है ? वही हैं वह ?"

"हां, लेकिन रूठा है."

"उनका कोई पत्र मिला है ?"

प्रश्नका सीधा उत्तर नहीं आया. बोले, "—पवित्र है वही यहां रह जाता है,. पर रहता स्मृतिमें है. काल एक प्रवाह है और उसमें कुछ नहीं टिकता, पर स्मृतिपर तो उसका वश है नहीं. इससे स्मृति ही पवित्र है. मित्र शत्रु बन सकते हैं, पर उससे मित्रता क्या मिट जाती है ? सच, कभी मालूम होता है कि क्षण, फिर कितना भी वह व्यतीत हो जाए, कालकी सारी अनन्तताको चुनौती देता हुआ जीवित रह सकता है...इन्द्र लिखता है कि मुझे समाप्त हो जाना चाहिए...उसमें क्षमता है कि आवश्यक दीख आए तो वह मुझे अपने हाथसे समाप्त कर दें. पर उस इन्द्रको मैं भूल नहीं सकता हूं जिसकी वजहसे मैं आज हूं. और सच वही इन्द्र है, वही सच रहेगा, जिसने मुझे सिरजा है और रचा है, वह नहीं जो समाप्त करेगा. विलवर, मैं पूछता हूं क्या वे दोनों एक हैं? या एक नहीं हैं ?"

मैंने जयको देखा. वह दुखी और निरीह जान पड़े. जैसे याद ही न हो कि सारे राजतन्त्रकी शक्ति उनके साथ है.

कहा, "दो मानकर तो चला नहीं जा सकता. लेकिन यह कहिए

कि वह आएंगे ?"

"क्यों नहीं आएगा ? मैं तो उसे जानता और मानता नहीं जो मारनेकी सोचता है. जिसने मुझे जिलाया है उसी इन्द्रको मैं जानता हूं. वह नष्ट कभी हो नहीं सकता. बाकी जो कुछ है वह झूठ है. तब कैसे हो सकता है कि वह मेरी आवश्यकताको न पहचाने और न आए ?"

"वह मुझपर भी अविश्वास रखते हैं और उलटा समझ सकते हैं."

"नहीं, उलटा किसी तरह नहीं समझेगा...साफ आदमी है, सफाई को पहचान सकेगा इसीसे तो साफ मेरे मुंहपर लिख दिया कि जय, तुम्हें मर जाना चाहिए...ऐसे आदमीको डर और संशय कैसे हो सकता है. मैं उसको जानता हूं. मेरे प्रति प्रीति ही उसको रोके रही है, नहीं तो एक बार न्यायके निर्णय तक पहुंच जानेपर उसे कोई चीज रोक नहीं सकती, वह इतना तत्पर है. उसे कहूंगा कि तू एक बार आ, और मेरी सुन तो ले. तू मुझे समाप्त करनेसे एक बार झिझक भी जाए, पर सह-मत होनेपर मैं स्वयं ही तुझे झिझकने कब दूंगा. इसलिए आ और मुझे बता.. बिलबर, उसे खोकर मैं आधा भी नहीं रह गया हूं, सच कहता हूं, और तुम उसे फिर मेरे पास ला सकते हो."

मुझे यह भावावेश मालूम हुआ. न इन्द्र किसी तरह इसके योग्य जान पड़ा. कहा, "शिवधामके बाद आप चाहे उनसे मिलनेकी कोशिश करें, लेकिन उस समय चर्चा नाजुक होगी. और इन्द्रका विचार कुछ उसमें व्यतिक्रम तो न लाएगा ?"

"नहीं, व्यतिक्रम न आएगा. और आए तो भी इन्द्रका लाभ मेरे निकट सबसे बड़ा लाभ है. बाकी सब पीछे हैं."

इन्द्र राजनीतिके नक्शेपर शून्य ही है, यह मैं अच्छी तरह जानता था. अहम्मन्य सिद्धांतवादीको इतना महत्त्व देना मुझे समझ न आया. उसको व्यर्थ करना तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए. यदि वह बाधा है तो क्या तनिकमें उसे निर्मूल नहीं किया जा सकता है ? यही बात इंगित से मैंने उन्हें समझानी चाही. उत्तरमें उन्होंने मुझे कुछ नहीं कहा, अचरज

से केवल देखते रह गए. जैसे मेरी बातकी उन्हें किसी ओरसे संगति ही समझ न आ सकी. अन्तमें बोले"—तुम्हें डर तो नहीं लगता ?"

मुझे अपने ऊपर यह आरोप ही जान पड़ा. कहा"—डर ?"

"हां, डर ही तो. नहीं तो यह निर्मूल करनेकी भाषा भला कहांसे तुम्हारे पास आ गई ?"...इन्द्रमें मैंने भय संभव नहीं माना था, पर पत्रमें यह समाप्तिकी भाषा देखकर मालूम हुआ कि उसमें भी भय हो आया है...यही तो बताना चाहता हूं उसे कि जय बदला नहीं है, वैसा ही है, एकाकी और निरीह, और उसके पास कहीं किसीके लिए भय का कारण नहीं है...तुम कहते हो एक व्यक्ति, मैं कहता हूं हरएक व्यक्तिमें परमेश्वर है. इससे व्यक्ति ब्रह्माण्डसे भी पहले है. मैं तो राजनीतिक नहीं हूं और गिनतीमें इकाईको नहीं खो सकता हूं. राष्ट्र धारणा हो सकता है, व्यक्ति प्रत्यक्ष है. सच यह कि राष्ट्रको तो मैं जानता तक नहीं हूं, जाननेको मुझे व्यक्ति ही रहता है, और उसको छोड़ दूं तो चलनेके लिए मेरे विचारको कोई राह ही नहीं मिलती...जाओगे न ?"

क्या मैं यह एक व्यावहारिक राजनेतासे बातकर रहा था ? जैसे बात वास्तविकसे वस्तु-निरपेक्ष अधिक हो. अजब मालूम हुआ, कहा, "कहेंगे तो जाऊंगा, पर आशावान् मैं अधिक नहीं हूं."

बोले, "सब ठीक हो रहा तो बृहस्पतिवारको यहांसे हम लोग निकलेंगे. खबर अबतक अच्छी ही हैं, नाथ लोग अधिकांश सम्मिलित होंगे—रेलसे जाना होगा—ठीक ?"

कहते हुए उठे. मैंने कहा, "रेलसे ?"

"हां, समय बचानेसे लाभ ? कभी उसे गंवाना ही अच्छा है."

मैं भी अपनी जगहसे उठ आया था. कहा, "समय वह कहां गंवाया जाएगा ? फालतू तो वह आपके पास बहुत नहीं मालूम होता है."

"क्यों, तुम फालतू हो कि तुम पर न खोया जा सके—भाई, हवा में कोई नहीं रहता, धरतीपर चलनेसे हजारों-लाखोंसे मिलते हुए जाया जा सकता है."

अव समझा. समझ गया कि लोकनेताके लिए भीड़से विना किसी माध्यमके सीधा सम्पर्क रखना कितना शक्तिप्रद और आवश्यक है.

कहा, "पूरे दो दिन लग जाएंगे!"

"हां, पूरे नहीं तो कुछ अधूरे सही." वह बोले. "क्या लिख रहे थे? अपना संवाद ?"

"आप पढ़ते हैं ?"

"कभी-कभी कतरनमें पढ़ता हूं. लेकिन तुम आलोचक कम क्यों हो ?"

"कम हूं ? अभी तक तो किसीने यह नहीं वताया."

"तो मैं वताता हूं." हंसकर वोले, "और आशा है, इससे तुम सीखोगे. मैं तो आलोचकसे ही लाभ पा सकता हूं, प्रशंसकसे भय होता है."

फिर चलते-चलते रुके, कहा, "इला मुझे तो नहीं सौंप गई हैं, क्योंकि मुझपर उन्हें भरोसा नहीं है. विश्वसनीय उन्हें जो अपने लोग हैं, उनके हाथों आप हर तरह सुविधापूर्वक हैं न ?"

मैंने आभार माना और वह चले गए.

सोचता था, मिलना होगा तो करनेको वहुत-सी वातें हैं. पर समय पर वह कुछ न सूझा, और मैं उनको जाते हुए देखता रह गया. कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ.जैसे जहां हूं. वहांकी परिस्थितिके आधीन हूं,स्वाधीन नहीं हूं. यह वोध कुछ देरके लिए मुझे चुभा और वचनेको मैं अपने अधूरे छूटे संवादको पूरा करनेमें लग गया. जयके वारेमें ही लिख रहा था. विश्वकी व्यवस्था के विचारमें वाहरवाले भारतकी नीतिको कहीं ठीक तरह विठा नहीं पाते हैं. भारतका प्रभाव है और वहुत है, लेकिन वह किसी स्थिर विदेश नीतिके कारण है, ऐसी धारणा नहीं है. वल्कि उसके मूलमें केवल कुशल कूटनीति मानी जाती है. मैं अपने संवादोंमें वताता आ रहा हूं कि निपुण अवसर-वादिताके आधारपर भारतीय नीतिको अथवा जयके व्यक्तित्वको खोल पाना संभव नहीं होगा. लेकिन इस प्रकार

अकस्मात् मेरे कमरेमें आकर उसी तरह अकस्मात् चले जानेवाले जयको ध्यानमें लेकर जैसे कुछ देर मैं स्वयं संभ्रममें पड़ा रह गया.कहता आया हूं कि जय सीधे सरल विश्वासोंके आदमी हैं, वहां चातुर्यका प्रश्न नहीं है. स्वार्थ उनके पास कम है, यहांतक कि राष्ट्रीय स्वार्थकी ओरसे भी समस्याको वह नहीं लेते हैं. सबको अपनी-अपनी स्थितिकी ओरसे देखने का प्रयास करते हैं, और यद्यपि श्रद्धा दृढ़ है पर कभी किसी अन्यके सम्बन्धमें उनमें आग्रह नहीं है. पर इस समय लगा कि सरलता ही उस व्यक्तित्वकी कुन्जी नहीं है. सरलका लाभ उठा लिया जाता है, जयमेंसे अपना लाभ खींच लेना किसीके लिए उतना आसान नहीं दीखता, यद्यपि वह उद्यत और तत्पर सबके प्रति प्रतीत होते हैं.

मैंने अपने संवादोंमें कहा कि संशयसे जयको लेना सही नहीं है. उनकी शक्ति किसी स्थिति चक्रके चमत्कारपर आश्रित नहीं है, वह ठोस और साधार है और दुनियाके हितमें यही होगा कि जयवर्द्धनको ज्योंका त्यों ही पाने और अपनानेका प्रयत्न करे. किंतु सच यह है कि मैं स्वयं उनको एक सीधी रेखाके रूपमें प्रस्तुत नहीं कर सकता और इसलिए अंतराष्ट्रीय सोच-विचारमें जयको लेकर एक प्रश्नचिन्ह होता हो तो इसपर मुझे अचरज नहीं है. उनके 'सत्य' को पकड़ना मुश्किल होता है और उनकी अहिंसा भी सीधी जीवदया और प्राण-रक्षाकी भाषामें समझमें नहीं आ पाती. कभी तो उनकी दृष्टि वास्तवसे ही इतनी निःस्संग और निरपेक्ष जान पड़ती है...

...शामके अखबारसे मालूम हुआ कि स्वामीकी ओरसे कोई प्रति-निधि जयसे मिलने आज पहुंचे हैं. कुछ मुद्दोंके स्पष्टीकरणके बाद ही स्वामी निश्चय कर सकेंगे कि शिवधामकी बैठकमें सम्मिलित होना उनके लिए शक्य होगा या नहीं. वे मुद्दे क्या हैं इसका समाचारमें उल्लेख नहीं है, अनुमान है कि वह आगामी मिली-जुली सरकारमें उन प्रतिनिधियोंकी संख्या, अधिकार और दायित्वके बारेमें निश्चित होना चाहते हैं, जिनका नामांकन उनकी ओरसे होना संभव है. कुछ और मूलभूत बातें भी कदा-

चित हैं जिनपर पहले आश्वस्त होना स्वामी अपने लिए आवश्यक मानते हैं. खबरसे मालूम हुआ कि जयसे उनकी मुलाकात आज शाम ही होगी. संभव हो सकता है कि दूसरी मुलाकात भी हो जो स्वामीसे आदेश प्राप्त होनेके बाद कल तीसरे पहरसे पहले होना शक्य नहीं है.

स्वामीका इतना महत्व मुझे प्रिय नहीं हुआ. क्या जयके आमन्त्रण पर यह सब हुआ है?...नहीं, मेरा अपनेको रोकना जयकी मैत्रीके प्रति अन्याय होगा. मंत्रीसे बात हुई और समय मिला वही रातके ग्यारह बजे!...

रात एक बजे

...अभी आ रहा हूं. छतपर सदाकी तरह जय अकेले थे. मैंने भर-सक बलसे कहा, पर जोर उनतक पहुंचा नहीं मालूम हुआ. बोले, "राज-नीति इच्छासे नहीं,अधिक विवशतासे चलती है. वहां अपने मनके मालिक भी हम अपनी ही हदतक रहते हैं. तुम्हारी बात ठीक हो तो भी उपाय नहीं है स्वामी जबतक खुद ही न हों मैं शिवधामकी बातचीतसे उन्हें अलग नहीं कर सकता.—"

"क्यों ?"

"क्योंकि वह प्रतिकूल परिस्थितिके अंग हैं. प्रतिकलताको ओझल करना मेरा काम नहीं है, उसे सामने लेना होगा."

"लेकिन सहायक होना उन्हें इष्ट जो नहीं है. इससे लाभकी जगह उनसे अलाभ ही होगा."

"वह हो, मुझे फलमें राग नहीं है. जरूरी है कि मैं उनका लूं, और अपना मन उन्हें दूं. बात न बने तो न बने, परिस्थिति तो स्वच्छ और स्पष्ट हो. मुझमें असहमत होनेकी हिम्मत है, उसके बाद असहयोगकी हिम्मत है. आगे तक बात जाए तो शांतिमय युद्धके लिए भी मैं उद्यत हूं इससे ऐसी बातचीतकी दिशामें कदम बढ़ानेमें मेरे लिए कभी संकोचका कारण नहीं रहता. कदम पीछे लेनेका प्रश्न भी मेरे लिए नहीं आता. अमुक निर्णय हो यह आसक्ति मुझे हो तभी कुछ बाधा है, नहीं है तो

बाधा भी नहीं है."

ये शब्द क्या व्यावहारिक राजनीतिज्ञके थे? या सिद्धांत-शील किसी अन्य-थार्थवादीके ?

मैंने कहा, "फल न आए तो केवल उतनेसे हानि सचमुच नहीं है. लेकिन बात वहीं तक नहीं रहती, स्थिति जहां थी उससे पीछे हटती है. इससे मार्ग सामने हो तभी आगे बढ़ना ठीक है. नहीं तो प्रतिक्रिया तीव्र होती है और चारों ओर उससे तिक्तता नहीं तो मंदता आती ही है."

उन्होंने मुझे देखा, कहा, "तुम्हें समझता हूं मैं, विलवर,लेकिन जिस में अकृतकार्य होकर यह सब प्रक्रिया होती है, वह हिंसाका और मोहका वेग तो मेरे पास है नहीं. इसलिए प्रतिक्रियाकी संभावना भी नहीं है."

पूछा, "स्वामीको आपने आमन्त्रण दिया था?"

"हां."

"वह शामिल होगें?"

"अभी कह नहीं सकता."

"उनके प्रतिनिधिसे कुछ निर्णय नहीं हुआ?"

"नहीं...वह आश्वासन चाहते हैं. मुझसे कुछ शर्त मनवाना चाहते हैं. लेकिन मैं तो खाली हाथ और खाली मन लेकर वहां पहुंचनेवाला हूं. न आश्वासन मांगता हूं, न दे सकता हूं. सो ही मैंने कह दिया है. देखो स्वामी उसपर क्या कहते हैं."

"अगर वह शामिल न हों—?"

"वह स्वतन्त्र हैं."

"तब शिवधामकी चर्चा होगी ?"

"होगी तो...पर आश्वासन किसे कौन दे?"

"आपका क्या अनुमान है ?"

"मेरा अनुमान है, स्वामी आएंगे.

"तो फिर...?"

जय हंसे, बोले, "फिर क्या, कुछ नहीं."

तो प्रतिनिधिका आना, मुद्दे और शर्तें रखना, यह सब क्या है ?"

बोले, "क्या है ?—शायद ढंग है, अपनी-अपनी बाजी खेलनेका तरीका है...लेकिन मैं तो हाथमें बन्द पत्ते रखता नहीं. इससे मौका है कि चाहे तो सबके आगे मेरी भी बाजी वही खेलें...लेकिन विलबर, इस समय तुम यह सब बात मेरे साथ क्यों ले बैठे हो ? हमलोग मनमें बड़ी चतुराइयां रचते हैं. पर अन्तमें तो विधाताके नियम हमें चलाते हैं. वे अमोघ हैं...यह देखो,कितने असंख्य तारा नक्षत्र हैं. कुछ कहीं पार है? यह सब अपार ब्रह्मांड अनादिकालसे चल रहा है. काल कभी रुकेगा नहीं. तो क्या यह सब सूत्रहीन है...पर गिनतीके बरस हमें जीना होता है और उसीमें बड़ी-बड़ी होशियारी खेलकर हम एक दूसरेको परास्त किया चाहते हैं...सच कभी मनुष्यपर बड़ी अश्रद्धा होती है. यह सब वह क्यों करता है ? सत्यका सूत्र क्या सीधा सामने नहीं है ? फिर वह क्यों चतुरताका भ्रमजाल रचता है . तुम्हारी राजनीतिसे मैं अघा चला हूं जैसे मनके सचको रखना और अवसरको रखना ही वहां कला हो. क्या सचमुच उससे सहारा होता है? वे लोग जो कौशलपर बल बांधते हैं, टिक पाते हैं?... लगता है, इस बहते कालमें कोई या कुछ कैसे टिकेगा. जबतक उसे सहारा अ-कालका ही न हो. काल तोड़ता फोड़ता चल रहा है, हमें वह न रहने देगा, जीवनको क्रमक्रसे जीर्ण करके मृत्युमें समा देगा. उस कालके चंगुल में होकर हम क्या इसी उपस्थितके भोग और तत्कालकी पूंजामें बीतते चले जाएं ? न स्मरण करें उसका जो दिग्कालका प्रभु है, और अलख अकामी है...क्या तुम यह लौकिक बातोंके झमेले मेरे पास लाते हो. दिन इनके लिए बहुत हैं. रात तो, विलबर, हम अपनी आत्माको और सबके परमात्माको दे सकते हैं..."

जयको मैं देखता ही रहा. कब कैसे वह अपने आसपासके ऐहिकसे सहसा उत्तीर्ण हो रहेंगे, कहा नहीं जा सकता. कभी तो लगता है कि सर्वथा उत्तीर्ण और भावलीन यह जय मुझ संवाददाताके कामके नहीं हैं. मुझे यह अनावश्यक हैं, कर्म–मय जय ही मेरी प्रीति और अध्ययनके

विषय हो सकते हैं. अन्यथा यह दूसरे जय तो जैसे मेरे प्रति सर्वथा तटस्थ और दूरस्थ हो आते हैं और वहां किसी प्रकारके संबंधकी भूमिका ही नहीं रहती. फिर भी पाता हूं कि आकर्षण इन रहस्यशील दुरधिगम्य जयके प्रति ही दुर्निवार्य हो उठता है, यद्यपि किसी भी ओरसे उन्हें छूने और पानेका अवसर तब नहीं रह जाता. जैसे बुद्धि उस रूपपरसे फिसल जाती है, और दृष्टिके केन्द्रमें आनेसे वह अ-रूप बन सहज ही बच जाता है.

आवश्यक हुआ कि उन्हें तनिक धरतीपर लाकर मैं अपना स्वास्थ्य प्राप्त करूं. कहा,"इलाके बारेमें तो फिर उनकी ओरसे संकेत नहीं प्राप्त हुआ ?"

जयने प्रश्नपर मुझे देखा. क्षणके सूक्ष्म भागतक ठिठके, फिर मेरी ओर मुस्कराकर बोले, "नहीं."

"प्रायश्चित्तकी बात ?"

"—कुछ भी नहीं."

"शिवधामके प्रस्तावको लेकर भी क्या कुछ वैसी बात नहीं उठाई गई ?"

उसी मुस्कराहटसे कहा, "नहीं."

संतोष नहीं हुआ कि मैं उन्हें उस धरतीपर ला पाया कि जहां मैं टिक सकता था. हठात् कहा, "इला देवीकी खबर कुछ मिली ?"

"हां, पिताकी सेवामें पहुंचकर वह प्रसन्न हैं—"

लगा, जैसे कहते-कहते वह एकाएक रुके, मैं कुछ देर अपेक्षामें रहा, जैसे कुछ आएगा. लेकिन नहीं, कुछ भी और नहीं आया. मैं नहीं निर्णय कर सका कि कैसे वह प्राप्त करूं जो रोक लिया गया है. कहा,"आचार्य श्री तो सानंद हैं?"

"हां."

भीतर मैं ही भीतर असमंजस अनुभवकर रहा था. जैसे मैं अलग हूं अनावश्यक हूं और उनके समयपर केवल आरोप बन रहा हूं. चाहा कि

विदा मांगकर छुट्टी लूं. लेकिन स्पष्ट था कि कुछ है, जो आते-आते रह गया है. वह क्या है ? इस जिज्ञासामें असमंजसका वोध सहता हुआ भी मैं वहां अटका रह गया. कहनेके लिए कहा, "आपने आजका वाशिंगटन पोस्ट देखा ?"

"क्यों ?"

"उसके संपादकीयमें आपको याद किया गया है, और अतिशय प्रेम के साथ नहीं."

धीमेसे कहा, "हुं—"

जबर्दस्ती ही मैंने पूछा, "इन्द्रका पत्र आपको मिला है,—क्या मेरे योग्य है ?"

"न, विशेष योग्य नहीं है."

"इतना तीक्ष्ण है ?"

"बेहद घनिष्ट है."

सच ही मैं हार रहा था. नक्षत्रोंके लोकसे एकाएक उतारे जाकर स्पष्ट था कि अब वह यहां मेरे साथ बहुत परिचित अनुभव नहीं कर रहे हैं. वात उखड़ी-उखड़ी है. कहना हुआ, "अच्छा मैं चलूंगा."

बोले, "अच्छा...स्वामीको लेकर ही तुमने मिलना चाहा था?"

"मैं उस वातको इतना महत्त्वहीन नहीं मानता."

बोले, "महत्वसे हीन न हो, पर क्या महत्वशाली है ?...छोड़ो, अब मैं तुम्हें रोकूंगा नहीं."

चलनेको उद्यत होकर मैंने कहा, "क्षमा कीजिए. पर कुछ बात जैसे आते-आते आपके मुंहमें रह गई—क्या था ?"

"मालूम नहीं, पर हो सकता है...शब्द कितना कह पाते हैं !"

देखा कि इस जगह वह मेरी सहायता न करेंगे. अजब लगा, जैसे हर आदमी स्वयं है और एक द्वीप. बीचमें जो सबके शून्यताका एक व्यवधान है वह कभी सागर-सा अपार और दुर्लंघ्य हो पड़ता है...

एक विलक्षण उदासीमें वहांसे कदम बढ़ाकर मैं चला. उस समय

एक क्षण तो जय अपनी जगह खोएसे ही रह गए. लेकिन कुछ कदम ही रख पाया हूंगा, निश्चय अभी जीनेपर पैर नहीं पहुंचा था, कि पीछेसे कन्धेपर थपकी पड़ी, रुककर मुड़ा, जयने कहा, "विलबर, माफ करना. चित्त आज स्वस्थ नहीं है."

मैंने जयको देखा, चेहरा रिक्त था और मंद.

मैं कुछ पूछ नहीं सका. वह भी पलभर सुन्न-से रहे, अनन्तर हाथ बढ़ाया और फिर एक बार तनिक अधिक दबावसे मेरी हथेलीको दबाकर छोड़ दिया, कहा, "रात तुम्हें शुभ हो. प्रिय बंधु, सबको शुभ हो."

मैं फिर ठहरा नहीं, जीना उतरता चला आया. पर वाणी उनकी भीगी थी और साथ थी और होनेके लिए मेरे पास कोई अनुमान न था!

...रात शुभ हो, सबके लिए शुभ हो !

६ अप्रेल—

...सवेरेके पत्रसे मालूम हुआ कि नाथ दम्पति व्यस्त हैं. लोगोंका आना-जाना वहां शुरू है और एक अत्यन्त आवश्यक बैठक अनिवार्य परामर्शके लिए बुलाई गई है. अनुमान किया जाता है कि उनकी ओरसे भी कुछ प्रश्नोंपर पहले सफाई चाही जाएगी, तब वे शिवधामकी बातचीतमें शामिल होनेके बारेमें निर्णय कर सकेंगे. संवाददाताने यह भी लिखा है कि श्री और श्रीमतीनाथमें अंतर पड़नेका समाचार जो पहले प्रसारित हुआ था निराधार है और निमन्त्रण दोनोंकी ओरसे सम्मिलित भावसे दिए जा रहे हैं.

क्या जयके चेहरेपर दीखनेवाली उदासी इस या इसी प्रकारके दूसरे कारणोंसे थी ?

देशके लोकमतमें विशेष कोई उल्लास नहीं है. प्रेसका अधिकांश जो जयका समर्थक है, सर्वथा मौन है. केवल जयकी उदारता और निस्पृहताकी उसने प्रशंसा की है, आगे सर्वदलीय प्रस्तावकी संभावनाओंको उसने विशेष उत्साहसे नहीं लिया है. सरकारके विरोधी या तटस्थ पत्र

भी विशेष उत्साह नहीं जतला रहे हैं. एकने लिखा है कि इसके पीछे नीयत साफ नहीं है. सत्ताको उनके साथ बांटने की नहीं केवल दूसरे दलों से लाभ उठा लेनेकी इच्छा है. लोकतांत्रिक वृत्तिका लक्षण इस योजनाके पीछे कहीं दिखाई नहीं देता. कारण, मुद्दे साफ नहीं है और सारी चीज पर एक भावनाका आलेप है...

फिर ?

किंतु अधिकार और राज्यकी बातें तो जयमें व्यग्रता ला नहीं सकतीं! दिनभर भेंट नहीं हुई. आज जयके कई व्यस्त कार्यक्रम रहे. टेली-विजनपर देखा तो प्रकृतिस्थ थे और प्रसन्न. लेकिन मुझ जैसेको अप्रगट नहीं रहा कि नीचे गहरी चिंताका कण है और जो दीख रहा है भीतर तक वही नहीं है. पर अनुमान न पा सका कि क्या है ?

रातको कोई ग्यारह बजे समाचार मिला कि एक दिन पहले निकल-ना होगा, मैं तैयार हूं ? मेरे लिए दिनका प्रश्न न था. पर कार्यक्रमके इस फेरफारका मुझे कारण नहीं मिला.

क्या हो रहा है ? स्पष्ट था, ऊपर बहुत कुछ हो रहा है. किन्तु उनके सूत्र अलक्षमें हैं और मैं जितना ही उन्हें देखना और जानना चाहता हूं, मानो उतने हो वह मेरे प्ररि निरपेक्ष हैं—जान पड़ा कि जानना चाहना ही रोग है. जो हमारे लिए है वह सहज अनुभूतिको प्राप्त होता रहता है. अपनी शक्यता और पात्रतासे अधिक हममें समा नहीं सकता. इसलिए यह विधान इष्ट ही है कि सत्यका वह सब भाग हमसे ओझल रहे जो हमारे वितसे बाहर है. सह सकेंगे उतना ही पाएंगे आगे के लिए यदि हममें लोभ है तो उसका क्लेश हमें स्वयं ही भुगतना है. सत्य सहायता करने नहीं आयगा. इससे चाह जाननेकी नहीं मिलकर खो जानेकी हो तभी उपलब्धीका मार्ग खुलता है. इसलिए शायद प्रयत्नमेंसे नहीं, पीड़ामेंसे जाना जाता है.

बस, मैं प्रतीक्षा करूंगा. रात जाएगी, दिन आएगा. देखूं, दिन क्या लाता है.

७ अप्रैल—

—यह क्या ? नाथ दम्पत्ति अपने तीन और साथियोंके साथ यहां पहुंचनेवाले हैं ! रात ही तार पहुंचा, सम्भावना है कलतक ये सब लोग यहां हों. सम्भव समझा जाता है कि वार्ता सफल रही तो सब साथ शिवधाम जावें.

चमत्कृत रह जाना पड़ा. जयके प्रति सहानुभूति हुई. शायद शिवधामकी बातचीतका नतीजा अब विशेष न निकले. जय कैसे राजनीतिमें सफल होते रहे हैं ? सबको गर्ज है, अपनी-अपनी महत्वाकांक्षा है. इस छीन-झपटमें यह आदमी कैसे कुछ अपने पास रोक पाता होगा ?

एलिजाबेथका ध्यान आया. वह क्या चाहती है ? अभी तो नाथसे नाता टूटनेकी बात थी. अब शायद मिलकर अपने दलके पक्षमें जयसे सौदाबाजी किया चाहती है !

मैं बहुत व्यग्र हुआ और आग्रहपूर्वक जयके पास पहुंचा. इस बार वह मेजपर मिले, और जैसे सिर्फ कामके हैं, किसी चर्चाके नहीं. मैंने पूछा, "क्या आपने नाथदलको निमन्त्रित किया है ?"

उनके चेहरेपर प्रसन्नता न थी. कहा, "जी, वे आ रहे हैं."

मैंने कहा, "इसमेंसे कुछ परिणाम निकलेगा ? और जब शिवधाम में मिलना ही है तो सब बातें आचार्यकी उपस्थितिमें ही क्यों न हों, जो आपको इष्ट है—"

जय दृष्टिमें प्रश्न लिए मुझे देखते रहे, एक भी शब्द नहीं कहा.

मैं कुछ असमंजसमें हो आया. हठात् बोला, "इतना कहकर आप अपनी छुट्टी कर सकते थे."

"जी—"

मैं कटकर रह गया, अपमान-सा मालूम हुआ. कहा, "निश्चय आप लिजा जैसी स्त्रीकी बातें माननेवाले नहीं हैं."

कहते ही मालूम हुआ कि मैं गलत कह गया. इससे तत्काल जोड़ा,

"—उसके सामने अपना लक्ष्य है. वह भारतीय नहीं है. भारतकी चेतना कहीं उसमें नहीं है. महत्वाकांक्षा सबमें होती है, तिसपर वह स्त्री है—"

मैं जयकी ओर देख रहा था. जैसे विस्मयमें वह मुझे सुन रहे हों, और स्वयं कुछ कहनेकी उन्हें आवश्यकता न हो. मैं कह रहा था और अनुभवकर रहा था कि मैं अकृतकार्य हो रहा हूं.

तो भी बोला, "जानता हूं, यह सब आप जानते हैं. लेकिन जानकर क्यों आप सहते हैं, बल्कि बढ़ावा देते हैं? प्रगतिदल सदा आपका विरोधी ही नहीं रहा, बल्कि उसके उग्रवर्गने आपको समाप्ततक कर देना चाहा है. फिर यह क्या है ?"

"क्या, शिवयामकी बातचीत ?"

"नहीं, वह तो समझमें आती है, वह सर्वदलीय है. लेकिन उससे पहले यह मुलाकात ?"

"एलिजाबेथसे स्वप्नमें भी मेरा अनिष्ट न होगा. नाथ अपमान अनुभव करके यहांसे गए थे. यह कितनी बड़ी जीत है लिजाकी मेरे पक्ष में कि वह यहां आ रहे हैं ! उस स्त्रीमें क्षमता है और अनिष्टकी कोई आशंका नहीं है."

"क्या कहते हैं आप ?"

"ठीक कहता हूं, प्रेम अनिष्ट नहीं होता. क्या उस बिचारीको तुम भी नहीं समझोगे ? छोड़ो, बात कहो."

मैं क्या सुन रहा था ? लिजाको मैं गलत समझ रहा था ? उसके प्रेमसे मैं अनभिज्ञ था ? समझता था, इसीलिए मैंने कहा, "आप बढ़ावा न दें, यही मैं चाहता हूं चाहे तो शिवयामकी चर्चाको स्थगित ही क्यों न करना पड़े."

"साफ कहो क्यों चाहते हो ?"

सच ही मैं निरुत्तर हुआ. सब कुछ जो कह निकला था केवल इसी कारण न कि जयके प्रति सर्वथा खुला और निकट अनुभव करता था. अन्यथा मेरे लिए यह चर्चा अनधिकृत ही थी. भारतकी राजनीतिसे मेरा

क्या लगाव था. फिर जो इतना में संलग्न हो आया सो क्यों ? इससे उत्तरमें बोला, "यह अनुचित है ?"

बोले, "हां."

मैंने व्यस्त होकर कहा, "लेकिन मैं आपके प्रति तटस्थ नहीं हो सकता."

उसी अविचलित भावसे बोले, "होना चाहिए." और आंख उठाकर सामने घड़ीकी ओर देखा. घड़ी मेरी पीठपर थी, पर मेरी भी निगाह सामने उठी और पहचाना कि समय मेरा बीत गया है. मैंने अपनी जगहसे उठना चाहा, कहा, "मुझे खेद है—"

अब वह किंचित मुस्कराए. जैसे हिमालय गला. बोले, "लिजाको तुम्हारा आशीर्वाद मिलना चाहिए. नहीं, विरुद्ध न बनो. जानो कि वह विचारी है, नई है. दुनिया आगे इन लोगोंकी है. हम तुम क्या बीत नहीं रहे ? करनेके दिन इनके हैं. बुद्धिमानी यह नहीं है कि इन्हें मन्द किया जाए, सदा सबको बढ़ाना ही बुद्धिमानी है. रुककर ही आदमी कड़वा बनता है, बढ़ता जाए तो खटास भी आगे मिठास होती है...और तुमको निश्चित चाहता हूं, भारतकी चिन्ता ओढ़ो मत—"

"—भारतकी नहीं है—"

"—मेरी है ? तो भी वह ओढ़ना है !"

"ठीक, तो मैं चलूं—आप क्या कीजिएगा ?"

हंसकर बोले, "क्या करूं ?—मैं नहीं जानता' होनेसे पहले जानना मुझे मिलता नहीं...निश्चय उन सबको सादर सुनूंगा. देनेको मेरे पास कुछ है नहीं. वचन नहीं, आश्वासन नहीं. सद्‌भावसे आगे कुछ नहीं. बांट-बंटवारा करना हो तो मेरे साथ वह कैसे हो सकता है ? आपसमें सब दल करें सो कर लें. यानी ऐसी बातोंके लिए जगह शिवधाम है. किसीको कोई आश्वासन उससे पहले देनेवाला मैं कौन ? मेरे मनमें ही कोई अभी सूत्र नहीं है—देखता हूं लोग मानते हैं, यहां और बाहर, कि कुछ मेरे पास तैयार रखा है. मेरा वह ढंग नहीं है. आता है उसीको

लेता हूं, और स्वतन्त्र भावसे जिस क्षण आता उसी क्षण समक्ष भी कर देता हूं. इससे मैं निर्भर नहीं हूं,या कहो सर्वथा निर्भर हूं,स्वतन्त्र नहीं हूं."

बीचमें बात काटकर मैंने जैसे असंगत भावसे कहा, "आप कुछ खिन्न तो नहीं हैं ?"

"हो सकता हूं...पर तुम्हारे लिए नहीं."

देखा कि वह अपनी जगहसे उठ खड़े हुए और मेरे लिए आगे टिकना असंभव हो आया. उठा और विदा ले सीधा चलता चला आया.

यह तीसरेपहरकी बात थी. आकर सोचता रहा कि यह क्या हुआ? स्पष्ट कुछ समझ न आया कि मनमें क्या लेकर इतने आग्रहपूर्वक मिलने गया था और लाया तो क्या परिणाम साथ लाया ? ऐसा लगा कि मैंने अपनेको मूर्ख ही बनाया. सचमुच निश्चित कुछ बात न हुई. और लिजा को लेकर जयके संबंधमें जो एक व्यग्रताका भाव उठा था उसका कुछ समाधान न हुआ. क्या भाव उठा था, यह भी समझकर नहीं कह सकता हूं. कुल मिलाकर शायद यही चाहा था कि एलिजाबेथ विशेष अपने संपर्कमें जयको न उतार पाए. सचमुच मेरे पक्षमें क्या वह वृथा भाव ही न था. लेकिन उस स्त्रीको जो मैंने पाया था उसके बाद अपनी व्यग्रताको मैं रोक न पाता था. जयके पाससे लौटकर स्पष्ट अनुभव किया कि सच्चिताके नामपर हम जो बहुत कुछ अपने ऊपर उठा लिया करते हैं वह बोझ ही है. सहायक वह बोझ किसीके लिए नहीं होता. जान पड़ा कि मैं जयके पाससे एकदम पराभूत और खंडित होकर जो लौटा हूं सो यह अत्यन्त उचित ही हुआ है. यह भी देख सका कि ऐलिजाबेथके प्रति जयके भावोंमे परम उदारता है. लेकिन मनमें फिर भी खटका शेष रहा कि क्या यह उदारता उचित और योग्य है?क्या परिणाम इसमेंसे सर्वथा शुभ ही आएगा ? या इसका अन्यथा भी उपयोग हो सकता है ?...

सात तारीख आज होगई. कल चलना है...बाहर बड़े-बड़े अनुमान हैं.लेकिन यहां केन्द्रके इतने पास बैठकर मैं चकित हूं. बड़ा कुछ कैसे हो जाता है? हृदयमें अणु बराबर व्यतिक्रम हो तो सारा शरीर एकसाथ रुक

जा सकता है. क्या जगतके कार्यकलापका कुछ वैसा ही विधान है ? क्या इस स्थूल पृथ्वीमंडलके कोई अंतःकरण है ? देखता हूं जयका अर्द्ध-स्फूट विचार वाहर पहुंचकर वड़ी प्रतिक्रिया उपजाता है, वह प्रेस और दूसरे माध्यमोंसे गुणानिगुणित होता हुआ वाहर अमित प्रभाव फैला देता है ... अर्थ वड़ी चीज है लेकिन एक हल्केसे मनके संकेतसे अन्तर-राष्ट्रीय विनिमयकी दरमें उलटफेर हो जाता है. तो क्या यह मनका संकेत अर्थकी प्रवल यथार्थतासे अधिक सार्थक हो सकता है ?...क्या यह सही है कि मनके अंदरकी शुद्धता वाहर जगतके विस्तृत परिचयसे अधिक शक्तिशाली है ? सच ही संशय और विभ्रममें पड़ गया हूं. कई वार माना है, और निश्चय पूर्वक माना है, कि इस जगतमें जो आंख मूंदकर आत्म-साधनामें लगे हैं उन्होंने जीवनसे अपना वचाव ही किया है, उनसे जीवनको कोई प्रतिष्ठा या विस्तार या वल प्राप्त नहीं हुआ है. विलक्षणताके कारण उनपर आंख जाए तो जाए, मानवजातिका उनसे किसी प्रकारका आभार का सम्वन्ध नहीं वन सकता है. वे मुक्त हो गए हों तो हों, लेकिन एक तरह वे मानवजातिके हिसावसे वाहर हो रहे हैं,मानव संस्कृतिके विचार में वे अविचारणीय ही हैं. आज भी यद्यपि मैं उस धारणाको सर्वथा भ्रांत माननेको तय्यार नहीं हूं,तो भी कुछ संभ्रममें पड़ गया हूं. क्या कार्यकारी है, आवश्यक है, उपादेय है ? यह कि वृहत योजना और वृहत कर्ममें व्यस्त हुआ जाए, अथवा कि मनके भीतरकी हेतुकी निर्मलतामें ध्यान रखा जाय ?...यहांका यह जयवर्धन वहुतसी वाहरकी वातोंकी ओरसे इतना निश्चित जान पड़त है कि जैसे निस्संग और एकदम वेखवर ही हो जैसे घटनाओंको अवगत रखने और उनपर अपनी सीधी पकड़ रखनेमें उसे रस ही न हो. उधर जैसे उसमें तनिक संलग्नता और आतुरता न हो. सारे घटना जगतसे जैसे उसका सम्वन्ध प्रसन्न उदासीनताका हो... फिर भी देखता हूं कि वह खिन्न हो सकता है,चिंतित हो सकता है. किन चीजोंको लेकर ? लगता है जैसे वे चीजें कहीं हैं नहीं, केवल उसकी भावनामें हैं. मेरा जैसा व्यक्ति आसानीसे कह सकता है कि यथार्थमें वे

कहीं हैं नहीं. जैसे जय, कहूं तो क्यों न कहूं, जागसे अधिक स्वप्नमें रहता है. हर्ज कोई नहीं है, रहे. लेकिन प्रश्न तव उठता है जव वह इस यथार्थ के जगतमें मुझ-तुमसे कहीं प्रभावकारी वना दीखता है...तव लगता है कि जिन्होंने जगतको माया कह ठुकरा दिया वह क्या झूठे थे ....नहीं, इस रेखापर नहीं चलूंगा वहुतसे लोग चले हैं और वे कहीं भी पहुंचे नहीं हैं, सिर्फ खो गए हैं...पच्छिम उसपर नहीं चला था, लेकिन चलकर जहां पहुंचा वहांसे एक साथ फिर क्या उसे ध्वंसमें ही नहीं गिरना पड़ा ? उन्नतिके शिखरपर हम पहुंचे, लेकिन फिर क्या हुआ ? क्या इतिहास प्रत्यक्ष नहीं है ? यह तो वहुत वीता भी इतिहास नहीं है. जादूके खेलके मानिन्द जैसे सव ढह गया ! अर्थ ही दैन्य वन आया और शक्ति अ-शक्ति हो रही और देखा गया कि जो उन्नति थी वह क्षणमें अवनति वन आई...राष्ट्र कोई नन्हा-सा उठा और वहां लोगोंने कहा, 'हम आज-से किसीके लिए मालकी मंडी नहीं हैं,...हम स्वाधीन हैं,' और कहनेकी देर थी कि एक दूरका महावली और महासमृद्ध राज्य डरसे कांप आया. उस डरमेंसे जो वलका प्रदर्शन निकला तो उसीसे उसकी दुर्वलता दुनिया भरमें प्रत्यक्ष हो आई. कल महान था,आज वही राष्ट्र तुच्छ वन आया... तो यह क्या है? सच ही, जयकी इस मुलाकातने मुझे मानो हिला दिया. कहने गया था कि षड़यंत्रमें न आना, दुश्मनोंका ध्यान रखना. आंख खोलने गया था. पर पाया कि आंखें खुली हैं, पर खुली हैं अन्दरकी ओर और वहां क्योंकि प्रीतिपर खुली हैं इसलिए हठात् वाहर भी देखतीं हैं कि षड्यंत्र हो फिर भी वह नहीं है. दुश्मन हो,फिर भी वह दुश्मन नहीं है. ...कहानीका शुतुर्मुर्ग भी यह अंधापन अपनाता कहा जाता है...यही कह-कर मैं इस सव अनोखी भारतीयताको रद्द कर सकता तो क्या ही वात थी. पर नहीं कर सकता. कैसे इस आदमीको रद्द कर सकता हूं जो यहां मुझे और यहांके वहुत-कुछको संभाले हुए है. किस दक्षतासे वह सव संभलता है उसको देखता हूं. कह इतना सकता हूं कि उसके उद्गम और मूलको मैं नहीं समझता हूं. लेकिन मेरे न समझ पानेसे, वह मेरे भीतर

से एक साथ रद्द भी किसी तरह नहीं हो पाता. देखता हूं उसीको समझना होगा...भौतिक तो यह आदमी झेलता है और संभालता है, लेकिन भाव कभी मैंने इसमें नैतिकसे अन्य भूमिकापर जाते नहीं पाया, तो क्या भौतिक प्रश्नके लिए भौतिकसे इतर भी कुछ अनिवार्य है ? दर्शन तो ठीक, और वह भी एक प्रकार अभौतिक नहीं है, किंतु यह जो सर्वथा विपरीत है, जो सत्यको यथार्थतासे उलटा तक मान लेने को उद्यत है इतना श्रद्धामूलक और तर्कातीत है, क्या उसको भी स्वीकारना होगा? नहीं चाहता हूं, पर देखता हूं कि मेरी चाहसे प्रश्न बाहर है. अन्य गति नहीं है, उपाय नहीं, है...नहीं, जयको इन्कार करनेकी मेरे पास कोई सुविधा नहीं है...

ऊपर शायद मैं बहका हूं !...आजका डिस्पेच नहीं हो सका. नहीं मैं अप्रसन्न नहीं हूं.

कृतज्ञ हूं कि जहां-तहांसे आमन्त्रण पाता रहा हूं. सुनता हूं वही मुझ तक आते हैं जो मेरे मानके योग्य समझे जाएं. जय स्वयं इसपर ध्यान रखते हैं. यह मेरी स्वतन्त्रतापर आरोप हो सकता था, पर वह नहीं है. हितकामी करुणा है. और यही वरदान है कि वह निर्मम हो सकती है.

शामको पत्रोंने छापा, रेडियोने भी खबर दी, कि नाथपार्टी कल दो-पहर यहां पहुंच रही है. यह फिर क्या ? क्या दस तारीखको ही सबको शिवधाममें नहीं मिलना था ? और कल हम रवाना हो रहे हैं...

जो हो, मेरा यह काम नहीं है....रेलमें, आशा है, राजनीति न होगी, तब कुछ अधिक व्यक्तिगत बात कर पाऊंगा.

८ अप्रैल—

(रेलमें) ग्यारह बज आए हैं. मैं अपने कक्षमें हूं और एकांत है... तीसरेपहर लिजा मिली. जयसे मिलकर आरही थी और अकेली थी. चेहरेपर उसके सन्नद्धता दिखाई दी,और आते ही कहा, "कहिए?"

ठीक था कि मेरी ही सूचनापर आई थी, लेकिन इतनी कामकाजी होकर मिलेगी ऐसा तो नहीं सोचा था. कहा, "मिलकर आ रही हो; कहो बातचीत सफल हुई ?"

"नहीं, पता ही नहीं कि सफल हुई या क्या?"

"क्यों ?"

"निश्चय अभी शेष है कि मुझे शत्रु होना है या मित्र ? जय इसका निश्चय नहीं होने देते...आप साथ जा रहे हैं ?"

"हां...यह तो है न कि आप लोग शिवधाम आ रहे हैं ?"

"मालूम नहीं. अब आपके पाससे लौटकर बातचीत करेंगे तब तय होगा."

सुनकर हैरत हुई. मुझसे इस संबंध में क्या मिल सकता था. विस्मय से कहा, "मेरे पाससे जाकर—क्या मतलब ?"

"जयसे कुछ नहीं मिला. उन्होंने कहा कि वहां आप सब लोग होंगे. मैं अलग हटनेको तैयार हूं, अगर विरोध एक हो जाए. साफ है कि विरोधको सब मिलकर हमसे ज्यादा मत मिले थे. इसलिए आप एक हों तो निर्णय आपके हाथ है. टर्म्स देनेवाले आप होंगे और प्रश्न हमलोगोंके लिए होगा कि क्या करें? कुल मिलाकर मैं बहुमतमें अपनेको नहीं मानता हूं और इसलिए टर्म्स आपको दे नहीं सकता, मांग ही सकता हूं...इसी आधारपर शिवधामकी सर्वदलीय बातचीत है. आइए और वहां जो कहना हो कहिए...यह क्या बात हुई, आप ही बताइए. इसलिए हमें सोचना है कि क्या करें ? आपकी क्या सलाह है ?"

मैंने लिजाको देखा. कहा, "वह छोड़ो, सच कहो मनमें तुम्हारे क्या है ?"

"प्रश्न मेरा नहीं है. बातचीत दलके साथ है."

"छोड़ो दलको, मैं एक तुम्हारे मनकी पूछ रहा हूं."

"विलबर, मैं कह चुकी हूं कि ऊंचे रहेंगे तो वह कुछ नहीं पाएंगे. और देखती हूं उतरनेका कोई लक्षण नहीं है...स्थान और समयकी सिर्फ

हमें सूचना दी गई, हमारे परामर्शसे उनका निर्णय क्यों नहीं हुआ ? यह बराबरीवाला सहयोग है ?"

मैंने कहा, "लिजा, भ्रममें न रहो. सर्वदलीय सरकारकी बात किसी बाध्यतासे नहीं निकली है, जयकी अपनी उदारतामेंसे निकली है. विरोध के तुम सब लोग आपसमें लड़ते हो, अब मिलनेका तुम्हें अवसर है तो जयके कारण. इस अयाचित सद्भावनाको तुम नहीं समझोगी और उस-में अहंकार देखोगी ! देखो, लेकिन यह तुम्हारा स्त्रीत्व है और दूसरोंका भी हीन-भाव है जो इस तरह देखते हैं."

"तो स्त्रीत्व हीन होता है ? खैर, हीन भाव है तो है. जय क्यों नहीं उस सबका ध्यान रखकर चल सकते !"

मैंने शांत भावसे कहा, "तो तुम लोग नहीं आसकोगे—यही उन्हें कहा है न ?"

"नहीं, साफ नहीं कहा."

"शायद साफ उत्तर अभी देना है ?"

"हां, दो घण्टेके अन्दर अपने निर्णयसे हमें उन्हें सूचित कर देना है. इसीसे तुम्हारे पास आ गई हूं, विलबर. कहो क्या होना चाहिए ?"

"नाथ क्या कहते हैं ?"

"वह बहुत रुष्ट हैं. जयके साथ किसी तरहकी बातचीतमें नहीं पड़ना चाहते. वह तो जाने मैं कैसे उन्हें यहां तक ला सकी हूं. तीन और साथी भी उन्होंने अपने बलके लिए लिए हैं, मैं अकेली हूं. जी कुछ मेरा भी होता है कि शिवधामकी बातचीत उजड़ रहे, हो ही न पाए, और जय उपाहास्य बनें. वह चित्र मुझमें नशा भरता है. लेकिन फिर उसीपर मैं घबरा आती हूं और सोचती हूं कि नहीं, कभी ऐसा नहीं होने दूंगी...आपकी बात ठीक है कोई उन्हें मजबूरी नहीं है और यह एक तरह उनका झुकना ही है कि बैठक बुलाई है—लेकिन विलबर, क्या हम सब लोग एक अंक हैं. मोहरे हैं, मान हम लोगोंमें नहीं है ? फिर जो जयकी दृष्टिमें एक दूसरी है, निरपेक्षता—कहो उन्हें कि

वही हमारा अपमान है और अपमान सह्य नहीं होता है."

वही लिजा थी लेकिन उन बातोंको हथेलीपर लेकर बात करेगी ऐसा न सोचा था. मैंने कहा, "मैंने सलाह दी थी कि अकेले नाथको बुलाया जाए. तुम्हें चर्चासे रहने दिया जाए. तब तुम्हारे पतिको कठिनाई न होती!"

उस समयकी लिजा समझ न आई. वह जोरसे हंस उठी, बोली, "सच कह रहे हैं !"

मैंने कहा, "तुम्हीं कहो, दुविधा तुम्हारे ही कारण नहीं है ?"

मानो मुझे उसने नहीं सुना. बोली, "—और काम हो जाता ?"

मैंने कहा, "क्या कह सकती हो कि नाथकी दुविधाके मूलमें तुम नहीं हो ?"

हंसना उसका एकदम रुक गया, माथेमें बल आए बोली, "हूं, और यह उचित है, और आप लोग भूल करेंगे अगर सीधे उन्हें लेकर आगे बढ़ना चाहेंगे. कह देतीं हूं, यह न होगा."

उसकी मुद्राको देखकर मैंने निश्चय जान लिया कि यह न होगा.

लेकिन यह भी स्पष्ट हो गया कि उसके साथसे भी न होगा. नाथ कोरा साधन न बन पाएगा. मैंने कहा, "तो तुम लोग शिवधाम आनेकी बात पक्की कह क्यों नहीं देते हो ?"

"नाथ कई बातोंपर आश्वासन चाहते हैं. शंका है उन्हें कि वहां किसी पक्षसे हल्का न दीखना पड़े. इस आत्मविश्वासकी कमीको मैं कैसे भर सकती हूं!"

"तो तुम शामिल होनेके पक्षमें हो?"

"हां, थी और हूं. लेकित जय मेरी सहायता नहीं करते वह ऊंचे रहते हैं. इससे जी होता है एकदम कह दूं कि नहीं कुछ नहीं होनेवाला है... पर उनका विश्वास, शायद मुझपर, इतना अगम है कि उस ओरसे निश्चिन्त हैं और जानते हैं कि नाथ अलग न जाएंगे...उस निश्चिन्तता पर कभी तो इतना गुस्सा आता है, विलवर, कि क्या कर डालूं. जैसे मैं

स्वयं हूं नहीं, अनुगामिनी हूं...तभी तो उलझन है और यहां आई तो देखनेके लिए कि कुछ उनमें अन्तर आया कि नहीं ? लेकिन देखा कि वही विश्वस्त और अलग...इस तरह एक दिन मैं सब खेल बिगाड़कर रख दूंगी...उनके अनुमानको सच करनेका मेरा जिम्मा नहीं है !"

स्थितिको मैं अब समझा. समझना तो पहले चाहिए था. पर राजनीतिक लगनेवाली बातचीत अक्सर भ्रममें डाल देती है. उठा, लिजाके पास सोफेकी बांहपर बैठे उसके बालोंमें हाथ फेरते हुए मैंने कहा, "लिजा, जयसे नाराज रहोगी ?"

वह सामने देख रही थी. उसकी निगाहको मैं न देख सकता था. बोली, "क्या वह समझ नहीं सकते कि मुझे इन दिनोंमें क्या कुछ न करना पड़ा होगा. उसका यह इनाम !"

उसी तरह सिरके बालोंमें हाथ फेरते हुए मैंने धीमेसे कहा, "विश्वाससे बड़ी चीज आदमीके पास और क्या है, लिजा ? तुम जानती हो उनसे वह तुम्हें मिला है."

"नहीं, विश्वास उन्हें अपना है. मैं साधन हूं, कुछ भी और नहीं हूं. इसमें कितना तिरस्कार गर्भित है, ओफ मैं ही जानती हूं कि कैसे मैं अबतक सह रही हूं !"

तब अपने दाहिने हाथको बालोंसे हटाकर कनपटीसे उसका सिर अपनी गोदकी ओर झुकाते हुए मैंने कहा, "छी छी, कैसी बात करती हो ? नहीं, उस विश्वासमें असम्मान नहीं है. शायद पता है जयको कि तुम्हारे मनपर क्या बीत रही है."

उसका सिर मेरी ओर झुकता आया, लेकिन फिर मेरे हाथको अलग करते हुए वह उसी तरह सिर सीधा करके बैठ रही, और बोली, "नाथ क्यों इतने सीधे हैं कि जैसा चाहती हूं मोड़ लेती हूं. इसीपर यहीं तो जयको मुझपर भरोसा है ! सो इससे क्या बड़ा तिरस्कार मेरा हो सकता है ? कभी तो इतना गुस्सा आता है कि क्या न कर डालूं. नाथको सामने पाकर कभी जी हुआ है कि क्या इस आदमीको एकसाथ खत्म

नहीं कर देना चाहती हूं ? पर अपने ऊपर उसकी सहज निर्भरताको देख कर मैं असमर्थ हो आई हूं—और तब सोचा है कि सब खुराफातकी जड़ में जय ही है. उन दोनोंमेंसे किसीको मैं खत्म न कर सकी तो जानती हूं कि खुद अपनेको खत्म करना होगा. लेकिन मैं क्या कह रही हूं ? अपने अन्दर झांकते डर होता है. जयने तो निश्चिन्त कह दिया कि आज जा रहा हूं और तीन घण्टेमें जवाब आप लोग दे जाइएगा. जैसे निश्चिन्त वही हैं, चिन्तामें पड़नेके लिए और सब हैं. मैं यह नहीं सह सकती. क्या लाचारी है कि हम लोग शिवधाम आएं ? लेकिन जैसे जयको विश्वास है कि अन्तमें हमें आना है. सोचती हूं, उस विश्वासको सिर्फ तोड़नेके लिए ही हम न जाएं, तो क्या यह उन्हें एक अच्छा सबक न होगा !"

"नहीं," मैंने कहा,"नहीं, तुम अपनेसे झगड़ोगी नहीं. और हम सब लोग शिवधाममें मिलेंगे. नाथका भी इसमें हित ही है".

"नाथका हित !" व्यंगपूर्वक वह मुस्कराई, "लेकिन आप यहां क्यों बैठे हैं ? सामने आइए. मैं बच्ची नहीं हूं." कहते-कहते वह उठी और स्वयं झपटकर सामनेके सोफेमें जा बैठी. और बोली, "अब ठीक है, अब कहिए क्या कहते हैं ?"

मैं उसी तरह सोफाकी बांहपर बैठा लिजाको देखता रहा. रुककर कहा, "मुझसे क्या सहायता चाहती हो ?"

"मैं शिवधाममें शामिल होनेकी सलाह नाथको दे सकती हूं." मुझे देखकर उसने कहा, "एक शर्तपर कि आप रेलमें जयके मनपर जमा दें कि मैं स्वार्थिन नहीं हूं. वक्तपर जान तक दे सकूंगी. लेकिन अगर—"

कहते-कहते वह रुकी और मैं चुप उसी तरह उसे देखता रहा. लेकिन आगे उसने कुछ नहीं कहा. सिर्फ चेहरेपर एक काठिन्य आ छाया सा दीखा. जैसे जान देनेकी बातसे जान लेनेकी बातके निकट ही आ निकली हों. मैंने कहा, "जय जानते हैं, मैंने उन्हें तुम्हारे खिलाफ करना चाहा पर फल नहीं हुआ. वह तुम्हारे प्रशंसक हैं."

"तो शिवधाम हमें आना चाहिए?"

"मैं प्रतीक्षामें रहूंगा."

"तो एक काम आप कर सकेंगे? हमारा स्थान जयसे दूर न हो और बैठकमें नाथ जयके बराबर बिठाए जाएं ...उन्हें इसका ध्यान रहता है. इतना कर सकेंगे ?"

"शायद सकूंगा. क्या जयसे इस संबंधमें कहा जा सकता है ?"

"नहीं, कभी नहीं. लेकिन दोनों चीजें आवश्यक हैं".

मैंने कहा, "जय संभव है आचार्यके अपने आवासमें ठहरें. तब कठिन होगा."

"जो हो, आपको करना है. उतने निश्चयके बिना न मेरा मन होगा, न नाथको मना सकूंगी."

"इन तुच्छताओं पर तुम इतना ध्यान दोगी, लिजा, और महत्वपूर्ण निर्णय उनपर टाल सकोगी यह तो मैंने संभव नहीं माना था."

"आप वचन दे सकते हैं, देते हैं, तो मैं भी वचन देती हूं."

"कोशिश करूंगा."

"चलिए, नौबत आए तो जयसे कहतक दीजिए, लेकिन आवश्यक है कि हम इस तरह ठहराए जाएं कि मैं अवकाश पाते ही जय तक पहुंच सकूं. और गोष्ठीमें नाथका स्थान उनके बराबर हो. हो सकेगा ?"

"हो ही सकेगा."

"तो ठीक है, मुझे भरोसा है. और समयपर हमारी ओरसे जयको यह सूचना पहुंच जाएगी कि हम सम्मिलित होंगे. चाहें तो आप पहले भी उन्हें कह सकते हैं."

मैं अपनी जगह खड़ा हुआ, कहा, "पतिपर तुम्हारा इतना स्वत्व है ?"

"जाने क्यों है ! मैं उसकी पात्र तो नहीं हूं, लेकिन—" और लिजा के चेहरेपर जैसे एक तीव्र वेदनाकी छाया आई और चली गई.

"तुम्हारे दुखको समझ सकता हूं, लिजा" मैंने कहा, "पति तुम्हें

श्राश्रय नहीं है, कुछ श्राश्रित हैं. इस दुखको समझ सकता हूं लेकिन लिजा इसीसे तुम्हारी जिम्मेदारी बड़ी है, जानती तो हो—?"

लिजा भी उठ आई. बोली, "विवाहको निभाऊं, यही न ? लेकिन फिर क्या करूं ? अपनेको न निभाऊं ?...विलवर अधिक काल इस विवाहको टिकाना मेरे लिए संभव न होगा."

मैंने उठकर लिजाको कंधेपरसे पास लिया, कहा, "पागल न बनो लिजा. यदि जानती हो कि अंदर तुममें उसके लिए आश्रय नहीं है फिर नाथको एक क्षणके लिए भी तुम भुलावेमें रखती हो तो क्या यह विश्वासघात नहीं है ?"

"है," मेरे साथ पलंगपर बैठती हुई बोली, "लेकिन वह स्वयं अपने को छलना चाहते हैं. जानते हैं अब जो है मेरी ओरसे किंचित अनुग्रह है. फिर भी खीज सकते हैं, लेकिन मेरे प्रति अपने लोभको जीत नहीं सकते. और यह भी कहती हूं, विलवर कि मनके भीतर मेरे कुछ भी हो, पर विवाहित हूं तबतक अपनी परिअंक शायिनीके प्रति मैं उन्हें तनिक भी असंतोषका अवसर नहीं देती...क्या यह तपस्या नहीं है ? बलिदान नहीं है ? तुम कहोगे कि उसी बलिदानको मैं अनंत बनाए रखूं? कितना घोर पाप होगा यह सोचो तो...आज भी किंचित उन्हें इसका अनुमान हो तो हो सकता है, यद्यपि भरसक अपने व्यवहारमें उसके लिए कहीं अवकाश मैं नहीं देती. लेकिन सत्यपर संयम कबतक चल सकता है. और क्या यह पति नामक व्यक्तिके प्रति अन्याय न होगा ?"

मैंने उसे अपने अंकमें निकट लिया और हौलेसे कहा, "अब भी क्या अन्याय नहीं है ?"

"हो,लेकिन जो वह पाते हैं उसका मूल्य उन्हींके निकट उस अन्याय से अधिक है. तब मैं क्या कर सकती हूं?जबरस्दती उनकी आंख खोलना भी क्या अन्याय न होगा ?"

सुनकर मुझमें गंभीर व्यथा जगी. नाथके प्रति गहरी सहानुभूति हुई. कहा, "उसी बलसे क्या तुम नाथसे जो चाहो करा लेनेका विश्वास

रखती हो !"

"छी छी, कहते ग्लानि होती है. पर सच यही है. और इस जघन्य स्थितिसे मैं कब ऊब जाऊंगी कह नहीं सकती. बस यही सोचकर सहारा पाती हूं कि शायद किसीके कुछ काम आ रही हूं."

सुनकर मैं विमूढ़ हो रहा. उस स्त्रीके प्रति मुझमें गर्हणाका भाव अधिक उठा कि सराहनाका कह नहीं सकता. पाया कि अनायास उसके नन्हें से हाथको मैंने ऊपर लिया है और सिर झुकाकर बड़े आदरसे उसे चूम उठा हूं. उसकी दृष्टि इसमें दूर बनी रही है, कहीं किसी ओरसे लिप्साका अनुभव नहीं हुआ है, एक गहरा विषाद हम दोनोंको घेरे रहा है...

सत्य विचित्र वस्तु है. वह अच्छा या बुरा नहीं है. मालूम होता है कि एक ओरसे अच्छा हो तो वही दूसरी ओरसे बुरा भी है. विलक्षण प्रतीत हुआ. जैसे जितना ही पापी कोई बने उतना ही आत्मिक, दूसरे शब्दोंमें धार्मिक, हुए बिना वह रह नहीं सकता. जो विभक्त है वही असत्य है. सत्य समग्र ही है. विशेषण सब वहां डूब रहते हैं, या उसके ऊपर ही तिरते रह जाते हैं, उसकी प्रकृतिसे तटस्थ और असंगत.

थोड़ी देर हम बैठे ही रहे. फिर मैंने उसके सिरको गोदमें लिया और कुछ देर भूली-सी वह वहां लेटी रही. मैंने कहा, "लिजा, बलिदान कभी अकारथ नहीं जाता. उसका मर्म ईश्वरके पास पहुंचता है."

इन शब्दोंसे भी मौनकी पवित्रता भंग हुई. जैसे उसे चेत हुआ. संभल कर वह बैठ आई. बोली, "ईश्वरके पास...मुझे ईश्वरका क्या करना है! पर जिसके लिए है क्या उसे स्वीकार होगा ?"

उत्तरमें मैं क्या कहता उसे? क्योंकि परमात्मा तो आत्माको लेता है, व्यक्ति देहसे अलग उसे कैसे ले? छिलकेके भीतरसे ही फलको हम ग्रहण करते हैं. जिसतक आत्मा ही पहुंचे वह ! तो हम हैं नहीं. इसलिए देखते हैं कि अर्घ्यका तिरस्कार होता है. प्रेमकी प्रवंचना होती है. स्पष्ट था कि कितना ही समर्पण हो, सामनेसे अंगीकार कदाचित लिजाको न मिल सकेगा और उत्तरमें मैं कुछ नहीं कह सका. अब वह उठ आई, बोली, "आप नहीं

कह सकते. मैं भी नहीं कह सकती. लेकिन इतना जानती हूं कि जिसमेंसे मैं गुजर रही हूं उसकी यातनासे कोई पाप भारी नहीं हो सकता. सहती हूं जबतक सामने इष्ट जैसा कुछ है. जिस रोज वह लुप्त होता दीखेगा. तब मैं नहीं कह सकती कि मुझसे क्या न हो जाएगा...अब मैं चलूं. इतना ही है कि दोष मुझे न दीजिएगा..."

इस तरह वह आई थी, चली गई थी. उसके बाद विशेष उल्लेखनीय नहीं हुआ था.

मैंने अपनी ओरसे नहीं कहा और समयसे पहले जयको नहीं मालूम हो पाया कि नाथ लोग शिवधामकी चर्चामें सम्मिलित होंगे. मालूम होनेपर उन्होंने संतोषकी सांस ली होगी. लेकिन क्या कुछ उन्हें भीतरके तथ्यका अनुमान होगा ?

नाथ और उनके साथी लगभग हमारी ट्रेनके समय ही प्लेनसे वापस चले गए. समयपर हम लोग भी रवाना हो गए...अब ग्यारह बज आया है, एकान्त है और घटनाओंके सम्बन्धमें जितना ही सोचता हूं उतना ही जान पड़ता है कि वह अपने आपमें नहीं है. वे इंगित है, रूपक है, सत्यको उघाड़ती हे तो ढंककर...अंदर जो व्यथा और आनन्द है उन्हींका अंध-कार और प्रकाश घटनाओंमें रूप-रंगका संभ्रम उत्पन्न कर रहा है. तो क्या जैसे बीजमें वृक्ष है उसी तरह अंतःकरणमें बहिजगत बंद है ? किंतु कैसे माना जाय कि इस अपार ब्रह्मांडका केन्द्र मनुष्य है ? निश्चय यह दम्भ होगा. तो फिर केन्द्र कहां है ? या परिधि ही है, और केन्द्र है ही नहीं ? क्या निखिलका कहीं चित्त है ? या सब सत् ही चित् है ?

९ अप्रैल—

(दोपहर) मैं जयसे कुछ दूर हूं. उनका कार्यालय साथ है और सचिव ...देखता हूं बहुत सवेरे ही आकर उन्होंने मुझे जगा दिया है, चार भी न बजा होगा. मैं अचरजमें हुआ और उन्होंने कहा, "इससे बढ़कर

समय नहीं है और तुम्हींने कहा था कि अपनी सुविधा रखूं." फिर उन्होंने पंखा बंद किया, खिड़कियां खोलीं, और सामने कुर्सीपर बैठ गए. मैं एक दो मिनटमें लौटकर आनेको हुआ कि वह भी उठ खड़े हुए. मैंने कहा, "बैठिए."

बोले, "यहां गेलरीमें घूमता हूं, तुम हो आओ."

उस समय जहां-तहां एकाध ही दरवान होगा. गेलरी सुनसान थी और मुझे उन्हें इस तरह अकेला छोड़ते असमंजस था. लेकिन उन्होंने मुझे मानो हाथसे धकेलते हुए भेज दिया और लौटा तो मुझे भी साथ लेकर वह उसी तरह गेलरीमें घूमते हुए बात करने लगे. मैं काम की समझी जानेवाली कुछ भी बात न करना चाहता था. लेकिन पूछ बैठा शिव-धामके बारेमें कि कौन-कौन निश्चित रूपसे आ रहे हैं.

हंसकर बोले, "निश्चित क्या, मालूम होता है कि अधिकांश अपने अनिश्चयसे झगड़ते हुए ही आएंगे. अभी तो कहो नाथ लोगोंका ही निश्चय है. ?"

"क्या वह आपको आकस्मिक जान पड़ा?"

"एक तरह, हां. लेकिन मैं जानता था."

झिझकके साथ कहा, "वहां ठहरनेकी व्यवस्थाके बारेमें मुझे एक बात कहनी है, मैं तो खैर दूर रहूंगा ही—"

"क्यों ?"

"बातचीतका भाग जो नहीं हूं."

"इसीसे और दूर न रह पाओगे. इलाको मैं जानता हूं—लेकिन तुम क्या कह रहे थे ?"

"सम्मेलनमें नाथको आप अपने बराबर बिठाएं और—"

"वह तो गोलमेज बैठक है, अगर्चे मेज वहां न होगी."

"तो भी आप उन्हें अपने दाहिने रखें."

"अच्छा, लेकिन वह भूलते हैं, केन्द्र वहां आचार्य होंगे, मैं नहीं."

"और दूसरे—नाथ लोगोंको आपको अपने ही पास इस तरह

टिकाना होगा कि एलीजावेथके लिए आप परामर्शको हर समय सुलभ रह सकें."

जयके माथेपर वल आया, वोले, "व्यवस्था वहां मेरी नहीं है."

मैंने कहा, "मैं वचन हार चुका हूं."

"वचन ?...पर उसको कोई अधिकार न था, न तुम्हें !"

सहज-सी यह वात गंभीर होगी मैं अनुमान न कर सकता था. कहा, "नाथको आप जानते हैं. कैसे उनको एलीजावेथ संभाल रख सकती होगी इसका अनुमान किया जा सकता है. यह उचित है कि आप इतने पास रहें कि समयपर नाथमें उठनेवाली शंकाओंका उत्तर आपकी ओरसे वह उन्हें पहुंचाती रहे."

जैसे कुछ ढीले पड़े, वोले, "व्यवस्था इलाकी होगी. जाते ही तुम उनसे वात कर लेना."

"आप यदि कह दें—"

"नहीं...और मुझे पहले वताना था...खुलासा कह सकते हो कि उससे क्या वात हुई थी ? और आओ, अंदर चलें."

कैविन खोलकर अंदर पहुंचे जहां अव विस्तर उठ चुका था और सव व्यवस्थित था. वढ़कर फिर उन्होंने खिड़की खोली,लेकिन फिर वापिस उसे आधा वंद किया और उसी तरह कुर्सीपर वैठ गए. मैं वर्थपर रहा, कहा, " कहो ?"

देख सका कि क्या खटका उन्हें होगा, इसलिए कहा "लिजा चिंतित थी और सहायक होना चाहती थी. अंतमें यही दो मांग उसने रखीं. जो मुझे उचित मालूम होती हैं."

वोले, "ठीक है, कि नाथ व्यग्र हों कि वह जगह कहीं पीछे तो नहीं पाते. लेकिन यह न होगा, विलवर, कि पतिको पत्नी साधन माने, मुझे विवाहका भंग पसन्द नहीं है."

हठात् पूछा, "यह सव आप क्या कह रहे हैं !"

वोले, "इसीलिए मैं तुमसे चाह रहा हूं, खुलासा कहो."

क्या कहता ? किसीके मनमें तो उतरा नहीं जा सकता, न उसको उघाड़ना ही उचित है. मैंने वातको टाला, वल्कि उल्टे पूछा, "आप संशय से ही स्त्रीको क्यों लीजिएगा? यह अन्याय हो सकता है."

वोले, "गोल वात न करो. जानते हो ऐलीजावेथको इस वातचीतमें मैंने अनिवार्य न माना था. अव है तो ठीक है. लेकिन आगे वढ़कर यह तीन-पांच करनेका क्या मतलव है ?"

मैंने कहा, "आप ऐलीजावेथसे नाराज न होंगे और मैं इलाजीसे व्यवस्थाके सम्वन्धमें वात कर लूंगा, लेकिन एक वात पूछता हूं—पवित्रता को आप क्या मानते हैं ?"

एकदम रुष्ट होकर वोले, "क्या मतलव ?"

मैंने दोहराया, "पवित्रता—उस विषयमें आपका क्या मत है ?"

रोष उनका गया नहीं. वोले, "क्या पूछते हो कि अस्पृश्यतामें मेरा विश्वास है ? अस्पृश्यताका भारतसे कभीका लोप हो चुका है ?"

मैंने कहा, "आप जानते हैं मैं क्या पूछ रहा हूं !"

"जानता हूं. लेकिन वेकार है वह सव...पवित्र एक परमेश्वर है और वह सर्वव्यापक है...इससे अपवित्रताके लिए ठौर कहां है ?—"

सुनकर स्तव्ध रह जाना हुआ. सच ही मौलिक शव्द थे. कुछ देर मैं निरुत्तर वना रह गया और वह वोले, "—लेकिन हमारे लिए हेय है और विधेय है. हम सीमित हैं. इसलिए कुछ हमें निषिद्ध भी होगा. अतः पापका भय अनुचित नहीं है. वह भय रखकर ही हम सच्चे निर्भीक वन सकते हैं. नहीं तो सिर्फ विवेक छोड़ रहकर सर्वव्याप्तिकी तरफ वढ़ना नहीं हो सकता."

मैं क्या सुन रहा था ? पूछा, "स्त्री परिहार्य है ?"

तुरन्त प्रश्न आया, "स्त्री भोग्य है ?"

प्रश्नमें ही मैंने कहा, "नहीं ?"

"नहीं, स्त्री उससे अधिक है. भोग्य वुद्धिमें इसलिए अपवित्रता भी अनुभव होती हो तो वह स्वाभाविक है."

"अर्थात् भयसे लाभ है ?"

"हां, लाभ ही है. भय पापीसे न रह जाएगा अगर पापके सम्बन्धमें पूरी तरह हो आएगा. लेकिन यह सब बातें क्यों लेकर बैठते हो इस समय, बिलवर ?"

मैंने अवचलित भावसे कहा, "मैं ब्रह्मचर्यके बारेमें आपके विचार जानना चाहूंगा."

फिर उनमें रोष चढ़ा, बोले, "मैं कोई गोदाम हूं कि विचार जमा रक्खूं ? विचार परिग्रह होते हैं. शास्त्रोंके पास जाओ, शास्त्रियोंके पास जाओ अगर विचार ही जानना है."

सुनता रहा और मैं चुप रहा. लेकिन देखा कि मुझमें अपेक्षा शान्त नहीं है तो बोले, "मैं आदमी हूं. सामान्य आदमी हूं और अपनेसे अधिक नहीं जानता. सिद्धांत मैं कोई नहीं जानता."

मैं उसी अपेक्षामें बना रहा, चुप रहा और रुककर थोड़े बाद उन्होंने कहा, "स्त्री भिन्न है. मैं पुरुष हूं तबतक यह भिन्न है. भेद सच नही हो सकता, क्योंकि एक और अखण्ड और अभिन्न परमेश्वरकी सत्ता सब कहीं व्याप्त है. इसलिए स्त्री और पुरुषके बीच आकर्षण कभी समाप्त नहीं होनेवाला है. सीधे उसे जीतना चाहते हैं वे मानो भेदको सच किया चाहते हैं. वह असम्भव है. लेकिन पुरुष अगर मैं न रह जाऊं तो स्त्रीके रूपमें भी कोई आकर्षणीय मेरे लिए न रह जाए. और ऐसा उपाय लोगोंने किया है. दोनों दिशाओंमें किया है. परम पुरुषताका भी कुछ लोगोंने लाभ किया है, लेकिन अधिकांश उस आग्रहमें कापुरुष ही बने हैं. कापुरुष भी कामको जीतता है इस अर्थमें कि आंख वहां जाती है तो वह स्त्रीको हटा देता है या आंख बन्द कर लेता है. बंद होकर स्वप्नमें रूपको देखती है तो वह उस आंखको फोड़ तक लेता है. इस कोशिशमें जानबूझकर कापुरुष अपनेको विकलांग तक बनाता है. लेकिन विजय वह ब्रह्म की नहीं इन्द्रियकी होती है. और अन्तमें जो हाथ इसमें आता है वह ब्रह्मचर्यकी जगह ब्रह्मका भय ही होता है...आकर्षणमें मैं

अपवित्र कुछ नहीं मानता हूं, किन्तु स्त्री-पुरुषके माध्यमसे जो व्यक्त होता है वह उन्हींमें समाप्त नहीं है. वह एक प्रकारसे खण्डका अखण्डताके, अंशका पूर्णताके,प्रति आकर्षण है. जीवात्म और परमात्मका आकर्षण है. कामचेष्टाके अभ्यन्तरमें जो अनिवार्य आकुल आत्मचेष्टा है वही उसका रस और सार है. यह आत्मचेष्टा प्रत्येक काम और भोगमेंसे अतृप्त ही वनी चली जाती है. फिर वह कामोद्रिओंका सहारा लेती और फिर फिरकर वह पाती है कि उपलक्ष फिर लुप्त ही वना रह गया है! इसमेंसे ही एक दिन कामको अकाम हो जाना है...कामका क्षय और किसी प्रकार नहीं हो सकता. प्रत्येक पुरुष आत्मोन्मुख होनेको अनिवार्य है. आत्ममें होकर पुरुप पुरुपातीत भी हो जाता है. उस अवस्थामें वह स्त्रीसे भिन्न नहीं रहता. आत्ममें लिंगत्व नहीं है. भेद नहीं है,स्व-परभेद तक नहीं है. यानी पुरुपातीत अवस्थामें पुरुपमें स्त्रीत्व स्वयं गर्भित हो आता है. स्त्रीके प्रति उस रूपमें आकर्पण होनेका अवकाश ही उपस्थित नहीं होता...यही दूसरी ओरसे मानो. इस सवको तुम विचार कहोगे, पर विचार उसे मत मानना. एक तरह यह भुक्त-भोग है. प्रेम आप ही कामको जीतता है. जीतता क्या परिपूर्ण करता है. वह अपनेमें से ही विरहकी सृष्टि करता है. वह विरह केवल पार्थक्य नहीं है, मनका घनिष्ट पीड़ा-सम्वन्ध है...स्त्री पर है, तवतक उसे पराभूत करनेकी आवश्यकता हममें रहने ही वाली है. वही स्त्रीमें पुरुपके प्रति. वह 'पर'ता प्रेमकी सघनतामें मिट आ सकती है. तव परस्पर स्खलनकी वासना रह नहीं जाती. काम वहीं तक है जहां तक मान है. प्रलय-द्वंदमें मान-द्वैतकी ही क्रीड़ा है. स्त्री जिस गुणका प्रतीक है वह हममें आत्मसात हो रहे तो परत्वका भाव मिट जाए. फिर पुरुष और स्त्रीमें परस्पर स्पर्धा और सम्मोहका भाव अर्थहीन हो आए. इसी स्थितिकी चर्या सहज ब्रह्मचर्य रूप हो जाती है. नहीं तो दूसरा कुछ सम्भव नहीं है...शरीरको और इन्द्रियोंको सुखाकर समाप्त नहीं किया जा सकता. चैतन्यके लाभकी प्रक्रियामें ही तो हमने इन इंद्रियोंको प्राप्त किया है. उस विकास धारासे

पीछेकी ओर नहीं जाया जा सकता. वल्कि इंद्रियोंकी सहायताके सहारे आत्मचेतनामें हमें उठते जाना है . इंद्रिय व्यापारकी न्यूनताकी साधनामें से परिपूर्णता न सधेगी. 'जंह-जंह डोलूं सो परिकरमा, खाऊं-पीऊं, सो पूजा,'—यह समाधि है जो सहज है. जो इस प्रकार सहज नहीं है वह चर्या ब्रह्मचर्य भी नहीं है...लेकिन यह वताओ इससे तुम्हें कुछ मिलता है ? खुद मुझे लगता है कि शब्द वहुत हो गए हैं, अनुभव उतना नहीं आ सका है..."

मैं ध्यानपूर्वक सुन रहा था. वीचमें कुछ संस्कृत शब्द आ जाते थे लेकिन यद्यपि उन शब्दोंको मैं नहीं जानता था, उन्हें समझते जानेमें कोई कठिनाई नहीं हुई. अर्थ स्पष्ट होता गया, कारण भाव सजीव और सवेग था. लेकिन समझ आकर भी जैसे उसका वहुत कुछ गूढ़ वना रह गया. मैंने कहा, "काममें और प्रेममें विवाह कहां आता है?प्रेम आध्यात्मिक है, काम दैहिक है. सामाजिककी भी वीचमें स्थिति है तो वह क्या ?"

हंसकर वोले, "वह मैं नहीं जानता. विना हारे वारवार तो विवाह तुम करते गए हो !"

मैंने कहा, "मुझे तो ब्रह्मचर्य जैसी किसी स्थितिका पता नहीं है!"

"और अव जो हो वह क्या है !"

"—तव तो आपका ब्रह्मचर्य वहुत आसान हुआ."

"सच ही आसान है." एकाएक हंसते-हंसते गंभीर पड़कर वोले, "मान लो उपलक्षको प्राप्तकर फिर तुममें प्रेमका उदय होता है,पर प्राप्तितक पहुंचना शेष है. तो वीचकी जो स्थिति है मैं उसे लगभग ब्रह्मचर्य ही कह सकता हूं. याद करो,उसमें कितनी उत्कटता है, कैसी पीड़ा, कैसी लगन, कितना भराव और कितना रीतापन—तो यह जो भरपूर और निस्स्व अवस्था है, वही उसका स्वाद मान लो. निरन्तर विरहकी व्यथा और प्राप्तिकी प्रतीक्षा, लगता है प्रेमका यही रूप ब्रह्मचर्य है. इसी अर्थमें कि इन्द्रियां उसकी अनुभूतिका भरपूर वहन करके भी उसे चुका

नहीं पातीं..."

बात मर्मकी थी,लेकिन उनकी गूढ़तासे मैं कुछ भिन्न भी चाहता था. ज़ाने क्या मेरी जिज्ञासा थी. सवेरा खिल चला था और कक्षके बाहर मैं देख सका था कि आदमी द्वारपर हो-होकर लौट गया है, यद्यपि उसने अंदर झांकनेकी चेष्टा नहीं की है, कहा, "आप विवाहको बड़ा बंधन तो नहीं मानते ?"

"खिड़की पूरी खोल दूं ?" और खोलकर कहा, "नहीं—"

"—तो ऐलीजावेथ ?"

"क्या मतलब ?" जोरसे बोले, "साफ कहो, विलबर, रुको मत"

"मुझसे पूछती थी कि विवाह क्या अंततक निभा ना ही चाहिए ? असत्य हो जाए तो भी ?"

"तुमसे पूछती थी ! तुमने क्या कहा ?"

"मैं कुछ नहीं कह सका. लेकिन इतना तो साफ है कि अप्रेमको चला नहीं जा सकता."

बोले, "एक क्षण भी उसे अपने पतिको छलना नहीं चाहिए—"

मैंने कहा, "कहती थी कि मैं अपने पत्नीके कर्तव्यमें कोई कमी नहीं करती !"

"कर्तव्य! कोरा कर्तव्य अपमान हो जाता है...विलबर, संभव होना चाहिए कि अकेले नाथ आएं, ऐलीजावेथ न आए. यही उचित होगा."

मैंने कहा, "संभव भी हो तो यह लिजाका भारी अपमान होगा. और वह आपकी परम हितैपिणी है."

"जानता हूं, पर सचसे जरा हटकर हितकामना विप-कामना बन जाती है. और मैं नहीं कह सकता कि यही होनेवाला नहीं है...तुमने मुझे पहले सब कुछ क्यों नहीं बताया....या किया जा सकता है कि नाथसे वह कुछ पहले ही आ जाए ? मैं बात करना चाहूंगा."

"वह तो साथ आनेपर भी कर सकते हैं."

"कर सकता हूं?...शायद अब दूसरा संभव नहीं है. तो यही करना

कि मेरे साथ या पास ही उन्हें ठहराना. और अब तुम तैयार हो जाओ...''

(शाम) फिर बात हुई. तीसरा पहर,उनका विश्रामकक्ष. मैं था वहां और कुछ पुस्तकें. बोले, "विलबर, कल सवेरे हम शिवधाम पहुंच जाते हैं. तुम तीसरे पहरतक इन्द्रमोहनको लानेके लिए निकल सकते हो न?"

मुझे उसकी याद भूल गई थी. कहा, "यदि आवश्यक हो."

बोले, "यों वह नहीं आएगा. अगले दिन सवेरे तुम वापिस आ सकते हो."

"उनके लिए पत्र दीजिएगा ?"

"हां, पत्र भी दूंगा. लेकिन पत्रसे ज्यादा तुमको होना है, है न ?"

मैंने कहा, "वह तो हुआ...लेकिन यह कहिए कि यह सब कुछ जो आपके चारों तरफ होता रहता है—इसमें आपकी परिपूर्णता है ?"

उन्होंने मेरी ओर देखा. मुझमें बहुत दिनोंसे घुमड़ रहा था कि यह सब व्यस्तता इस आदमीको अपनेमें लगाए रखती है, लेकिन अंदरसे शायद भरती नहीं है. तत्परता उसमें दीखती थी, लेकिन उनमें निस्पृहता कुछ ऐसी निविड़ लगती थी कि यह भीतरसे विरस उदासीनता ही न हो. तीसरे पहरका वह अलसाया समय कुछ ऐसा अनुकूल हुआ कि मेरे मुंह से वह बात अनायास बाहर आ गई.

मंद भावसे बोले, "पूछा तुमने, मेरी परिपूर्णता !...कभी सचमुच उस बारेमें सोचमें पड़ जाता हूं. बहुत कुछ है जो व्यर्थ है और उसको समय देना पड़ता है. लेकिन उपाय क्या है? अपनेको याद करनेका अव-काश न होना ही क्या यहां अच्छा नहीं है ?"

ये शब्द सुनकर मुझे अच्छा नहीं लगा. कहा, "जीवन क्या एक सह्यता ही है, आनंद वह नहीं है ?"

कुछ सोचकर बोले, "बुद्धने जो पाया परम सत्य ही था : सुख निर्वाण है, जीवन दुःख बोध है."

बुद्धने वनमें यह परम सत्य प्राप्त किया था, जय सामने पर्यंकपर बैठे थे. बुद्धकी वाणीमें यह कहते समय उपलब्धिका भाव रहा होगा; किन्तु जयकी ओरसे ये शब्द आकर मुझे शान्ति नहीं दे सके, एक बेचनी उत्पन्न कर गए.

पूछा, "शिवधामकी चर्चासे क्या आप आशा रखते हैं कि आपको छुटकारा मिलेगा ?"

"नहीं, किसी चर्चासे मेरा छुटकारा नहीं आएगा, वह एक दिन बनाना होगा, शायद उस आनेवाले दिनका आरम्भ वहां हो सके. राज सब चाहते हैं. कितनी भी और बातकी हो,एक दिन में भी चाहता था. सोचता राज के जरिए उसके होनेकी आवश्यकतासे समाजको मुक्त करनेकी राह कुछ सुगमतासे प्रशस्त की जा सकेगी. वह भ्रम सिद्ध हुआ है. भ्रमके नीचे मेरा मोह था. अपनी गुप्त वासनाको लोककल्याणकी बुद्धि-संयत भाषामें खुद अपनेको सुनाकर मैं एक प्रकारका औचित्य दे लेना चाहता था...नहीं, पछताता नहीं हूं. कलके पछतावेपर तो आजको खड़ा किया नहीं जा सकता. पर कलको लांघे बिना भी आजका आविर्भाव न होगा. इस समय उसीका मार्ग अपने लिए बूझ रहा हूं...बातचीतकी मुझे कुछ चिंता नहीं है. राजनीति जो करवट ले ले, जिस भांति बैठे बैठे. शिवधामसे मैं अपने लिए नए परिच्छेदका आरम्भ कर लिया चाहता हूं. वह राजनीतिक परिच्छेद नहीं है,उससे मेरी आंतरिकताका संबंध है. पर यह बताओ कि आंतरिकताकी बात भला कैसे की जा सकती है. जो मैं हूं उसीको कह कैसे सकता हूं. आदमी अपनी जानकारी ही तो कहता है, अपने ही होने. को कहनेमें कैसे ला सकता है ?"

उस विचार-दिशासे मानो हटानेके लिए मैंने उन्हें हंसकर कहा, "आपके देशमें लोग आत्मलाभके लिए वन चले गए हैं, हिमालयमें बढ़ गए हैं. तो वैसा कुछ तो आपका विचार नहीं है ?"

"खैर मानिए" वह मुस्कराए, बोले, "कि नहीं,वैसा कुछ नहीं है. तो भी अपने भाग्यको तो मैं जानता नहीं हूं...लेकिन एक बात इतिहास

बताता है—तख्त और तखता आपसमें बहुत दूर नहीं हुआ करते. गांधी के पास तो तख्त नहीं था फिर भी सीनेमें गोली खाकर उन्हें मरना हुआ. यहां किसीका कुछ पता नहीं है. यही है कि आदमी उद्यत रहे...सोचता हूं, परम लाभके लिए वन-पर्वत जाना जरूरी नहीं होना चाहिए. दुनिया कम जंगल नहीं है, न वह कम पहाड़ है. वल्कि झाड़-झंकाड़ यहां ज्यादा है और गति यहां अधिक दुर्गम है."

"एक वात पूछता हूं." उनके स्वरके भारसे दवकर मैंने कहा, "इस तरहकी विराग और विपादकी भावनाओंसे, भक्तिसे और विरक्तिसे, क्या संसारके लिए कुछ सामर्थ्य मिलती आपको मालूम होती है ? या यह एक पराजय और पराभवका भाव है, जिसे हठात् व्यक्ति दर्शन का मिठास देकर हठात् सह लेना चाहता है ?"

"वह भी हो तो क्या वुरा है" जयने स्वस्थ भावसे कहा, "लेकिन विलवर, मेरा अनुभव है कि इससे वड़ा सहारा होता है. सामर्थ्यकी वात तो मैं जानता नहीं हूं, लेकिन सहना जो आदमीको पड़ता है सो इस वृति के सहारे वह उसकी कटु प्रतिक्रियासे वच जाता है और यह सहन और पचन-शक्ति जगतमें किसी सामर्थ्यसे ओछी पड़ती मैंने नहीं देखी है. स्पर्द्धाएं और तृष्णाएं एक दूसरेको काटने चलती हैं,तो उस व्यूहमें आदमी लहूलुहान होनेसे वच सकता है तो एक इसी कवचकी रक्षा प्राप्त करके. यों सव शत्रु हैं, लेकिन उस वृत्तिको धारण करनेपर शत्रुता सव तुम्हारे लिए नष्ट हो जाती है. वड़ेसे वड़ा पराक्रम यह नहीं कर सकता, लेकिन भक्तिकी तनिक कोर तुम्हें भीतरसे, वाहर चहुं ओरके लिए, प्रीतिसे भर दे सकती है. पराक्रमसे शत्रुओंको मिटाते जा सकते हो, पर शत्रुता तव चारों ओरसे तुम्हें दवोचती ही जाती है. नतीजा कि तुम छोटे वनते हो. वाहर जितने फैलते लगते हो भीतरमें उतने ही सिमिटते जाते हो. यह जो लाभ है वह संसारके, और उसके साथके तुम्हारे संघर्पके, पक्षमें कम कार्यकारी नहीं वैठता है. इसे असांसारिक नहीं कह सकते. या कह सकते हो ?"

तर्क-सा देते मैंने कहा, "अच्छे लोग प्रबल नहीं देखे जाते. संघर्षमें वे हीन उतरते हैं."

"फिर भी बुरेको बुरा कहते हो तो क्यों ? कारण, अपनी भाषामें पराक्रमी मानकर भी कहीं तुम उसे 'अच्छे' से उतरा हुआ ही मानते हो...नहीं, उस सबसे नहीं चलेगा. मन समझानेको ही विशेषण हैं, अन्त में उनसे सहारा नहीं होता, अड़चन होती है. उन सबको छोड़ो...यह कहो कि संसारमें कौनसी सामर्थ्य हुई है जिसकी जीतको स्वयं संसारने माना है और जो टिकी रही है. सारे इतिहासमें देखो और बताओ...क्या मिलता है ? संसार नहीं जीता गया है जीतनेकी कोशिश करके. विजेता हारा है, सम्राट् गिरा है...जीता गया है अगर संसार तो प्यार से. इस प्यारके आदमीको चाहे तो उसने अपने हाथों जहर दे दिया, सूली चढ़ा दिया, गोलीसे मार दिया, या कुछ भी चाहे किया, लेकिन प्यार टूटा नहीं और संसार जाने बिना न रह सका कि वह जीता जा चुका था. स्वयं संसारके लिए अपनी इस पराजयसे बड़ी कृतार्थता कोई न हो सकी ...इससे यह सच है, और तुम जानते हो, कि मैं चाहे घिरा रहता हूं यहांकी और राजकी बातोंसे, पर मेरा मन जो वहांसे ऊबा और भागा-सा रहता है सो उसके बारेमें मुझमें किसी तरहकी शर्म नहीं है और मैं जानता हूं कि वही जयवर्धन है जिसके प्रति तुममें या किसीमें प्रीतिका भाव हो सकता है. यों हजारों इन स्टेशनोंपर मुझे देखने और जय कहने के लिए लोग आ जाते हों, लेकिन जिस अंशमें वह भाव हार्दिक है तो निश्चय जानो उस जयके लिए नहीं जो राजपर है बल्कि उसके लिए, यदि वह हो, जो राजपर होकर कष्टमें है...विलबर, मैं अनुभव करता हूं कि कुछ है जो यहां अमोघ है. हमारी सारी समझें उसको समझनेसे हार जाएंगी, पर वह है और उसकी रीति न्यारी है. उसमें कहीं व्यतिरेक नहीं है. इसी अर्थमें मैं कह सकता हूं कि पत्ता भी उसके बिना हिल नहीं सकता है—"

मैं सुन रहा था, और यद्यपि हर शब्द मेरे भीतर उतरता जाता था

फिर भी मैंने कहा, "तो आप यहां हैं क्यों ?"

"सही पूछते हो. यह प्रश्न स्वयं मेरे भीतर है और तुम्हें मैं यह नहीं कहूंगा कि ऐसा भाग्यके व्यंगके कारण है, सच ही कहूंगा कि मेरे अपने मोहके कारण है."

"आपका मोह ? किसके लिए ?"

"मोह 'लिए' नहीं होता. अपना निमित्त वह स्वयं ही उपजा लेता है. इससे किसके लिए का प्रश्न नहीं है. प्रश्नके उस रूपको भरनेको तो नाना शब्द जुट आएंगे और वे शब्द बड़े उचित और उपादेय प्रतीत होंगे. पर वह भी तो मोहकी ही माया है. पर सच यह कि प्रीतिकी त्रुटि हो तो भरनेके लिए मोह ही रह जाता है...देखो, बाहर वे किसान हैं. अप्रेलका महीना है, तपता ये पहर है, मैं तुम यहां हैं, वे उसीकी लूमें खेतपर काम कर रहे हैं. अन्न वहां होता है, जिसके व्यजंन हम यहां पाया करते हैं. स्टेशनोंपर जो हजारों आदमी आ जाते हैं, कुछ उनमें कहां कैसे कष्टसे रहते और चलकर आते हैं, कहा नहीं जा सकता...मैंने उनके कल्याणके लिए त्याग सहा है, कार्य किया है, क्रांतिकी है ..वह सब हो सकता है, विलवर, क्योंकि वह सव भापा है. मन उससे वहलता है और प्रचार उससे होता है और चुनाव उससे जीता जाता है. इत्यादि इत्यादि. लेकिन अगर तुम कहो कि किसानके लिए और जनताके प्रतिनिधि बनकर स्टेशनपर आ जमा होनेवाले लोगोके लिए मेरे मनमें प्रीति रही है, तो यह सच नहीं होगा. प्रीति होती तो मोहको जगह न होती. और न तव मेरे लिए ही आरामकी यह सेज रह जानेवाली थी. प्यारकी सेज तो कांटेकी होती है, विलवर. उसकी आगमें आराम जले विना रह नहीं सकता. वह सव मेरे वारेमें नहीं हो सकता है. क्यों ?...नहीं, भाग्यदोप इसे नहीं कह सकूंगा. ईश्वरपर उसका दोप नहीं टाल सकूंगा. ईश्वरकी कृपा तो हर क्षण सुलभ है, वह कभी मुझसे दूर नहीं रही है. पर बीचमें अपना मोह डालकर मैं उससे दूर जाऊं कि शासनके आसनपर आ सकूं तो दोप उसका या किसी संचितका नहीं है, मेरे अपने मोहका ही हो

सकता है....पर विडम्वना तो यह कि पाप ही मेरे लिए श्रेय माना जाता है !...वड़ी योजनाएं हैं, व्याख्यान हैं. मेरे नामपर वे प्रचारित हैं, पढ़े-पढ़ाए जाते हैं. छपते हैं और सजते हैं...उस सवका रस खत्म मेरे लिए नहीं हो गया है. जानता हूं प्रीतिके सचके आगे वे भूठ हैं. फिर भी कभी ओट पा जाता हूं और यहां टिके रहनेके लिए अपनेको ही उनकी उपादेयता समझा लेता हूं. सच हो कि वे अनुपादेय न हों. लेकिन, विलवर, तुम्हारी इंजीलमें हैं न कि सारी दुनिया पाई तो आदमीने कुछ नहीं पाया, पर आत्मा खोई तो उसने सव कुछ खो ही दिया !"

मैं वीचमें वोला, "मुझे डर लगता है !"

वह हंसे, वोले, "यही सिफत है मेरी कि डर लगा आता हूं ! पर डरकी जरूरत नहीं है. शासनका आसन मुझसे छूटनेवाला नहीं है. यही डर था न तुम्हें ?"

"आपकी भावनाकी तीव्रता" मैंने कहा, "धार्मिकसे कम नहीं है."

"हां, शब्द ढालनेमें कम नहीं है. मौखर्यकी जगह मौन आएगा तव शायद डरकी वात होगी भी. पर हम राजके और मंचके आदमियोंके सम्वन्धमें वह आशंका नहीं रखनी चाहिए." कहकर चेहरेपर उनके ऐसी करुण व्यंगपूर्ण हंसी खिल आई कि मुझे भीतरतक एक पीड़ा चीर गई. किंतु उसी क्षण वह हंसी जोरकी खिलखिलाहट वन आई और वोले, "तुम मेरे देशमें भगवानके भेजे हुए भेदिएकी तरह काम करने तो नहीं आए हो ? मत समझना, मैं पहचानता नहीं हूं. मगर तुम्हारी दाल यहां गलने नहीं पाएगी !"

मैंने कहा, "रिश्वत दीजिए तो मैं आपके पक्षमें भगवानसे लड़नेको तय्यार हूं. पर कहां, आप तो आधी हार मान चुके हैं. वस हथियार डालने की देर है !"

"वह मैंने नहीं सीखा है, विलवर. वन्स ए किंग, आलवेज ए किंग."

"लेकिन एक वार भी राजा हो पाएं तव न ? कभी वह आप थे कहां ?"

बोले, "नहीं, भूलो मत और इसी क्षण आज्ञा है कि निकल जाओ, महामान्यको विश्राम करना है."

....जानता था यही डेढ़ घंण्टा उन्हें मिलता है, या बहुत सवेरे कुछ समय. नहीं तो कामसे अवकाश नहीं है, यहां रेलमें भी नहीं है. इससे बातको सामान्य तलपर उतारकर अपने और उनके आदर्शोन्मुख भीतरी तनावको ढीला करके मैं फिर वहांसे चला आया था.

....आदर्शका भी एक तनाव होता है और हर तनावकी प्रतिक्रिया है. भावुक ही क्रूर हो पाते हैं. मां ही अपने बच्चेके प्यारमें दूसरेके बालक में से लहू चुआकर नहा सकती है. हम भक्तिकी विभोरताके एक झोके में भावनाओंको भगवानकी ओर ले जाएं तो उससे काम नहीं चल जाता है, संसारकी आसक्ति उससे कटती नहीं है, केवल क्षणके लिए बिसर भर जाती है. ऐसी भक्ति स्वार्थकी पोषक भी हो जाती है, कर्म उससे अछूता रह जाता है. इस भांति आदर्शकी और भगवानकी साधनासे व्यवहारके और संसारके प्रपंचको बढ़ाते जानेका भी साधन हो जाता है. यह विरोध उतना दुर्लभ नहीं है और मैंने अपने साथ तर्क किया कि क्या जयमें भी अंतर-विरोधका वही रूप नहीं है ? ऐसे मैंने अपनेको ही सहनेका उपाय निकाला, नहीं तो उस आदमीकी व्यथाको, जो उसे मन्दता नहीं तेजस्विता ही देती है, मैं किसी जोरसे अपनेसे दूर नहीं कर पाता था.

१० अप्रेल—

(प्रातः तीन बजे)...ब्योरेवार लिखूं. सो रहा था और बाहर खट-खट सुनाई दी. सोचा, भ्रम होगा. लेकिन फिर खटखट. दरवाजा खोला और जिसने प्रवेश किया, पहचाननेमें भूल नहीं हुई. रेल अफसरकी पोशाक में इन्द्रमोहन थे.

"माफी चाहता हूं, क्या मैं इसे बंद कर सकता हूं ?"कहकर दरवाजे को अन्दरसे बन्द किया, हैट उतारकर अलग रखा, कहा, "नींदमें खलल

के लिए फिर माफी चाहता हूं. लेकिन आप अच्छे तो हैं !"

वह कुर्सीपर बैठ गए थे और मैं अभीतक अपने विस्मयसे न उभर सका था. स्पेशल ट्रेन थी, पूरा इन्तजाम था. फिर यह क्या ?

उन्होंने जेबसे अखबार निकालकर मेरे सामने किया, कहा, "यह आप ही का अखबार है. उसमें अपने संवादको कृपया फिरसे पढ़िएगा ?"

मैंने अखबार लेकर बराबरमें औंधा रख लिया. कहा, "आप बड़े भाग्यसे आए. नहीं तो कल मुझे हैरान होना पड़ता !"

वह कुर्सीपर थे और हमारे बीचमें मेज थी. उन्होंने जेबसे एक छोटा हथेली बराबर रिवाल्वर निकालकर मेजपर अपने किनारे रखा और बोले, "आपको अपना संवाद फिरसे पढ़नेका कष्ट अधिक मालूम होता है. क्या कृपा करनेका विचार नहीं है ?"

स्थिति दिलचस्प मालूम हुई. कहा, "क्या मैं फिर नए सिरेसे आपके लिए विचारणीय बन गया हूं ?"

बोले, "आप ही सोचिए, हम कबतक सहते जा सकते हैं. आप जैसा व्यक्ति मुसाहिबीमें जयके साथ घूमता और प्रशस्ति गाता फिरे तो आपके देशकी मानरक्षामें ही यह सहना क्या अधर्म नहीं है ?"

उनकी भाषा अच्छी मालूम हुई, कहा, "किंतु क्या मैं का-पुरुष नहीं सिद्ध हो चुका ? और आपके लिए अवध्य ?...लेकिन एक बात पूछूं आप यहां आए कैसे ?"

उन्होंने मेरे निश्चित भावको देखा, इसलिए शायद और भी भीतरसे कस आए. बोले, "यमके दूतके लिए प्रवेशका प्रश्न नहीं है...पढ़िए और उचित जान पड़े तो अभी इसका खंडन लिखकर मुझे देदीजिए. नहीं तो—"

वह आगे कहें या मैं उत्तर दूं कि सिरहाने मेरे फोनकी घंटीं बजी.

मैंने इन्द्रको देखा, इस भावसे कि क्या फोन सुन सकता हूं ? इन्द्रने रिवाल्वर हाथमें ले लिया, कहा, "सुनिए, क्या संदेश है !"

मैंने कहा, "संदेश काटा भी जा सकता है."

"नहीं, आप समझदारीसे भी बात कर सकते हैं."

मैंने हंसकर फोन उठाया. जय बोल रहे थे. पूछा गया "सो रहे हो,—या ?" पूछनेके स्वरमें कुछ ज्ञान जान पड़ा.

मैंने कहा, "नींदसे मुझे किसलिए उठना पड़ा है ?"

"किसीलिए नहीं. बस, आराम करो."

मैंने कहा, "इजाजत हो तो मैं अपनी नींदमें विघ्न नहीं चाहूंगा." और कहकर फोन रख दिया.

मुड़कर इन्द्रको देखा. रिवाल्वर अबतक हाथमें था और नली मेरी ओर थी. मैंने कहा, "यह अखबार लीजिए, जहां जो खण्डन चाहते हों पढ़कर बताते जाइए."

इन्द्र हिले नहीं, बोले, "धन्यवाद. आप देखते हैं मेरा हाथ इस समय खाली नहीं है. कृपाकर स्वयं पढ़ सकिएगा ? आपत्तिजनक वाक्य स्वयं स्पष्ट हो आएंगे. न हों तो अवश्य सहायताके लिए उद्यत हूं."

"वह तो ठीक" मैंने कहा, "लेकिन एक बात कहूं, आप जाइएगा यहांसे कैसे ?"

इन्द्रकी मुद्रामें तनिक अंतर न पड़ा. बोले, "आपकी चिंताके लिए आभारी हूं. किंतु कृपया उसका कष्ट न कीजिए."

सच ही इन्द्र दिलचस्प आदमी है. शायद जगत उसके लिए स्टेज है और अपने पार्टकी अदायगी निश्चय ही उसकी बाकायदा और संपूर्ण होनी चाहिए. कहा "इन्द्र, तुमसे मैं काफी बड़ा हूं. रिवाल्वर दिखाकर जो करा लोगे, क्यों, उससे तुम्हें संतोष होजाएगा ?...जानते हो, तुम्हारा सम्मान बनाए रखनेके खातिर ही मुझे वह नहीं करना चाहिए...सच कहता हूं, कल ढूंढते हुए मुझे ही तुम्हारे पास आना था. जय तुमसे मिलना अनिवार्य मानते हैं...कितना अच्छा हो कि तुम्हारी अनुमति हो और मैं जयको तुम्हारे यहां होनेकी खबर दे सकूं...कोई बात नहीं कि रिवाल्वर है...जयके पास इतनी चौकसी और पहराबंदी है तो तुम्हारे पास एक रिवाल्वरका होना किसी तरह अनुचित नहीं है....इससे वह सब मनमें न लाओ...कहो, कहूं ?"

इन्द्र उसी तरह वैठा रहा. रिवाल्वरपर पकड़ उसी तरह मजवूत रही. कहा, "मिस्टर हूस्टन, आप जानते हैं मेरे पास अधिक समय नहीं हो सकता. जो जरूरी है वह जरूरी है. इस समय जयसे मुझे काम नहीं है, काम आपसे है. आप कह सकते हैं कि आप अपने संवादके खंडनके लिए तय्यार हैं. हों तो कहिए."

मैंने इन्द्रको देखा, कहा, "यही आज्ञा है तो कहता हूं, तैयार नहीं हूं."

निगाह मेरी इन्द्रके चेहरेपरसे हट नहीं सकी. उसने कहा, "यही कहते हैं ?"

"आप यही चाहते हैं."

हम दोनों एक दूसरेकी आंखोंमें देखते रहे. मुझे तमाशा मालूम हुआ. इसका मतलव यह नहीं कि उन क्षणोंमें तनाव न था, या गम्भीरता न थी. पर कहीं नाटकका भाव था.

इन्द्र वोला, "आप ईश्वरको मानते हैं ?"

मैंने नाराज होकर कहा, "इन्द्र, नाटक छोड़ो. वेवकूफ न वनो. क्या चाहते हो, सोचकर देखो. मारना तुम नहीं चाहते. चाहते हो तो यह मैं हूं, रिवाल्वर तुम्हारे हाथमें है, काम खत्म करो और छुट्टी पाओ. वृथा तमाशा क्यों वनते हो ?"

इन्द्रपर कुछ प्रभाव न पड़ा. उसी भावसे उसने कहा, "तो ईश्वर आप नहीं मानते हैं....मैं दो मिनट दे सकता हूं."

अजव आदमी था इन्द्रमोहन. मैंने हंसकर कहा, "किसलिए दो मिनट ?"

अविचलित अकंप वाणीमें इन्द्रने कहा, "आपको विश्वास नहीं है कि मैं मार सकता हूं. आपके अविश्वाससे मुझे वास्ता नहीं है. लेकिन मारने और मरनेको मैंने कभी वड़ी वात नहीं समझा है...वहुत कम समय है... सुनिए, रेलसे उतरते ही व्यवस्था हो सकती है कि आप यहांसे वचकर सीवे देश वापिस चले जाएं. पहले भी मैंने कहा था. यहां विदेशमें आपको खतम होना पड़े, यह अच्छी वात नहीं है. फिर कहता हूं, आप मान

जाएं."

मैंने कहा, "इन्द्र, तुमसे कितनी वार कहा है, रिवाल्वरसे मुझे मत मनाने बैठो...तुम्हारे पास इतनी जो सामग्री है उससे क्या पता मैं मान ही जाऊं, यह क्यों नहीं करते ?...लेकिन, तुम्हें क्या जयका पत्र नहीं मिला ?"

"वह विश्वासघाती है. उसके शब्दका कोई मूल्य नहीं है."

"इन्द्र, मेरी उम्र काफी हो गई. मारनेको तुम बड़ी बात नहीं समझते, मरना मेरे लिए कोई बड़ी बात नहीं रह गई है...चलो, मेरी बात का मूल्य रखोगे?...तुम्हारे दो मिनट होनेको हैं... चाहो तो न सुनो और अपने मिनटोंका पालन करो. नहीं तो सुनो, अपनी जान तुम्हारे पास बंधक रखता हूं, जाओ, जयसे अपना निवटारा कर लो. सुनो, तुम आजकी तरह स्वतन्त्र रहोगे और तुम्हारे मतको या कामको मोड़ने-बदलनेका किसी ओरसे प्रयत्न न होगा. तुम दो ही मिलना...फिर आकर मेरी जान लेना चाहो, तो जो कहो शपथ देता हूं, मेरी ओरसे बाधा न होगी."

इन्द्र उसी तरह बैठा था. रिवाल्वर उसी तरह था, पकड़ उसी तरह थी. पर निगाहमें जैसे तीखी फौलाद न रह गई. दो मिनट बीत चुके थे. मैंने कहा, "इन्द्र !—"

जैसे उसने सुना नहीं, वह उसी तरह बैठा रहा.

"—बताओ, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं...सीना खोलूं ? खड़ा हो जाऊं ?"

इन्द्र कुछ नहीं बोला. वह उसी तरह बैठा रहा.

एक, दो तीन मिनट और हो गए. मैं स्वयं असमंजसमें था. इन्द्र न हिला, न डुला, न बोला. मैं भी हारकर चुप हो आया. सांस उसकी सुन पड़ती थी, मुझे मेरी अपनी भी. बेहद विचित्र मालूम हुआ. जैसे सब कोरी मूर्खता हो...इस तरह अंतमें दोकी जगह जब छः और सात मिनट हो गए तो मैंने कहा, "इन्द्र, क्या चाहते हो ? मैं सो जाऊं ? अब डेढ़ बजा है. या बैठा रहूं ?"

कहकर मैं चुप हुआ. फिर सैकंड बीतते जाने लगे. आधा मिनट हो गया तब उसने हाथ फैलाया, मुट्ठी खोली, रिवाल्वर अलग रखा, और एक-साथ दोनों बाहें ऊपर उठाकर लंबी अंगड़ाई ली. साथ जमुहाई भी उसे आई. अनंतर दोनों हाथोंकी मिली हथेलियोंका सहारा देकर सिरहाने सिर टिका, पैर फैला, वह कम्पार्टमेंटके छतकी ओर देखता बैठा रह गया.

मैं भी उसको देखता रहा. ऐसे पांच मिनट और हो गए. अंतमें वह खड़ा हुआ, बोला "अब मैं जाऊंगा." खड़े होकर ऊपर रेकसे उसने हैट लिया, सिरपर रखा, अपने कपड़ोंको एक निगाह देखा और क्रीज़को तनिक ठीक किया, फिर जेबमें हाथ डाल वह आगे दरवाजा खोलनेको बढ़ा.

मैं अपने स्लीपिंग सूटमें बर्थसे उतरकर खड़ा हो आया, उठकर रिवाल्वर देते हुए कहा, "इन्द्र, यह चीज तुम्हारी रह गई !"

उसने मुझे उलटकर देखा. क्षणभर जैसे ठिठका रहा, फिर चुपचाप हाथ बढ़ाकर रिवाल्वर लिया और जेबमें रख लिया.

उस समय मैंने कहा, "इन्द्र, जाना तुम्हारा जरूरी न हो तो दो मिनट ठहरो."

सुनकर उसके माथेमें सलवटें आईं. झल्लाकर कहा, "नहीं, मैं तंग होना नहीं चाहता."

"सिर्फ दो मिनट."

"तुम दयालु होना चाहते हो ! पर मेरी जेबमें जो है वह मेरी परवाह कर सकता है."

सुनकर एक करुण व्यथासे मैं भर आया, बोला, "वह नहीं, इन्द्र, मेरी बात तो सुनो."

उसने कहा. "मि० हूस्टन, मैं बेवकूफ नहीं हूं...जानते हो क्यों तुम बचे ? इसलिए कि उससे बड़ा मौका सामने है, यानी कि मेरे अपने मरने का. जानता हूं, मेरे यहां होनेका पता हो गया है...और तुम करुणा करना चाहते हो ! करुणा !! वह शब्द मिथ्या है. वह कहीं नहीं है. और तुम मुझे रोकना चाहते हो उसी मिथ्याके लिए ?"

उस समय मुझे और कुछ न सूझा. जोरसे दोनों कंधोंपरसे पकड़कर उसे मैंने बर्थपर धकेलना चाहा. उसने जोरसे दाहिने हाथसे मेरे गालपर चांटा मारा जो पूरा वहां न बैठ सका, और वह बर्थपर गिर आया.

मैंने कहा, "इन्द्र, बेवकूफ़ी न करो. मरनेका शौक पीछे भी कर सकते हो. नहीं, बचानेके लिए तुम्हें नहीं रोक रहा हूं. सच यह है कि तुम बचे ही हो. मत समझो कि रेलसे बाहर तुम्हें जाना न मिलेगा, या रिवाल्वरके बलपर ही मिलेगा...बाहरके बारेमें मुझे नहीं मालूम. लेकिन इतना जानता हूं कि अगर जयको मालूम है, जैसा लगता है, तो किसी की मजाल नहीं है कि तुम्हारा बाल बांका कर सके...लेकिन, इन्द्र, वही सब नहीं है. मैं तुम्हें कलकी कुछ बात कहना चाहता था. जूते उतार दो, पैर ऊपर करके बैठो. इस तरह न रहो जैसे अजनबी हो !"

तमाचा खासा था और मैं गालको हाथसे मल रहा था. बर्थपरसे इन्द्र मुझे देखता रहा. कुर्सी पकड़कर मैंने इधर ली और बिल्कुल इन्द्रके सामने पास आ बैठा. फिर झुककर उसकी टांगपर हाथ रखकर बोला, "इन्द्र, सच कहता हूं. शिवधाम पहुंचनेके बाद ही मुझे तुम्हें ढूंढने जाना था और जैसे बने तुम्हें लेकर आना था. आना स्वयं जयको था, मुनासिब वही था. पर एक तो उसे शर्म है दूसरे तुम जानते हो जहां है वहां उतना आजाद भी नहीं है. फिर शिवधामका मामला हर समय उसकी उपस्थिति चाहता है. इससे मेरा जाना तय हुआ. जाते हो तो यह बताकर जाना होगा कि कल मुझे कहां आकर तुम्हें मिलना है, और यह भी कि कैसे मैं तुम्हें शिवधाम लानेमें मैं सफल हो सकूंगा."

इन्द्र कुछ नहीं बोला.

मैंने उसका घुटना हिलाया, कहा, "इन्द्र!"

उसने धीमेसे मेरा हाथ अपने घुटनेसे अलग किया, रोबसे कहा, "—जयको मालूम है?"

"कह नहीं सकता. शायद नहीं."

"फिर फोन ?"

"शायद इतना मालूम है कि कोई है !"

उसी क्रोधसे कहा, "फिर यह क्या था कि मेरा वाल वांका नहीं हो सकता, वगैरह-वगैरह ?"

"अगर मालूम हो कि तुम इन्द्र हो तो—"

"नहीं, मालूम होनेकी जरूरत नहीं है और मैं अपनी सहायता कर सकता हूं. नामसे अपराध और अपरावीमें अंतर नहीं पड़ना चाहिए और मेरा विचार किसीकी करुणापर जीनेका नहीं है !"

मैंने कहा "मरने जीनेको अभी छोड़ सकते हो, इन्द्र...मैं अपनी वात पूछ रहा हूं कि कल कहां मुझे आना है और क्या करना है ?"

"यह तो वह जानें जो गिरफ्तार करेंगे !"

"गिरफ्तार ! कौन किसे गिरफ्तार करेगा ?"

"पुलिस अपरावीको गिरफ्तार करेगी, करना चाहिए. नाहक मुझसे भावनाकी वात न कीजिए."

सच ही वात ठीक थी. लेकिन मैं अधिक जानता था. कहा, "इन्द्र, वह सव दिमागसे हटा दो. मैं चलूंगा और चाहोगे तो अगले ही स्टेशन पर मैं स्वयं तुम्हें वाहर छोड़ आऊंगा....कृपा होती अगर मेरा कष्ट तुम वचा सकते. आ गए हो तो कुछ घंटोंके लिए क्यों वृथा मुझे कष्ट देने वापिस जाओगे ?—क्यों?"

वह मुझे कुछ देर देखता रहा. फिर वोला, "मिस्टर हूस्टन, आप मुझे मूर्ख वना सकते हैं. मूर्ख मैं खुद वना हूं...लेकिन आपके संवाद, और आपका यहां रहना, भारतके हितमें नहीं हैं. अपनी परराष्ट्र-नीति के पीछे भारतको पिछलग्गू वनानेकी कोशिश आपका ऐसा षड्यंत्र है कि मैं फिर आपको आगाह करता हूं...जय कुछ हो, देशके लिए अनिवार्य है. और आप हमारे देशको अंतमें उपहासजनक वना देना चाहते हैं. याद रखिए यह स्वाधीन-चेतनाका देश है. पिछड़ा हुआ है, तो भी पिछलग्गू होनेको तैयार नहीं है...हमने वहुत सोचा है और आप जिस चतुराईसे माननीया इलादेवीके विश्वासमें जा उतरे हैं उसके वाद कोई उपाय नहीं रहता

सिवा इसके कि यह देश आपसे छुट्टी पाए...आप मेरे पास न आइएगा...यह समय तो गया...मुझे सच ही अपने मरनेका लोभ हो आया था, नहीं तो—कहिए, आप क्यों आएंगे?"

"अपनी ओरसे मेरे आनेकी आवश्यकता नहीं है—लेकिन जयको बहुत आवश्यकता है."

"अगर अभी मुझे गिरफ्तार करके अपने कब्जेमें ले लेनेकी उनकी इच्छा हो तो—लीजिए, फोनपर कह दीजिए कि यह और कोई नहीं, मैं हूं"

मैंने उत्साहसे कहा, "कह दूं ?"

"एक शर्तपर—कि भावना न होगी और मुलजिमकी तरह मुझसे सलूक किया जाएगा."

फोनपर जाता हाथ मेरा रुक गया. कहा "भय है, शर्त पूरी न हो सकेगी."

मैं चुप रहा. कुछ ठहरकर उसने कहा, "अच्छा, स्वाधीन इन्द्रसे वह बात चाहते हैं तो शिवधामसे फुर्सत पालें. लेकिन यह कमजोरी है कि अपराधी को छोड़ा जाता है !"

मैंने कहा, "शिवधामके बाद नहीं, पहले ही जरूरी है."

"क्यों ?"

"कह नहीं सकता क्यों ? शायद जयके पास कोई अपना नहीं है."

इन्द्रने मुझे गौरसे देखा, फिर बोला, "अनुमान है, या सच कहते हो ?"

"अनुमान है, पर निश्चय सच भी है—वे वर्ष जयमें जीवित हैं, इन्द्र, जब तुम उसके थे और अब फिर उसे तुम्हारी जरूरत है !"

इन्द्र सुनकर चुप रहा. फिर उसने घड़ी देखी, खड़ा हुआ, खिड़की खोली, बत्ती बुझाई, और खिड़कीसे बाहर जाने क्या देखता रहा. दो मिनट बाद खिड़की बन्द की, बत्ती रोशनकी और उस अपनी जगह आकर बैठ गया. बोला, "तो मुझे जीता रहना है, यही न ? शायद अब जल्दी गाड़ी रुकेगी...मनमें जो हो, जयसे कहना, साफ लिखे. जरूरत होगी तो

में जान लूंगा, और ऐसा हुआ तो चला भी जाऊंगा. लेकिन, प्रिय विल-वर हूस्टन, तुमको चाहे में पसंद कर लूं, विश्वास मुश्किल है."

मैंने कहा, "इन्द्र, सच ही देश तुम्हारे ज्ञानमें क्या इतनी अंतिम चीज है कि आदमी इन्सान पीछे होता है, यह-या-वह देशवासी पहले?"

"वहस नहीं मिस्टर हूस्टन. हम अपनी सीमाओंके साथ ही हैं, नहीं तो नहीं...तो ठीक है, में मिलूंगा."

...आगे विषेश नहीं है. इन्द्रसे सव व्यौरे मैंने लिए और गाड़ी जल्दी ठहरी और वह मेरे साथ बाहर निकल गया. वापिस गाड़ीमें आकर मैं तत्काल जयसे मिला. मालूम हुआ कि जयके आदेशपर ही इन्द्रका प्रवेश निष्कंटक बना था. जयको उसके इन्द्र होनेका अंत तक पता न था. इस-लिए हिदायत थी कि उस व्यक्तिपर निगाह रखी जाए. जहां चाहे उसे जाने दिया जाए और जवतक निश्चित किसी दुर्घटनाकी आशंका न हो तवतक उसके कार्यमें किसी तरहकी बाधा न डाली जाए. अंतमें जिस व्यक्तिके पास वह पहुंचे, यदि वही व्यक्ति उसे अपने साथ बाहर लाए तो रोकटोक न हो, और उसको स्वतन्त्र चले जाने दिया जाए. यह उनकी निजी हिदायत थी और उसके अनुसार काम हुआ. इस सूचनापर कि व्यक्ति वह मेरे कमरेमें आया है उन्होंने मुझे फोन किया था और मेरे उत्तरपर वह निश्चित हो रहे थे. लेकिन मुझसे जब उन्हें पता चला कि व्यक्ति वह इन्द्रमोहन था तो जयको पछतावा हुआ कि मैंने उसे रोक क्यों नहीं लिया. मैंने साफ कहा कि यह उचित न था.

जयने कहा, "तुम्हें विश्वास है, वह तुम्हें मिलेगा और आएगा ?"

मैंने पूछा, "आपको नहीं है ?"

बोले, "हां, विश्वास मेरा डिग गया है. लेकिन अगर वह तुम्हें न मिल सका, शिवधाम न आ सका, तो मेरे लिए क्या उपाय रह जाएगा?"

मैंने कहा, "मुझे शंका नहीं है."

बोले, "जो हो, अवतो कलसे पहले कुछ और हो नहीं सकता. लेकिन यह क्या है विलवर, तुम्हारे पीछे वह क्यों है ?"

मैंने कहा, "आपके प्रति स्नेह ही उसे हठात किसी दूसरी दिशामें अपना शिकार खोजनेके लिए विवश करता है. कुंठाको कहीं तो अपना उपलक्ष्य पाना है. और उस जैसे मेधावीके लिए क्या कमी है, उसके वल से अपने लिए यथावश्यक समर्थन और औचित्यकी सृष्टि वह कर ही सकता है. फिर यह सच है कि मेरे संवादोंसे वह हृष्ट है."

वोले, "तुम ऐसा क्या खुराफात लिखा करते हो—अखवार है वह ?"

मैंने अखबार निकालकर दिया. कोई पौन कालमका संवाद था. आधार उसका समाचारात्मक ही था, और निश्चय जयका व्यक्तित्व उस पार्श्व-भूमि पर कुछ अतिरिक्त भावसे खिल उठता था. पढ़कर जय वोले, "मिस्टर हूस्टन, इस दुर्व्यवहारके लिए आपके साथ जो न किया जाए थोड़ा है....इन्द्रसे आप निवट सके. उसकी दिलेरी ही थी कि उसने आपको खतम करनेके वजाय अपने खत्म होनेके मौकेको पसन्द किया. लेकिन अब मेरी तरफसे सवाल है कि इससे आप वाज न आइएगा ?"

मैंने कहा, "रिवाल्वर होता और मेरे लिए मौतका डर होता तो सोचनेकी भी वात थी. सुनिए, खाली आपकी धमकीका मेरे ऊपर कोई असर नहीं होनेवाला है. !"

वोले, "शव्द तनिक भी आगे वढ़नेपर न्याय नहीं करते हैं, न स्थिति की सहायता करते हैं. इसलिए अपनी सराहनाके भावोंको रोकनेकी आदत जरूरी है. सद्भावकी जगह हृदय है, भाषा नहीं. किसी भी अव-सरकी रक्षाके लिए सत्यसे तनिकभी आगे अपने सद्भावको ले जानेकी हमें स्वतन्त्रता नहीं है. इस तरह पत्रकार और कालमनिस्टका काम कोरा हेलमेल वढ़ाना और इस तरह समझी हुई शांतिकी प्रतिष्ठा करना नहीं है. प्रतिष्ठा सत्यकी होनी है और उस राहपर कहीं कुछ अनवन भी वनती हो तो उससे किनारा लेकर चलनेकी आवश्यकता नहीं है. धर्मक्षेत्र कुरु-क्षेत्र है. कुरुक्षेत्रको युद्धक्षेत्र वनना ही पड़ता है. इसलिए, मिस्टर हूस्टन, आपके संवाद विवादके स्वरसे हठात् वचे रहें और किसी पक्षके प्रति मिठासका उनमें अतिरेक हो तो उससे कूटनीतिका भी काम सही तौरपर

चलनेवाला नहीं है. सचसे डिगकर कोई नीति समाधान तक नहीं पहुंच सकती, यह कहनेकी मुझे आवश्यकता नहीं होनी चाहिए."

तब मैंने बताया कि इन्द्र क्या चाहता था. उसका क्रोध तीव्र इसलिए था कि मेरे संवाद मानो जयको अमरीकाकी विदेश-नीतिके सर्वथा अनुवर्तकके रूपमें प्रस्तुत करनेकी चेष्टामें गढ़े जाते हैं. इन्द्र यह कभी नहीं होने देगा, क्योंकि भारतकी स्वाधीन चेतनापर इससे बड़ा लांछन दूसरा नहीं हो सकता.

सुनकर जय प्रसन्न हुए. बोले, "विलबर, अब तो तुम देख सकते हो कि मेरा मित्र इन्द्र कितना उदात और कितना मेधावी है. इसको पढ़कर सचमुच इन्द्रकी धारणा भ्रांत नहीं मालूम होती कि तुम्हारे संवाद जितना आसान में नहीं हूं उतना आसान मुझे दिखाते रहे हैं...अहिंसक का मतलब कुछ और आप न ले लीजिएगा और मैं नहीं चाहता कि जो सच है लोग वह न जानें. मेरा सारा जीवन लड़ाईमें बीता है. मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, रखने और बचानेको कभी कुछ मैंने नहीं जुटाया है. ऐसी हालतमें सचको किसीके लिए भी मैं छोड़ नहीं सकता हूं, वही मेरा सर्वस्व है. और आपका देश आगाह रहे कि आपके संवादोंसे, या किसी तरह, वह जयको गलत न समझ ले. सचके लिए हो तो संसारकी शान्तिको आज भी मैं फूंक दे सकता हूं. युद्धके अभावसे ही मुझे प्रेम नहीं है, सत्य के सद्भावके पीछे मैं युद्धका सामना तक कर सकता हूं. किसी झूठको ढंक रखनेवाली शांतिको नष्टभ्रष्ट करनेमें मुझे संकोच न होगा और मैं चाहता हूं कि तुम्हारे संवाद उन बातोंको भी कहें जिनका कहना शिष्ट शालीन नहीं समझा जाता होगा. मेरे जीवनको कविता बनाकर पेश करनेमें कोई सिद्धि नहीं है, उसका गद्य पूरी तरह सामने आना चाहिए..."

इसी तरह वह कहते रहे लेकिन मैं नहीं मान सकता कि आंधीका चित्र शान्त नहीं हो सकता. साहित्यमें या दर्शनमें युद्ध और विग्रह हो, पर साहित्य-दर्शनको स्वयं कभी विग्रहात्मक होनेको नहीं कहा जा सकता. जिन्दगी जो दीखती है वहींतक वर्णनका लाभ नहीं है. उसको एक भूमिका,

एक परिपार्श्व देकर जो प्रस्तुत करना पड़ता है वही साहित्य-दर्शनकी विशिष्टता है. कुरुक्षेत्रमें सहस्रलक्ष व्यक्ति मारे गए, लेकिन उस आख्यान पर रचे गए महापुराणने इतिहासको और संस्कृतिको और धर्मको जीवित रखा.. और मेरा काम जयके या किसीके लिए अपने संवादोंको बदलना नहीं है. जो मुझे जैसा दीखेगा और लगेगा उसे वैसा करने और कहनेसे यदि रुकूं या मुड़ूं तो मैं अपने कामका पात्र नहीं हूं. और इसी प्रकारके स्पष्ट और निश्चित शब्दोंमें मैंने जयको अपना भाव कह दिया.

उस समय तीन बजने आ रहा था. मेरी उद्धत-सी लगनेवाली बातों को सुनकर जयने खड़े होकर मुझे गले लगाया, कहा, "जाओ, सोओ. तुम सा मित्र पाकर मैं धन्य हूं कि जिसे शत्रु पाकर भी मेरी धन्यता नष्ट नहीं हो सकती—जाओ आराम करो."

...अब यह लिख चुका हूं और आराम ही करना है.

१० अप्रेल—

(रेलमें) पांच बजा है. बम्बई जा रहा हूं. जयकी चिट्ठी पास है और देखना है इन्द्रके साथ क्या परिणाम आता है...शिवधाम हम दस बजे तक पहुंच गए थे. स्टेशनसे पन्द्रह मील गहरे नदी तटपर वह एक सुन्दर स्थान है. उसे बस्ती नहीं कहा जा सकता. एक तरफ हटकर गांव है, लेकिन शिवधाम, अलग और स्वस्थ, एक फैला हुआ उद्यान-सा मालूम होता है. नीची छोटी अलग-अलग कुटियाएं हैं, जो दूरसे धरतीका भाग ही जान पड़ती हैं. हमारी मोटरें चाहे धूम मचाती और धूल उड़ाती वहां पहुंचीं, लेकिन पहुंचनेके कुछ ही अनन्तर सब मानो शांतिमें समा गया, कहीं विशेष प्रकारकी व्यस्तता दीखनेको न रह गई. साथका परिकर अधिकांश शिवधामसे चार एक फर्लांगकी दूरीपर बनाए कैंपमें भेज दिया गया. जयके साथ सिर्फ एक सचिव और मैं कुटियामें ठहरे...मैंने आते ही इलासे बात की जिसमें दो मिनटसे अधिक नहीं लगे और मुझे विस्मय

हुआ. लोग यों आसपास कम न थे, पर माना आहट तनिक न थी जिसकी मुझे आशा थी. भारतमें ये चीज बहुत आम है, वहां कतिपय मिलते हैं. तो भीड़ हो जाती है. भीड़, यानी एकमें दूसरेका धक्का लगे बिना नहीं रहता.यहां दीख पड़ा कि सब अपनी रेखाओंमें चल रहे हैं, अपनी दिशाका उन्हें ज्ञान है. वे रेखाएं यह नहीं कि परस्पर मिलती नहीं हैं, पर जान पड़ा कि जैसे वे कहीं उलझती नहीं हैं और उन रेखाओंसे अन्तमें जो बनता है वह एक सुन्दर आकृतिमें विकास पाता जाता है, यद्यपि उनकी गतियां सर्वथा सहज और स्वतन्त्र ही दीख पड़ती हैं...इलाके साथ आचार्यके दर्शन किए. व्यवस्था देखी कि कहां सम्मेलन होगा. देखभाल कर ठीक कर दिया कि यहां नाथ लोग ठहरेंगे और इस थोड़ेसे समयमें सब निबटाकर आरामके साथ पन्द्रह मील दूर स्टेशनसे ट्रेन लेकर मैं अब बम्बई जा रहा हूं...जयके निजी वृत्तमें मैं कब किस भांति आ गया पता ही न चल पाया. मुझे वह अभीष्ट न था. हर व्यक्तिका अपना वृत है. किसीके बहुत निकट जानेपर इसीसे अक्सर निराशा होती है. तुम्हारा ग्राफ अलग, दूसरेका अलग. लगता है कि शिष्टाचारसे आगे उतर जानेपर आपसी सम्बन्धमें एक विमोह उत्पन्न होता है और अधिकांश एक विवर्तकी रचना हो चलती है...विस्मय होता है कि जयके पत्रको जेबमें रखकर मैं एक ऐसे आदमीके पास चला जा रहा हूं, जो दिलचस्प तो हो, पर जिसको अपने मन या बुद्धिके पास लेना कठिन है.

...ध्यान आता है शिवधामका. जो लोकमतके नेता हैं,उसके नियामक हैं, ऐसे अत्यन्त महत्वके कई लोग वहां पहुंचेंगे. प्रबन्ध यह कि एक झोपड़ीमें दरी बिछा दी गई है, उसपर एक सफेद चादर, एक तरफ छोटी चौकी, पीछे एक तकिया, और बस. कुछ अजीब-सा मालूम हुआ. जिसका परिणाम राज्यका हेरफेर तक हो सकता है, वह बातचीत इतने अपरिग्रहके वातावरणमें होगी,यह कुछ तर्क-शुद्ध न मालूम हुआ. सामान की बहुतायतसे एक महत्वका बोध होता है. उससे सर्वथा हीन होकर भी कुछ सांसारिक महत्वका होता होगा, यह भाव सहसा मनमें हो नहीं पाता.

वस्तुकी हीनता और अभावके साथ किसी भावके महत्वका मेल अन-होना-सा लगता है. इसलिए अनोखा जान पड़ा जबदेखा कि झोपड़ी शीर्ण है, व्यवस्था उसीके मानिंद निरी नामकी है और आसपास किसी महत्वके आडम्बरका चिन्ह नहीं है. अमरीका रहता हूं, राजधानीसे आ रहा था, इससे माननेमें कुछ कठिनता हुई. अब भी सहसा विश्वास नहीं होता है. किताबोंमें पढ़कर जानता हूं, वहां उस सम्भावनाको पहचाननेको भी तैयार हूं, पर यहां जो यथार्थ ही दीख आया सो उसपर विश्वास जमनेमें कठिनाई होती है. बड़ा भारी यन्त्र हो और वहां शक्तिका निर्माण दीखे तो सर्वथा संगत जान पड़ता है. लेकिन जहां वैसी भीमता या विराटता कुछ भी नहीं है, निरी निरीहता है, वहांसे किसी ऐसी शक्तिकी सृष्टि सम्भव हो जो भौतिक जगतमें हेरफेर ला दे, यह संगत नहीं जान पड़ता. फिर भी है, और इंकार करनेका कोई उपाय नहीं है. जयके साथ जहां ठहरा हूं वहां तीन कमरे मुश्किलसे निकल पाए हैं. कमरे कहता हूं, पर वे कोठरियां भी नहीं हैं. बानकी एक-एक ऐसी चारपाई पड़ी है जिस पर करवट पूरी नहीं ली जा सकती, सिरहाने बांसकी शेल्फ है, और पैताने एक स्टूल. अतिरिक्त अवकाश लगभग नहीं है. बस मेरा कमरा यह है. जयवाला इससे तनिक ही बड़ा होगा. उसके अतिरिक्त एक बैठक कही जा सकती है जिसमें चटाइयां बिछी हैं और किसी प्रकार आठ दस आदमी भी बैठ सकते हैं. यह हम लोगोंका 'आवास' है ! खैरियत है कि फ्लश है, लेकिन नहानेके कमरेमें लोटा-बाल्टी है और एक तरफ रस्सीके सहारे बांस लटका है कि कपड़े टांगे जा सकें...काफी आदिम मालूम होता है.. यहीं, ऐसी ही निरीहिता और दरिद्रताके बीच, वह राजनीतिक मंत्रणा होगी जिसपर दुनियाकी आंख नहीं भाग्य हो सकता है ! यह बहुत ही अटपटा लगता है . दुनियाके अखबार इस समय जगे हैं,लेकिन शिवधाममें उस चर्चाके प्रति उत्सुकता नहीं देखनेमें आई, बल्कि गहरी निरपेक्षता और उदासीनता दीखी. साधक कहे जानेवाले लोग अपने कामसे यहां-वहां आते जाते हैं, अथितियोंकी सेवामें नियुक्त हैं. तो हैं,

किंतु होने वाली सर्वदलीय चर्चाके प्रति उनके हावभावमें कोईभी अति-रिक्त उत्साह नहीं है. मानो नित प्रतिके कामसे अलग या ऊंचा यह कुछ भी न हो, हो तो किंचित् व्यर्थतर काम ही हो !

रेलमें वैठा जा रहा हूं और यह लिख रहा हूं और यद्यपि शिव-धाम की निपट अभावता और निराडंवरताको किसी शक्ति-व्यापारके साथ में नहीं जोड़ पाता हूं, तो भी स्वीकार करना होगा कि मनपर मेरे भी एक व्यामोह है. भौतिक वलके तलमें आधारभूत नैतिक शक्ति है, तत्व-विचारकी दृष्टिसे में यह मानता आया हूं. स्वयं मेरे देशमें 'विचार' की शक्तिसे लोग कम परिचित नहीं हैं. धनिक वहां शक्तिशाली नहीं रह गया है, वल्कि धनिकता रखकर भी जो स्वयं अछूता है, शक्तिका भाव लोगोंको उसीमें से प्राप्त होता है. पर यहां शिवधाममें तो वह भी नहीं है, वस्तुका जैसे नितान्त असत्-भाव है, वस्तुकी उतीर्णतासे अधिक उस का अभाव ही कहना होता है. फिर वहां शक्तिकी स्थिति कैसे है ? उसकी सृष्टि कैसे है ? सहसा हृदयंगम करना कठिन होता है...इलाको राजनगरीमें देखा था, यहां शिवधाममें नंगे पांव चलते और चुपचाप हाथोंसे झाड़-वुहारीका काम करते भी देखा. जैसे किसी महिमासे उसका परिचय नहीं है, धरती के मानिंद जैसे वह मूक है, उसीकी मानिंद विनत और मंद....पर मुझे दो मिनटमें उसके साथ समाप्त भी हो जाना पड़ा! उतनेमें ही मेरा सव कुछ सुन लिया और स्वीकार कर लिया गया था और मैं, हताश-सा, उस समय इलाकी ओर देखता रह गया था. लेकिन स्पष्ट था कि मेरे लिए कुछ शेष न वचा था और मैं, हतवुद्ध-सा होकर उसकी उपस्थितिसे हट आया था. चहुं ओर सव स्वीकार करते हुए, कहीं किसीमें न उलझकर, अपने युक्त-कर्ममें अनायास वढ़ते चले जानेकी यह कला विलक्षण ही मालूम हुई. यों मानव-जातिने, वोलनेको संक्षिप्त करके, लिखितसे इंगितसे काम चलानेकी कला निकाली है. इन सहारोंसे व्यक्तित्व परस्परतामें निभते भी हैं, अधिक उलझने नहीं पाते...पर यहां तो उस प्रकारके कृत्रिम नियमनकी भी सुविधा नहीं है.

फिर यह सामंजस्य, जो सामुदायिक कर्म-क्षमता देता है, क्या है ?

मानना होगा कि जीवनकी कोई दूसरी भी विधि है. उसमें वेगकी त्वरा नहीं है, कुछ स्थिरताकी ही प्रतीति है. लेकिन उस जीवन-पद्धति में से देखता हूं परिणाम कुछ कम नहीं आता है, आता भी वह शीघ्र और सहज है. उस कर्म-कौशलमें विलक्षण अनायासता है. विग्रह और वादके स्वरको उठनेका अवकाश ही नहीं हो पाता. मतको एक करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, इतना मन उसमें एक रहता है. मौलिक उस एकत्व की भूमिकापर अनेक अपनी नाना विविधताओंका समर्पण देते हुए अपने संयुक्त अभीप्टको सम्पन्न करते चले जाते हैं. समाजवाद...वह नहीं है. हरेकके पास अपना व्यक्तित्व रहता है और आग्रह है कि वह रहे. लेकिन व्यक्तित्व परस्परको खंडित करनेकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं कर पाते, एक दूसरेको सहज परिपूर्ण ही वे करते हैं. बल्कि व्यक्तिवाद उसे अधिक सार्थकतासे कहा जा सकता है. लेकिन व्यक्ति किसी भी दूसरेको उल्लंघित करनेकी वहां सोच हीं नहीं पाता है. जैसे एककी सिद्धि दूसरेके बावजूद नहीं बल्कि उस दूसरेमें से ही हो. जान पड़ता है समुदायभावके इस मंत्रको प्राप्त करना होगा जिससे किसी पृथक सामुदायिक स्वार्थ या हितकी भी सृप्टि नहीं होती है. शायद वह निर्माण, जहां मानव संबंधोंमें स्पृहा और अपेक्षा तो रहे कि वे चमकें और उत्कर्प पाएं, लेकिन डाह और जलन न हो जो उन्हें खंडित कर सके, उस मंत्रके प्रयोगसे ही सकेगा. उस सूत्रको पाना होगा जिसके गुणसे आपसी संस्पर्शमेंसे विप न निकले, अमृत फलित हो. पाकर फिर समूची समाज व्यवस्थाको उसी बुनियादपर खड़ा करना होगा. अर्थ-रचना भी उस धरतीसे उगकर ऐसी स्निग्ध हो सकेगी कि वह शोपणका साधन न बने परस्पर स्वास्थको ही पुप्ट करे.

१० अप्रैल —

(रात, ११-४५)...इन्द्र स्टेशनपर मिल गया. वही निर्दोप पश्चिमी वेपभूपा, मित वार्तालाप, शालीन व्यवहार. इन्द्र खुद अपनी बड़ी

कार चला रहा था और हम लोग कोई पच्चीस मील दूर निकल गये कि उसकी जगह आई. काफी बड़ा मकान था, और उससे भी बड़ा आहता. आहतेमें खेती थी, बाग था. नहानेके लिए टैंक वगैरह था. लेकिन आस-पास आदमी विशेष न थे...दूसरी मंजिलपर मुझे अपने कमरेमें पहुंचाया गया. अब शाम होगई थी, हम बैठे और मैंने जयका पत्र दिया जो हिन्दी में था. उसने पढ़ा, और फिर बिना कुछ कहे अंदर जेबमें रख लिया.

मैंने पूछा, "कहिए ?"

"आप कब जा रहे हैं ? पत्रसे मालूम होता है, आपको जल्दी जाना होगा. हम लोग कमसे कम आपका एक सप्ताह यहां आवश्यक समझते हैं, नहीं तो हमारे साथ न्याय न होगा."

चाय आ चुकी थी और इन्द्र मेरी सहायता करता हुआ कहता जा रहा था—

"अभी आप चलिएगा और देखिएगा...लेकिन आप बताइए कि मुझे शिवधाम आना चाहिए ?"

मैंने कहा, "निश्चय में व्यर्थ होने नहीं आया हूं."

इन्द्र जैसे अन्यत्र लीन हों, कहा, "जय, देखता हूं, अबतक वही सनकी ही बना है. नहीं, यह गलत है कि वह अपनी जगहसे हटनेकी सोचे. उस-से आकस्मिक शून्यकी जो स्थिति बनेगी वह संभल न पाएगी, हर तरह के हलके तत्व झपटेंगे और उससे अन्तर-राष्ट्रीय संतुलन भी बिगड़ेगा."

"क्या वह बात उन्होंने लिखी है ?"

"हां, संकेत है—उसने लिखा है कि मैंने ही कभी ऐसा सोचा था. पर तब परिस्थिति और थी. अब वह किसी तरह नहीं हो सकता. जय-का चाहना और सोचना है कि मैं उसे इस निश्चयमें सहायता दूंगा!"

"तब निश्चयसे विरत होनेमें सहायता तो दे सकते हैं. तब तो आना और भी जरूरी है."

चाय हो गई थी और अपनी जगहसे उसने उठकर कहा, "आइए."

हम लोग उसी दूसरी मंजिलपर जिस हालमें पहुंचे वह पुस्तकोंसे भरा

हुआ था. एक तरफ जाकर उसने जेबसे चाबी निकाल अलमारी खोली, दूसरीसे फिर अंदरके दराज खोले और सामने एक साइजके अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ दिखाई दिए. एक खींचकर उसने हमें दिखाया. जयवर्धनके संबंध की फाइलका वह एक भाग था. बताया गया कि सामने दीखनेवाले चौबीसों भाग उसी सामग्रीसे भरे हैं. एकके बाद एक कई भाग खींचकर वह मुझे दिखाता गया. वहां सब कुछ था : चित्र, पत्र, वक्तव्य, सूचनाएं, समीक्षा, आलोचना. अंतमें एक चमड़ेकी मोटी जिल्दवाला रजिस्टर सामने किया. वह इन्द्रकी अपनी कृति थी. उसमें तरह-तरहकी स्याहियों और अक्षरोंमें अपने अध्ययन और मंथनका सार अंकित था. मैं उस व्यक्तिके अध्यवसायपर चकित रह गया. लेकिन विस्मय यह हुआ कि ऐसे विद्या-व्यसनी पुरुषमें वह प्रवृति किस तरह शेष बनी हुई है जिसका प्रमाण मुझे एकसे अधिक बार मिला है. चारों ओर ठसाठस भरी हुई किताबोंसे तो इसको नितांत ज्ञानी पुरुषकी भांति होना चाहिए था, उदासीन और उदार, आग्रहसे और दुनियादारीसे शून्य. लेकिन इन्द्र तनिक भी वह न था. तमाम कोठीकी सुव्यवस्थासे देख सका कि वह व्यक्ति अत्यन्त तत्पर है, व्यवहारज्ञ और चौकस. अनावश्यक और व्यर्थ उसके पास घिर नहीं सकता है जैसा ज्ञानीके पास अक्सर उगकर एकत्रित हो आता है ...सब जिल्दें यथास्थान रखकर उसने दराज बंद किए, फिर उनपर अलमारी बंद की, और जेबमें चाबी रखकर आगेकी ओर बढ़कर बताया कि इस भागमें भारतके सांस्कृतिक विकास और इतिहास विषयक ग्रंथ हैं...इतिहास घटनाओंको लेता है पर उससे वह सार्थक नहीं हो सकता. घटनाएं संकेत हैं. जिसकी वह संकेत हैं वह है संस्कृतिका सूत्र. यह ऐतिहासिकोंको बहुत बादमें स्पष्ट हुआ कि घटनाओंकी सरणीसे जो प्राप्त होता है वह रूपरेखा मात्र है, इतिहासका सार तब प्राप्त माना जाना चाहिए जब मानव-विकासका ग्राफ ही मानो उससे स्पष्ट होता हुआ निकले. . .कहिए, नहीं ?

मैं सुनता और हां-हूं में उत्तर देता गया क्योंकि मेरे मनमें तमंचेवाला इन्द्रमोहन हो उठता था.

"मैं चाहता था कि आप यहां कुछ दिन बैठें और मैंने जो इतिहास मेंसे भारतकी आत्म-रेखाके उदय और विकासका ग्राफ निरधारित किया है उसके बारेमें मुझे बताएं. उस आविष्कारसे मैंने जाना है कि जयकी दिशा उस क्रमरेखासे जगह जगह च्युत हो जाती है...आपको आश्चर्य होगा कि गांधी,यद्यपि वह हमारे राष्ट्रके लिए पितृ-तुल्य ऋषि हैं, उस रेखा पर सर्वथा अनुकूल नहीं आते हैं. यह भी ध्यान रखना होगा कि किसी देशकी विकास-रेखा मानव-विकास-रेखाके मान्य प्रतिपाद्यसे विमुख नहीं जा सकती है...वह देखिए, वहां नृतत्व एवं नृवंश शास्त्र संबंधी पुस्तकें हैं...मैं इस निर्णयपर आया हूं कि यद्यपि हिंसा-अहिंसाका प्रश्न मानव मस्तिष्ककी उत्कर्ष साधनामें से हमको प्राप्त हुआ है, लेकिन उसकी व्याप्ति मानव व्यवहारसे आगे कहीं नहीं है. अर्थात विकास-क्रममें जो नियम काम कर रहा है उसकी अपेक्षामें हिंसा अहिंसाका विवेक सर्वथा मूल्यहीन है. इससे ज्ञानीके लिए अपने आचरणमें वह विचार बाधक नहीं हो सकता. गांधीने नैतिक पक्ष लिया और यह उनका बहुत बड़ा दान है. लेकिन अंतःकरण एक सीमापर आकर मनुष्यके लिए बंधन बन आना चाहिए. जिसे सृष्टि नियमसे तत्सम होना है उसे नीति-अनीतिके द्वैतसे ऊपर जाना होगा. जिसके मनमें अदया हो उसे दया प्रिय होगी. पर वह प्रियता अज्ञानी अज्ञानमेंसे प्राप्त करता है...आप मुझसे सहमत नहीं हैं. आपके संवाद ही मैंने नहीं पढ़े ग्रंथ भी पढ़े हैं...प्रकृतिसे भिन्न होनेमें प्राणी की पूर्णता नहीं है...प्रकृति भावनासे उत्तीर्ण है...उसमें नितांत अमोघता है और कोई द्वंद्व वहां नहीं है. अहिंसा द्वन्दजात है और जबतक जय उसके फेरमें है पूरे तौरपर वह भारतकी आत्मरेखा या मानवकी विकास रेखासे तत्सम नहीं हो सकता. पुरुषको अमोघ होना होगा, विचारक और भावुक नहीं..."

अजब आदमी था इन्द्र. अपना ग्रंथालय दिखाता गया और बोलता गया. मैंने माना था कि बोलता कम है, लेकिन मालूम हुआ कि विशुद्ध ज्ञानके धरातलपर संयम उसे आवश्यक नहीं रहता. मैंने कहा, "इन्द्र,

ग्रन्थ मुझे ललचाते हैं और हाथ मलकर रह जाता हूं कि मेरे पास समय नहीं है. इसलिए, ज्यादा लालच न दो और आओ, अब बैठें—"

मैं हालके बीचमें पड़ी सोफा कुर्सीपर बैठनेको हुआ, लेकिन उसने कहा, आइए बाहर चलें. कहकर मुझे बाहर लिया, हाल विधिवत् चारों ओरसे बंद किया और जब बरामदेमें बैठे तो मैंने कहा, "इन्द्र, सुनता हूं तुम बहुत संपन्न थे. और—"

इन्द्र मुस्कराकर रह गया. जैसे वह लज्जित हो. उसने कुछ कहा नहीं.

"तुम्हारा बहुत बड़ा घराना था और तुम—"

उसी लज्जित भावसे हाथ बढ़ाकर मानो हवाको दाबते हुए उसने कहा, "छोड़िए, बीतेको याद न कीजिए."

"यह सच है कि तुम राजपुत्र थे ?"

उसने कहा, "दुख है कि सच है. लेकिन राजा लोग क्या इतने समाप्त नहीं हो चुके हैं कि उस गड़े व्यतीतमें से किसी लांछनको उखाड़कर लानेकी आवश्यकता न समझी जाए !"

सहानुभूति हुई, फिर भी कहा, "नेहरूके सोशलिस्ट पैटर्नमें से भी तुम्हारी संपन्नता बनी ही चली आई है. अवश्य यह तुम्हारी या तुम्हारे पुरखोंकी मेधाका फल ही है...इच्छा है तुम्हारे साथ रह सकता और अधिक जान सकता. लेकिन यह बताओ कि चल रहे हो न ?"

"नहीं—"

मैं यह उत्तर पानेको तैयार न था, आया तो किसी तरह ले भी न सका. कहा, "यह कैसे हो सकता है !"

इन्द्रका वही रूप लौट आया, कठिन और दुर्भेद्य, कहा, "यही होता दीखता है."

पूछा, "क्यों ?"

"क्योंकि जयने पत्रमें कृतज्ञता जताई है. कृतज्ञता दूरी डालती है. मैं दूर बनकर मिलूं ?"

मैंने इन्द्रको देखा. कहा, "यह झूठ तो नहीं है कि तुम समयपर जयकी धनसे भरपूर सहायता करते रहे हो ?"

इन्द्र रोप और आवेशसे भरे स्वरमें बोला, "विलवर, तुम समझदार हो...कौन सहायता करता रहा है ? मैं ? तुम जानते हो मैं किसी सहायतामें विश्वास नहीं करता और सहायता धनकी...धन...मुझे उसकी याद न दिलाओ. धनको जाना न मिले तो वह आ नहीं सकता ...राजपर बैठकर जय धनकी सहायता की याद रखता या दिलाता है तो यह भावुकताके सिवा क्या है...जाकर कहना जयको कि जिसका कृतज्ञ हो वह इन्द्र नहीं है, उससे डरनेकी जरूरत नहीं है...कृतज्ञताका पाश कोई वह अपने पास न रखे और जवतक कृतज्ञताकी याद रखता है तवतक उसको याद न करने, या उससे मिलनेसे इन्कार करनेका मेरे पास कारण वना ही रहता है."

वात एक तरह इन्द्रकी ठीक थी. लेकिन यह भी मैं देख सका कि उसमें कहनेकी ही शोभा विशेप है. सुझाया, "तो चलकर यही जयको कहो न."

इन्द्र मानो धुनमें था, वोला, "मिस्टर हूस्टन, धनकी असलियत तुम भी पहचानते हो. फिर फिर उसकी याद दिलाई जाय तो क्या वह मुझे अच्छा लग सकता है ?...पहले भी मेरा इसपर जयसे झगड़ा होता था. वह नम्र वनता था और मैं उसे इसके लिए दुतकारता रहता था. उसने कभी कमाईका काम नहीं किया, लेकिन मैं उस चीजकी पोल जानता हूं जिसे कमाई कहते हैं. यह सव जो चारों तरफ वैभव समझा जाता है कैसे यह आ गया और मेरे पास जमा हुआ है, इसके रहस्यके वारेमें कोई आकर मेरी आंख ज्यादा खोल नहीं सकता है. जानता हूं इसके मूलमें क्या कुछ है और कितना कुछ वह मिथ्या है...यह म जयको कहता रहा हूं. वह नहीं जानता सो नहीं. पर शायद विनम्रताके रसका स्वाद यही है कि अपनेपर एक कौड़ीके खर्चके लिए वह अपनेको कोस सके और अपनेको सर्वथा अनधिकारी माने....मेरी उससे यही

लड़ाई रही है. वह कहता है, कुछ उसका नहीं है. मैं कहता हूं कुछ किसीका नहीं है, इसलिए सब मेरा भी हो तो इसमें कुछ हर्ज नहीं है.... पर वह छोड़ो....मुझे बहुत दुख हुआ है यह पढ़कर कि जय उसको सहायता मानता रहा है जो मुझसे उसे मिला है...सच कहता हूं मुझे उसकी याद बिलकुल नहीं है. याद न रहनेका कारण यह भी है कि हिसाब रखनेमें दिमागपर जोर पड़ता है. एक दांवमें जाता है और एक दांवमें कितना ही आ जाता है. कब कितना गया उसको याद रखकर खेलनेवाला क्या खाक खिलाड़ी है. इतनी किताबें मेरे पुस्तकालयमें इसी-लिए नहीं हैं कि मैं दिमागमें छोटे-छोटे हिसाबोंके लिए जगह रखूं और खुद छोटा बनूं—नहीं, अभी मेरे मिलनेका समय नहीं आया है."

मैंने जिद रखी, कहा, "नहीं, मुझे खाली नहीं भेज सकोगे."

बोला, "अभी तो जाओ विवशता मेरी जतला देना और यहांका पता दे देना. कहना, पत्रमें कृतज्ञता न होती तो मेरी खुद आनेकी इच्छा हो गई थी. लेकिन अब कठिनाई है."

मैंने कहा, "इन्द्र, तुम भावुक हो रहे हो !"

उसका सचमुच ही गला भर आया. "हां, शायद हो रहा हूं. पर आदमी इन्सान है और तुम जाओ."

उसकी इस आर्द्रवाणीपर मैं हिल आया, जान गया कि मुझे अकेले ही जाना होगा. कहा, "कहूंगा कि वह बात कर लें."

"हां, कल शामतक मैं यहीं रहनेवाला हूं" फिर एकाएक उसने पूछा, "क्यों, निश्चय है कि एलिजाबेथ आएगी ?"

मैंने विस्मित-भावसे इन्द्रको देखा "निश्चित ही कहो. पर क्यों ?"

"कुछ विशेष नहीं—हां शामतक यहीं हूं, चाहेंगे तो वह बात कर लेंगे."

मैंने अधिक कुरेदना नहीं चाहा. स्पष्ट था कि इन्द्र जयके सम्बन्ध की हर खबर रखता है. थोड़ी देर चुप रहकर वह स्वयं ही बोला, "स्वामीको गिनतीमें लेनेकी जयको आवश्यकता न थी—किसी भी

समय उसको बड़ी वाधा बनने नहीं दिया जा सकता था."

यह मैं क्या सुन रहा था ? जैसे इन्द्र जयका आत्मनियुक्त प्रहरी हो. मुझे याद आया कि आते ही बम्बईमें यह व्यक्ति मिला था और इसने क्या-क्या कहा था. तो क्या उसके मूलमें जयके प्रति सिर्फ अति-रिक्त चिंता ही थी....या सचमुच यह विचार था कि किसी अमेरिकनके सराहना-सूचक संवाद जयकी स्थितिको यहां विलष्ट ही बनाएंगे, सहा-यक न होंगे. याद हुआ कि उस समय इसने स्पष्ट कहा था कि जय दुश्मन नम्बर एक है. तो उसमें क्या आशय था ?...सच ही आदमीका मन और उसके शब्द कभी पूरी तरह एक नहीं हो पाते हैं.. इसीलिए जानकार भाषाको नहीं, आदमीको लेते हैं, या सदा भाषामेंसे आदमीको चीन्हनेका प्रयत्न किया करते हैं.

"स्वामी आ रहे हैं न ?"

"हां."

"तो खासा चिड़ियाघर होगा !"

उद्‌गारमें स्पष्ट अविनय था और मैं चुप रहा.

"जय यह सब रचना क्यों रचता है, मैं हैरान हूं. क्या सच है कि वह धबराकर भाग रहना चाहता है ?"

मैंने कहा, "इन्द्र, तुम्हारा मन उधर सप्रश्न ही है, तो मेरे साथ आते क्यों नहीं हो ? सब उत्तर पा जाओगे."

बोला, "आना असम्भव है और जय बात कर सकते हैं."

बात बरामदेमें हम दोनों ही के बीच होती रही. आसपास कोई दिखाई नहीं दिया. इतनी बड़ी जगह, लेकिन जैसे वह घर न हो. सब इतना व्यवस्थित, इतना पाबंद, इतना दुरुस्त मालूम हुआ कि—

मैंने पूछा, "यहीं रहते हो तुम सपरिवार ?"

इन्द्रने कहा, "सपरिवार—नहीं."

"परिवार कहां है ?"

"अपनी जगह, और यह मेरे कामकी जगह है."

मैंने उधरसे अपनी जिज्ञासाको लगाम खींचकर मोड़ा. कारण आगे मार्ग और अवकाश न मिल रहा था. कहा, "तो मेरे जानेके सम्बन्धमें, कहो, क्या निश्चय है ?"

"हां, अभी यहांसे चलेंगे. खाना हमारा वम्वई है. वहां कुछ साथियोंसे भी मिल लीजिएगा. साढ़े ग्यारह वजे आपकी ट्रेन है, तीन वजेसे पहले पहुँच जाइएगा और सवेरेतक शिवधाम....लेकिन कृपया फिर पूछने दीजिए कि अमेरिका आपका कव जानेका विचार है ?"

अचानक प्रश्न आया, कहा, "जयसे अभी इस सम्वन्धमें वातचीत नहीं हुई है."

इन्द्रने कहा, "मेरी सलाह है कि आप जल्दी चले जाएं. पहले रोप भी चाहे रहा हो पर अव परामर्शमें स्नेह ही मानें. कुछ यहां अघट घट सकता है...सच कहता हूं कि आपको समाप्त करनेकी वात कभी मनमें नहीं थी. लेकिन इतने षड्यन्त्र हैं जयके आसपास कि आप उसकी उलझ में वेकार पड़कर अपना या किसीका लाभ नहीं कर सकते थे. जो आप लिखते हैं उससे षड्यंत्रमें लगी हुई शक्तियोंके वलावलके सन्तुलनमें अप्रत्याशित हेरफेर आता है...मैं तो अलग हूं, लेकिन घटनाओंमेंसे उस रेखाको पानेका मेरा व्यसन है जो विधि-रेखा समझी जाए. शतरन्जकी वाजीकी भांति राजनीतिके पटको मैं अपने समक्ष रखता हूं. आपकी उप-स्थिति उस वाजीके नक्शेको मेरे सामने गड़वड़में डाल देती है और मुझे झुंझलाहट होती है...अव जो स्थिति है, उसमें किसी तरहका अंतर डालने के लिए आपको यहां उपस्थित नहीं रहना चाहिए. मेरा अनुमान है कि शक्तियोंका व्यूह इस समय जिस प्रकार आ तुला है उसमेंसे कुछ वड़ी घटना निकलेगी और भारतकी इतिहास-रेखा फिर उर्जस्व होगी. क्या आप मेरी वातकी रक्षा करेंगे कि जल्दी देश लौट जाएंगे ?"

मैंने हंसकर कहा, "असम्भव नहीं है. जयसे वात कर लेना होगा." कहते-कहते मुझे ध्यान आया कि इलाके प्रति इस व्यक्तिके भाव उतने अलोचनात्मक नहीं हैं. पूछा, "व्यूहके नक्शेमें इला भी क्या किसी काम

आती है ?"

"इला !"

विस्मय-सम्बोधनके साथ यह कहकर इन्द्र एकदम चुप हो रहा. मैं अपेक्षामें रहा. लेकिन उसकी चुप्पीनिविड़ बनी रही. मैं उसमेंसे कुछ भी आशय न ले सका. कि अंतमें सहसा उसने घड़ी देखी और हार्न सुनाई दिया. उसने कहा, "चलिए !"

...हम लोग दस थे जिनमें दो महिला थीं. सब अभिजात जान पड़े और आधुनिक. नौसे लगभग ग्यारहतक भोजन और वार्तालापमें मेरा वहीं समय बीता. स्थानका मैं अनुमान न लगा सका क्या था. पर सातवीं मंजिल थी और स्पष्ट था कि वह कोई होटल नहीं है. मुझे मेजके शीर्ष-पर बिठाया गया. सामने दूसरी ओर एक महिला और किनारे दाहिने हाथपर इन्द्र. स्पष्ट था कि वे सब लोग समाजमें अपना स्थान रखते हैं, सम्पन्न हैं और इन्द्रके सहयोगी हैं....उनकी चिंता मालूम होती थी कि मैं बताऊं, अमेरिकाके क्या इरादे हैं और उसकी पर-राष्ट्रनीतिका स्पष्ट लक्ष्य क्या है ? जयके प्रति मेरे सम्बंधके विषयमें अधिक प्रश्न नहीं पूछे गए, बल्कि मुझे विस्मय हुआ जब बहुत समयतक चर्चा इसपर केन्द्रित रही कि आदर्शवाद क्या कर्मके क्षेत्रमें विज्ञान सम्मत और तर्क संगत है, या अंततः वह केवल एक भावनावाद है ? जान पड़ा कि वे सभी कुशाग्र बुद्धि हैं, बातकी तहमें जाना चाहते हैं और निम्नताओंसे उनका संबन्ध नहीं है. आयुमें सभी तीस और पैंतालिसके बीच होंगे. केवल दूसरी महिला के सम्बन्धमें, जो इंद्रसे एक कुर्सीके अंतरपर बैठी थीं, मैं सही अनुमान न कर सका. उनके बराबर जो युवक थे वह भी शायद कम अवस्थाके हो सकते हैं. उनके हावभावमें तनिक अधिक कोमलता थी और वह बोलनेसे अधिक सुन रहे थे.

भोजन समाप्त कर हम जिस कमरेमें आए वह काफी बड़ा था और मालूम होता था कि एक प्रकारके आडिटोरियमके काममें आता रहा है. कोई पचास-एक आदमियोंके बैठनेके लिए कुर्सियां थीं, और सामने उठा

हुआ स्टेज. वहां संगीत आदिकी व्यवस्था थी और मुझे प्रसन्नता हुई कि वह महिला इस विषयमें इतनी निपुण हैं. कुल मिलाकर संगीत मुझे बहुत प्रिय रहा जो पूर्व-पश्चिमके योग साधनमेंसे बना था. फिर कुछ नृत्य भी हुआ, यद्यपि मैं स्वयं निमंत्रणको स्वीकार नहीं कर सका. जान पड़ा इन्द्र का यह अलग लोक है और मुझे आनन्द हुआ. निश्चय ही मुझे इसकी कल्पना न थी. मानता था कि यह व्यक्ति सीधी ज्यामति रेखामें चलता है, उसीमें सोचता है,और अपनेको इससे उधर-उधर हटनेके लिए अवकाश नहीं देना चाहता. उसकी दुनिया एकदम दो हिस्सोमें बंटी है, यह कि जिसको वह मानता है, और सामने वह कि जिसको एकदम इंकार करनेको तय्यार है. विचार लगभग हमारे साथ यही किया करता है. बांट कर समूचेको दो हिस्सोंमें कर देता और मानो सवाल बना देता है : यह या वह ? तब संगीत और साहित्य और कला जैसी चीजें आकर मानो इस विचारकी क्षतिपर सेतु बनाती हैं और इस-उसके विग्रहको भी कुछ अर्थ और रस दे आती हैं. मुझे सच ही विस्मय हुआ कि इंद्र कैसे इन सबके साथ रहकर इतना सख्त और सतर्क रह पाता है.

चला तो इन्द्रने मुझे कहा, कि वे सब लोग यदि भारतमें आपको सहना नहीं चाहते हैं तो कारण कुछ गहरा होना चाहिए, क्योंकि आप स्वीकार करेंगे कि वे सब ही सज्जन और सहृदय हैं.

मैं नहीं जान सका कि क्यों मैं उनके लिए असह्य था. लेकिन इतना स्पष्ट देख पाया कि इन्द्र जो विचार चाहे उनमें रख सकता और वहांसे अपनी-सी प्रतिध्वनि प्राप्त कर सकता है. उन सबको क्या सूत्र एक और इकट्ठा रखता है मेरे अनुमानमें नहीं आ सका. हो सकता है सबमें एक स्थापित स्वार्थ हो, सबकी स्थिति एक दूसरेपर निर्भर हो और इस तरह सब मिलजुलकर समाजमें संपन्न बनकर उसपर उठते आ रहे हों. वह जो हो, लेकिन इतने सुशिक्षित सभ्य और स्वस्थ स्त्री और पुरुषोंकी एकस्वरता मुझे भली ही मालूम हुई. यह भी देखा कि सब साधारण चिंताओं से मुक्त दीखते हैं और उनके पास अभाव नहीं है.

मैंने ट्रेनमें बैठकर इन्द्रसे पूछा, "क्या ये लोग तुम्हारे निर्णयोंमें साथ हैं."

इन्द्रने कहा, "नहीं, मैं अपना निर्णय स्वयं पाता हूं और बहुत-सी बातोंका इनमेंसे किसीको पता नहीं है. ये तो होनेपर साथ हैं, उससे पहले नहीं."

मैंने कहा, "इन्द्र, जयको इस बीच तुम्हारा पता क्यों नहीं रहा ? और अब है तो कितना पता है ?"

इन्द्र मुस्कराया, कहा, "मुझे नहीं मालूम. लेकिन उसका मार्ग दूसरा है"

"दूसरा, या ने ?"

"मैं प्रश्नसे चलता हूं. वह उत्तरसे चलता है. हममें मेल नहीं है."

मैं अचम्भेमें पड़ा, फिर पूछा, "साफ कहो, क्या मतलब हुआ?"

बोला, "मतलब और क्या होगा ? वह श्रद्धासे चल सकता है, जिसको मैं मान नहीं सकता. ईश्वर अन्तमें हमारा—बनाव है."

मैंने इन्द्रको देखा पूछा, "तुम यहां बम्बई आज कब और कैसे पहुंचे थे ?

मेरे मनमें प्रश्न घुमड़ता रहा था कि स्टेशनपर उतरने के बाद फिर क्या हुआ ? पर सामनेसे उत्तरकी राह बन्द थी.

ट्रेन चलनेको हुई और उसने कहा, "कह दीजिएगा कि चाहे तो वह मुझसे बात कर सकते हैं. फोनसे या बेतारसे, शाम छः बजेतक. और कष्टके लिए क्षमा कीजिएगा."

. फिर रेलमें हूं और वापिस शिवधाम जा रहा हूं. उसी तरह अकेला. लेकिन अब बारह बजनेको हैं. अजब यह चार-पांच घंटे बीते हैं. जैसे जीवनका एक प्रक्षिप्त पृष्ठ हो. यह व्यक्ति यदि नाट्कीय नहीं है तो सच ही अनोखा है. पर शायद हम सबमें बहुत कुछ नाटकीय हैं. क्या दीखते और समझे जाते हैं, मानो बहुत कुछ हमारा होना इसीमें समाया रहता है. लेकिन फिर जो इन्द्रमें यह एकान्तमें अध्ययनका व्यसन है, यह क्या

है ? यह तो नाटकका भाग नहीं हो सकता—

अकेला लौट रहा हूं, लेकिन विफलताका बोध नहीं है. जानें क्यों लगता है इन्द्र आएगा, और जयके साथ उसमें पड़ीं सलवट भी समयपर दूर हो जाएगी. और तब ?—तबका अनुमान नहीं कर सकता हूं. किन्तु जिस अघट घटनाकी बात कह रहा था, वह क्या हो सकती है ?

बारह हो गया है. सवेरे जग पड़ना है, अब सोऊं.

११ अप्रेल—

आते ही मैंने जयको सब सूचना दी. वह अपने कक्षमें अकेले थे और सचिवको नोट लिखा रहे थे. सुनकर कुछ नहीं बोले. मैंने बताया कि शामतक इन्द्र अपनी जगह और शायद आपसे सुननेकी राहमें रहेंगे. सुन लिया, अब भी उत्तर नहीं दिया. मैं उठूं इससे पहले उन्होंने सचिव को आगे बताना आरम्भ कर दिया. इससे मुझे कुछ नहीं रहा और मैं वहांसे चला आया.

.. नाथ लोग बराबरकी कुटियामें ठहरे हैं. पति-पत्नीके अतिरिक्त दो सहायक. दोनों कुटियोंके द्वारोंमें केवल कुछ पगोंका अंतर है. लेकिन अभी सवेरा था और जयसे मिलकर मैं अपनी जगह विश्रामके लिए आ गया.

उठा तो साढ़े आठ हो चुके थे! बड़ी ग्लानि हुई. क्यों कि सातका समय प्रातराशका था और आठ बजेसे वार्तालापका आरम्भ हो जाने-वाला था. लेकिन निवृत्त हुआ कि देखा कि जयके सचिव मेरे प्रति उद्यत हैं. मालूम हुआ, वह वर्तालापके लिए आवश्यक न थे और जयने कहा था कि मुझे जगाया न जाए और मेरा वह ध्यान रखें. इसलिए यद्यपि नियम विरुद्ध था तो भी साढ़े आठ बजे मुझे कुछ नाश्ता मिल गया और हम शिवधामकी प्रवृत्तियोंको घूमकर देखते रहे. जिस जगह वार्तालाप हो रहा

था वहां सिवा इसके कुछ विशेपता न थी कि वाहर एक साधक-स्वयं-सेवक द्वारपर था और दो तीन साधिकाएं व्यस्तताके भावसे वाहर भीतर आती जाती दिखाई दे जाती थीं.

मालूम हुआ कि वार्तालापमें कुल ग्यारह व्यक्ति सम्मिलित हैं. पांच को तो मैं जानता ही हूं, शेप छ:से मेरा परिचय नहीं है. मालूम हुआ कि उन छ:में से दो ही एसे हैं जिनको जयका यत्किंचित समर्थक कहा जा सके. शेप चार निश्चितरूपसे अ-समर्थक हैं. इला अपने कामधाममें हैं, स्वागत-सत्कारका भार उन्हींपर है. वारह वज़े लौटा तो वर्तालाप जारी था. मैंने सचिवको धन्यवाद दिया और वह मुझसे छुट्टी पाकर सभा-मंडपमें चले गए. सोचा, समय है, मैं इलासे मिल सकता हूं. वह रसोईमें मिलीं, जहां अपने हाथसे पतलोंको गिनकर एक ओर रख रही थीं. मुझे देखकर कहा, "आइए, मुझे सहायककी आवश्यकता थी." मैंने काममें कुछ उनका हाथ वटाया, किंतु काम लेनेके अतिरिक्त उन्होंने मुझसे किसी तरहकी जिज्ञासा नहीं की. मैं भी असमंजसमें रहा कि क्या कहूं, क्या पूछूं ? तो भी कुछ कहनेके लिए कहा, "सव पतलोंमें ही खाएंगे ? इसी तरह, नीचे वैठकर ?"

अचरजसे पूछा, "क्यों ?"

"असुविधा तो न होगी !"

"क्या सव आत्मीय नहीं हैं? आत्मीयतामें असुविधा हो सकती है?"

"नाथलोग कव आए ?"

"शाम आ गए थे."

उत्तरमेंसे किसी प्रकारका प्रोत्साहन नहीं मिला. स्मित होता, व्यंग होता, उदासीनता होती तो सहज अगला प्रश्न भी मुझमें उठता. किन्तु जिस ध्वनिमें उत्तर आया उसमें एक ऐसा समाप्त समाधान-सा जान पड़ा कि प्रश्नकी अपेक्षा न थी. तो भी हठपूर्वक कहा, "क्या नाथलोगोंने मुलाकात ली थी ?"

"हां, समागत लोग सभी मिले वोले थे."

स्पष्ट था कि किसी प्रकारकी अन्य चर्चाके लिए इलाके पास रुचि या अवकाश नहीं है. मैंने कहा, "मैं बिल्कुल वेकार हूं, इसलिए आप मुझे किसी प्रकारकी सेवा वता सकती हैं."

वोलीं, "जयसे प्रमाणपत्र ले आइए कि आप खाली हैं. क्योंकि काम यहां वहुत है और आपको फिर फुरसत न रहेगी."

...मैं अपनी जगहपर था कि एक वजेके लगभग जय आए, द्वारपर होकर वोले, "तुम यहीं योंही तो नहीं रहे न...अव तैयार हो जाओ. पांच मिनटमें मैं आता हूं."

सचिव साथ था, साथ गया. ठीक समयपर जय लौटकर फिर द्वार-पर आए और मैं साथ हुआ. राहमें पूछा, "आप इजाजत दें तभी इला मुझे यहां काम देगी, वैसे खाली हूं."

वोले, "अव मैं भी खाली हूं, शायद कल शामतक. वे लोग कष्ट देना चाहेंगे तभी मेरे लिए काम होगा."

हम साथ चल रहे थे.

"—कह दिया है कि आप लोग जिस एक निर्णयपर आएं मुझे स्वीकार होगा. शासनपर रहकर स्पष्ट हो गया है कि मैं वहांसे वही कर सकता हूं, अपना काम नहीं कर सकता. हम सव एक हैं, पर सरकारोंसे अलग हैं. संगठित सत्तापर वैठकर मानवजातिकी एकताका काम आदमी सही तौरपर कर सकता है, यह भ्रम अव मेरे मनमें नहीं है. अवतक कुछ था, शिवधाम आकर वह काई मनपरसे हट गई है. मालूम भी न था कि मैं यहां आकर यह कहनेवाला हूं, पर अव तो साफ कह दिया है. इसलिए समझो छुट्टी ही छुट्टी है."

चलते जा रहे थे और जैसे मैं सुन ही सकता था, कहनेको मेरे लिए कम अवकाश था. तो भी कहा, "मंत्रिमंडलने क्या आपको यहांतक अधिकार दिया था ?"

"अधिकार तो चर्चाका था....इसीलिए आज ही उपप्रधानको वुला लेना होगा. दलके असल मालिक वही हैं. वह इन लोगोंके साथ शामिल

हो सकते हैं. मैं तो, मुझसे दलको सुविधा हुई इससे, आसनपर हूं, नहीं तो जानते हो दलका नहीं हूं."

"सबसे पूछ लिया है इसके लिए आपने ?"

"हां, कह दिया है और उनको अमान्य नहीं हुआ है. लगता है स्वयं वे मुझसे किसी अन्यको चाहते थे...सच ही ऐसी बातोंके लिए मैं पात्र व्यक्ति नहीं हूं."

भोजनशाला सामने थी जहां स्वयंसेविकाएं दीखीं. मैंने कहा, "आपके बिना निर्णय हो सकेगा ?"

"बातचीत जरूर ठीक तरह आगे बढ़ सकेगी. निर्णयका रूप देनेमें मुझे फिर क्या लगता है."

मुझे कुछ समझ न आया. जयको अलग रखकर बात चलाना जिन्होंने स्वीकार किया वे कैसे राजनीतिज्ञ हैं, सच ही समझ न आया. कहा, "अपने द्वितीयको बातचीतके लिए बुला देंगे, इस आश्वासनपर सचमुच क्या उन्होंने आपको छुट्टी दे दी ?"

बोले, "आचार्यने मेरी सहायताकी. उन्होंने मान्य किया कि वह इस मंत्रणामें मध्यस्थका भाग लेना स्वीकार करेंगे, और उन्होंने ही सिफारिशकी कि मैं चाहता हूं तो मुझे उस मंत्रणासे बाहर रहने दिया जाए !"

बात मुझे हृदयंगम हो कि भोजनशालामें हमने प्रवेश किया और मेरा साथ छोड़कर जय आगे बढ़े. अभ्यागत लोग सब ही लगभग वहां थे, लेकिन कोई अभी बैठा न था, एक ओर झुंडमें खड़े बात कर रहे थे. उनमें मुझे स्वामी कहीं दिखाई न दिए. जयने बढ़कर नायका अभिनंदन किया और हाथसे लेकर उन्हें किनारेपर बिठाया, शेषसे कहा कि वे भी विराजें. लगभग सब बैठ गए. लिजा अकेली महिला थी, और क्षणके लिए उसे असमंजसमें देख जयने कहा, "श्रीमती, आप पांतसे बाहर रह गईं. आइए, हमारी अलग पांत सही."

कहकर जय सामने दूसरी पंक्ति बनाकर एलिजाबेथके साथ विराज

गए. आचार्य शालाके शीर्षपर खड़े थे और व्यवस्था देख रहे थे. मैं जहां बैठा था वहांसे देखा कि आचार्य जोरसे बोले, "इला, तो मैं भी अलग क्यों, यहां ही रहने दो." कहकर बढ़ते हुए आए और एलिजाबेथके बराबर आकर तीसरे वह बैठ गए.

एलिजाबेथ कुछ देरके लिए अवसन्न-सी दीखी थी. किन्तु आचार्यके बराबर बैठते ही उसने आचार्यसे जल्दी-जल्दी कुछ कहना शुरु कर दिया.

मेरी पंक्तिमें जो थे उनसे परिचित न था. असमंजस था कि मेरे परिचित नाथ एक सिरेपर हैं तो मैं दूसरेपर, और जिन दूसरोंसे थोड़ी बहुत मैं खुलकर बात कर सकता हूं वे भी सुलभ नहीं हैं. किन्तु कुछ न हो सकता था. जयने दुविधाको काटनेके लिए अभी मेरा सबसे परिचय भी न कराया था...पतलपर जो परोसा गया भारतीय मानकी दृष्टिसे भी वह अति सामान्य था. आचार्यके सामने मिट्टीकी एक थाली आई और उनका भोजन भिन्न था...खाते-खाते सहसा जोरसे जयने मेरा नाम पुकारा और परिचय भी दिया. तब मालूम हुआ कि मेरे पास है. वह बड़े प्रतिष्ठित पुरुष हैं, और जो दल इस समय शासनपर है कभी उसके अन्यतम नेता रहे हैं. लेकिन अब कट्टर विरोधी हैं. उनका ध्यान मेरी ओर न था. परिचयके बाद उन्होंने बताया कि वह जयके प्रशंसक हैं पर सामुदायिक भावसे काम करना जयको अभी सीखना है और एक नेतृत्व का अभ्यास व्यक्तिमें नाना प्रकारके दोष ले आता है!

मैंने उनसे पूछा, "क्या जय आपकी आगेकी बातचीतके लिए आवश्यक नहीं हैं?"

बोले, "अच्छा ही है, बातचीतमें वह बहुत निस्संग बनते हैं तो क्या लाभ हो सकता है. उतने निस्संग हों तो भी कुछ है, पर कूटनीति हो तो आपसी वार्तालापमें उससे सहायता नहीं होती."

मैंने पूछा, "क्या अधिकांशकी यह धारणा है कि ऊपरसे वह शासन छोड़नेकी बात कहते हैं तो अन्दर कहीं उसे पकड़े रहनेकी भी भावना है?"

"अपने उपको बुलाकर हममें शामिल करनेके प्रस्तावका नहीं तो क्या अर्थ है ?"

"लेकिन क्या यह प्रस्ताव उनका था ?"

"नहीं तो किनका था ?"

"हो सकता है उन्होंने सोचा हो कि आपकी बातचीत पक्की होगी अगर शासनासीन दलकी भी सहमति हो."

"वही तो, जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर क्या यह दूसरेकी ओट लेना भर नहीं है ? और यह सच है कि आनेवाले महाशय किसी संधि प्रस्तावमें विश्वास नहीं करते. मैंने पहले भी कहा था कि कहीं कुछ भेद है. वह अब साफ खुल जाता है."

अजब मालूम हुआ. कहा, " यह भी तो हो सकता है कि आप उनसे बात करनेमें अधिक सुविधा अनुभव करें. बात तो अन्तमें इसपर आए बिना नहीं रहेगी कि कहां कितनी जगह कौन वर्ग पाए. यह काम तो जयके मानका नहीं है."

"आप यही मानते हैं ?"

मैंने उन सज्जनकी ओर देखा. लगभग मेरी ही आयुके थे और अभिजात्य प्रगट था. उनकी बातमें जोर था और वह जोर, साथ खाना खाते जानेसे, कुछ घटता न था वल्कि बढ़ता ही जान पड़ता था.

"हां," मैंने कहा, "मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है."

सज्जन हंसे, बोले, "हम यहां भुगतकर जानते हैं, आप दूरसे देखकर. नेतृत्व सरल चीज नहीं है कि तत्वसूत्रमें उसकी कुंजी हो. आप समझते हों कि सचाई और भलाईके बलपर कोई नेता बनता है, तो मुझे क्षमा कीजिए, आपको अभी समझना और बाकी है."

सज्जनकी स्पष्टता मुझे अच्छी लगी. मैंने कहा, "तो आप मानेंगे कि दलके उपनेता जो आएंगे सो पीछेसे उनको चलानेवाले जय होंगे!"

बोले, "आप जानते हैं." और कहकर वह खानेमें व्यस्त हो गए.

मेरी निगाह सामने गई. एलिजाबेथ कहे जा रही थी और कहे जा

रही थी. क्या, इसका अनुमान न हुआ. बात आचार्यके प्रति थी जिनका ध्यान उधर प्रतीत न होता था.

ऐसा जान पड़ा कि आचार्यने कुछ उत्तर दिया है. संक्षिप्त वह उत्तर था, और यद्यपि उसके शब्द सुनाई नहीं दिए किंतु संकेतसे स्पष्ट हो गया कि आचार्यने कहा है कि इस सम्बन्धमें जयसे ही कहा सुना जा सकता है. आचार्यका उत्तर सुनकर लिजाने जयकी ओर रुख किया. शायद वह मानती थी कि बात जय सुन ही रहे हैं, इसलिए उस ओरसे अनायास कुछ कहा जाएगा. पर अपेक्षासे उस ओर देखते रहनेपर भी जयको जब चेत न हुआ तो लिजाने मुड़कर फिर आचार्यको देखा और कहा, "लेकिन वह तो कहीं और हैं !" आचार्यने सुनकर सिर उठाया, एलिजाबेथके पार जयको देखा और खिलखिलाकर हंस पड़े. क्योंकि उसी क्षण जयने भी उस ओर दृष्टिकी थी, और मुझे उस दृष्टिमें मानो निवेदन दीखा था कि मैं निर्दोष हूं, किसी उत्तरका पात्र नहीं हूं. दृष्टिमें उस कृपायाचना का भाव पाकर ही क्या आचार्य इस प्रकार खुलकर हंस आए थे. लिजा उस खिलखिलाहटपर एकदम अप्रतिभ हो आई थी. आचार्यने कहा, "बताओ क्या करूं ? वह तो दोष स्वीकार कर रहा है !"

आचार्यका यह वाक्य मुझे सुनाई दिया. पर उसकी संगति मैं किसी तरह नहीं जोड़ सका.

जयने लिजाको कहा, "मैं आचार्यके साथ आपका भी आज्ञानुवर्ती हूं, आश्वासन क्या फिरसे मुझे देना होगा ?"

लिजाने कहा, "मैं आचार्यसे कह रही थी और आपसे कह रही हूं कि हम सबको बुलाकर आप खुद बाहर हो जाएं यह ठीक नहीं है. और मैं अनुरोधपूर्वक कहती हूं कि यदि ऐसा होगा तो कमसे कम मेरे बातचीतमें सम्मिलित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती. मैं मानती हूं कि निमंत्रण मुझे आपका था, अन्यथा राजनीतिक चर्चामें मैं अनिवार्य नहीं हूं."

आचार्यने हंसकर कहा, "जय, एलिजाबेथ सही तो हैं."

जयने भी हंसकर कहा, "वेशक."

एलिजावेथ इन दोनों उद्‌गारोंपर संभ्रमित रह गई. वोली, "आप मानते हैं कि वात फिर भी आगे बढ़ती जा सकेगी ?"

आचार्य वोले, "अगर तुम चाहो तो क्यों नहीं."

"मेरे हटनेपर—?"

"हां, उस हटनेपर चाहो तो और भी."

जयने कहा, "लेकिन, मिसिज नाथ, आप नहीं हटेंगी. इसी भरोसे तो मैंने छुट्टी लेना चाहा था. पुरुष लड़ते हैं, मेरे हटनेसे एक लड़ाई-वाला हटता है. आपके हटनेसे मेलवाली शक्ति हटेगी, जो हमारे वीच एक ही है."

हम लोगोंका ध्यान अनायास उधर हो गया था. यह पहचानकर लिजा कुछ और भी घवरा-सी आई, वोल उठी, "नहीं, हरगिज नहीं !"

इस उद्‌गारका आशय किसीको समझ न आया. उस समय इला पात्र लेकर कुछ परोसती हुई सामने उपस्थित हुई. जयने कहा, "आपकी सहायताके लिए क्या मैं इनसे निवेदन करूं ?"

लिजाने जयको देखा. जयकी हंसीमें व्यंग था. कुछ घवराहट और कुछ रोपमें वह लाल-सी पड़ आई. इतनेमें झुककर इलाने कहा, "लीजिएगा ?"

लिजाने अनायास दोनों हाथ पतलपर फैलाए, कहा, "धन्यवाद."

इलाने झुका हाथ खींचा और वह आगे वढ़ गई.

...यह सब मुझे याद हो आया जब तीसरेपहर सुना कि जय और लिजामें वात हो रही हैं और लिजाकी आवाज कभी मुझ तक सुनाई दे आती है. क्या वातें हुईं कह नहीं सकता, लेकिन अन्तमें सुन पड़ा कि लिजा ने पूछा, "यह आपका निर्णय है ?"

उत्तर क्या दिया गया सुनाई नहीं दिया.

"फिर पूछती हूं, यही आपका निर्णय है ?"

शायद फिर कुछ उत्तरमें कहा गया जो मेरे लिए उसी तरह अन-

सुना बना रहा.

"तो ठीक है...मुझे दोष न दीजिएगा."

इस आहटपर मैं सजग हो आया था. तभी दीखा कि कुटीकी बैठ-कसे झपटती हुई लिजा निकली और तेज कदमोंसे खट-खट करती हुई बढ़ती चली गई. क्या वह कुछ बीचमें ठिठकी भी ? कह नहीं सकता, शायद मेरे मनका अनुमान हो. मेरी निगाह उसीपर बंधी थी, और मुझे मालूम हुआ कि सन्नद्ध नारीका सौन्दर्य कुछ अलग ही होता है.

तत्काल उठकर मैं जयके पास गया. वह अकेले झुके कुछ लिख रहे थे. चेहरेपर कुछ उद्विग्नता नहीं दिखाई दी. मैंने कहा, "आपने क्या अभी ऐलीजावेथको नाराज भेजा है ?"

अचरजसे आंख उठाकर मुझे देखा, मुस्कराए और नीची आंखकर पत्र पूरा करनेमें लग गए. स्टूल खींचकर मैं बैठा और इन्तजार करता रहा. लेख पूरा हुआ तो बोले, "पहरेपर थे क्या ?"

मैंने कहा, "लिजा नाराज गई है और यह शुभ नहीं है."

हंसकर बोले, "जाओ, मनाकर ले आ सकते हो ?"

"क्या बात थी ?"

"—उसे स्वयं अपना पता नहीं है."

"लेकिन वह नाथको बिगाड़ सकती है और एक कड़ीके बिगड़नेसे सब कुछ क्या न टूट जाएगा ?"

"जुड़ा ही नहीं उसके टूटनेपर पछतानेकी तो कोई बात नहीं है!"

"वह चाहती क्या है ?"

"विशेष नहीं, यही कि बातचीतमें सम्मिलित रहूं. ऐसे जो निर्णय होगा मुझपर भी आएगा, अन्यथा मैं उससे निकल भी सकता हूं. मैंने समझाया कि वह शंका निर्मूल है. बल्कि शंका उल्टी यह है कि मेरे उपस्थित रहते निर्णय होनेमें बाधा हो...पर वह मानती नहीं है, बल्कि मानती है कि मेरा अलग रहना उसकी वजहसे है—"

मैंने कहा, "आपको वार्तालापमें सम्मिलित रहना चाहिए था. बुला

कर आपके स्वयं तटस्थ हो रहनेको कोई सही नहीं समझ सकेगा."

"लेकिन सम्मिलित पदको होना है, मुझे तो नहीं. और वह काम उपनेतासे और अच्छा होगा."

"लोग इसमें अपना अपमान समझें और आपका अभिमान, तो वह तर्कहीन तो न कहा जाएगा."

"शायद नहीं. लेकिन सवेरे मैंने पूरी तरह अपना मन खोलकर सबके सामने रख दिया है. जो मेरा काम हो सकता था, और होना चाहिए, उससे मैं अधिक बिछुड़ा नहीं रह सकता. शासनपर रहना उस बिछोहको कायम रखना है. वह भाव लेकर तुम ही सोचो मैं उस आसन के साथ कैसे न्याय कर सकता हूं...फिर स्वामीने तो अपना मत स्पष्ट कर ही दिया है !"

यह मेरे लिए नया था. कहा, "स्वामी ! उन्होंने क्या कहा ?"

"उन्होंने साफ कहा, और ठीक कहा, कि यद्यपि वह आ गए हैं लेकिन जयको शीर्ष स्थानपर लेकर बात चलाना ठीक नहीं होगा—"

"तो इस सबके मूलमें स्वामी हैं. और आप हैं कि उन्हें अवसर देते हैं !"

"नहीं, अवसर दे नहीं ले रहा हूं. बहुत दिनोंसे मनमें था कि राज्य प्रेमका अस्त्र नहीं हो सकता. वह आवश्यक हो, लेकिन जिसका सर्वस्व प्रेम हो उसके लिए राज्य यंत्र वर्जनीय और निषिद्ध हो रहना चाहिए. फिर जाने किस मोहमें मैं खिंचा चल रहा था. स्वामीने उसे तोड़ दिया है और यह मेरा बहुत ही बड़ा उपकार उन्होंने किया है."

मैंने खिन्न भावसे कहा, "मैं न मानता था कि आप इस तरह तनिक दबावके नीचे बिखर रहेंगे..."

जयने ऊपर निगाह कर मुझको देखा. अबतक शून्यमें देख रहे थे. उन आंखोंमें शुद्ध विषाद दिखाई दिया. बोले, "ठीक है, तुम मुझे वीर होनेका उपदेश दोगे. लिजा भी कुछ वैसा ही कह रही थी. वमका गई है कि और कुछ नहीं होगा, स्वामीकी एक न चल पाएगी और मेरे लिए

आसनसे उतरनेका अवसर न होने दिया जाएगा...मैंने कह दिया है कि जो हो गया मेरी तरफसे तो हो गया. पीछे देखने और पग रखनेका मेरा अभ्यास नहीं है. इसलिए, विलवर, वह छोड़ो."

सुनकर मैं हैरतमें हो आया. पूछा, "और आचार्य ?"

"उनसे अलग वात नहीं हुई है. लेकिन जानता हूं उनका इसमें आशीर्वाद है."

निगाह उनकी मुझपरसे हट गई. फिर वह उसी शून्यमें स्थिर हो आई. मुझे गहरी सहानुभूति हुई. इस निर्णयमें जयके पास इस समय कौन है? इला तो शायद जानती भी न हो. तो क्या इस अपने वड़े निर्णय में जय सर्वथा एकाकी हैं और एकान्त ?

पूछा, "और नाथ ?"

"नाथ तो मौन ही रहे. स्वामीकी वातका किसीने विरोध नहीं किया. सच यह कि उसके लिए आधार मैंने ही दिया था. आरंभमें मैंने ही कहा था कि यद्यपि आप सवलोगोंको एकत्र वुलानेका दायित्व मुझपर है, फिर भी अनुमान है मेरा इसमें योग विशेष लाभकारी नहीं हो सकेगा. चाहता हूं, आपलोग निर्विघ्न विचार करें. मेरी ओरसे इसका वचन मानकर कि जो भी आप स्थिर करेंगे उसका पालन होगा, मुझे आप एकदम गिनतीसे वाहर कर दें. लिजाने कहा कि इससे वह सहमत नहीं हो सकती है ...उसके वाद चर्चामें औरोंने भी भाग लिया. अंतमें अपना वक्तव्य देकर मैं उठ आया कि कल शामतक तो आप मेरी छुट्टी मान ही लें. उसके वाद चाहेंगे तो आपके वीच भी आ जाऊंगा. अवश्य छुट्टी इस दायित्वसे नहीं है कि आपका निर्णय कार्यान्वित हो, उसके लिए तो मेरा जीवन अपने पास वंधक माने.. लेकिन, विलवर, उन्हें मैंने नहीं कहा तो क्या, ध्वनिने मेरे भीतर कह दिया है कि शासनके आसनसे अव मेरा किसी तरहका लगाव नहीं रह सकता."

"ध्वनि !" मैंने संशयपूर्वक कहा, "यानि इस निर्णयका दायित्व आप अपने ऊपर नहीं मानते हैं ?"

"हां. मैं अपनेको इस संबंधमें विवश ही देखता हूं. निर्णय मैंने बनाया नहीं, पाया है. बनाता तो आप सबलोगोंके कहने सुननेसे उसको तोड़ भी सकता था. लेकिन वैसी बात नहीं है. तुम्हें कहा था मैं अपना मालिक नहीं हूं, तो जो मालिक है उसका कहा टाल कैसे सकता हूं ?"

मैं नहीं समझ सका. सच ही मैं भारतीय व्यक्तिको इस जगह समझनेमें असमर्थ रह जाता हूं. कोई तर्कसे ऊपर कहीं अपने लिए जगह बना ले तो वहांसे नहीं जानता उसे डिगाना कैसे हो ? देखा कि जयकी स्थिति इस समय उसी तरह अगम्य और अतर्क्य है.

पूछा, "लिजाका क्या विचार है ?"

"विलबर, प्रसंग यह छोड़ो." कहते-कहते विषादमें भी वह मुस्कराए, बोले, "लिजा मुझे कायर नहीं बनने दे सकती है. यही कहने वह आई थी."

"फिर?"

उसी मुस्कराहटसे कहा, "जो है ही कायर, उसे बननेकी तो कोई आवश्यकता नहीं है !"

"यही आपने कहा ?"

"हां, यही कहा."

कहनेके स्वरपर मैं व्यग्र हुआ, बोला, "कृपया अपनी ओरसे प्रश्नको न देखिए...आपके हटनेसे क्या स्थितिमें एक शून्य न हो आयगा ? और फिर सब हल्के तत्वों के आ घुमड़नेसे जो एक आवर्तकी सृष्टि होगी. उसकी कल्पना आपको है ? उसी अनिष्टको आप निमंत्रण देने चले हैं ?"

म्लान मुस्कराहट थी और वही दूरस्थ दृष्टि. बोले, "आदमी यही सोचा करता है. अपनेको केन्द्र मान लेता है और फिर तर्क करता है कि केन्द्र गया तो वृत कैसे टिक पायगा ?...विलबर, ब्रह्माण्ड ज्यामिति का वृत्त नहीं है. यहां जीव सब केन्द्र हैं, और हर जीव प्रतिक्षण मर-जी रहा है. किंतु हरेक केन्द्र अपने ही वृत्तका है, इसलिए हर मरने और हर

जीनेमेंसे सत्य स्खलित तनिक भी नहीं होता, यह तो इस तरह उत्तरोत्तर प्रकाशित और सिद्ध ही होता जाता है...कौन जाने कि इस समय यही आवश्यक और उपयोगी हो कि स्थिति शून्य वन आए, आवर्त घुमड़े और शक्तियोंके नये संतुलनका उसमेंसे उदय हो...वह जो हो, मैं पा गया हूं कि यह सब विचार मेरे लिए अयथार्थ है, इसलिए यथार्थकी ओर जानेसे अब मुझे कोई या कुछ रोक नहीं पायगा...लिजाको मैं समझा नहीं सका, किसी औरको भी कैसे समझाऊं ? लेकिन तुम, विलवर, समझोगे कि यह कदम मेरे लिए पीछे हटनेका नहीं है आगे बढ़नेका ही है. क्या मैं इतना निकम्मा हूं, या निकम्मा ही मुझे बने रहना है, कि राज मेरे सामने रहे पीछे न हो पाए ! सुनो, अब मैं उसे पीछे ही छोड़ आया हूं, क्योंकि पुकारपर आगे बढ़नेसे मुझे रोका नहीं जा सकता...राज कई हैं और रहेंगे. लेकिन मानवता एक है. मुझे विग्रहका नहीं रहना है, मुझे उस एककी सेवामें होना है. और जब मैंने आवाजको पहचान और सुन लिया है तब ऐहिक उपयोगकी कोई भी वात मुझे उसके पीछे चलने से रोक कैसे सकती है !"

सुनकर मुझे कष्ट हुआ और एकाएक कहा,

"—और इन्द्रमोहन ?"

"इन्द्रमोहन !" झटका लगा हो ऐसे वोले, "शायद उसकी ही शरण अब मुझे जाना होगा."

"आपने उससे वात की है ?"

"हां, वह आज रात ही यहां पहुंच जायगा."

मुझे यह पता न था. जानना चाहा कि ठीक क्या वातें हुई. पर उन्होंने अधिक नहीं वताया. पूछा कि क्या इलासे इस संबंधमें परामर्श लिया गया है ? मालूम हुआ कि नहीं.

वात आगे अधिक न चल सकी. दोनों ही कुछ देर चुप रहे. फिर उन्होंने वह कागज मेरे सामने किया जो अभी लिखकर पूरा किया गया था. पत्रके रूपमें वह एक वक्तव्य था. देशवासियोंसे कहा गया था कि

वे उनके इस निर्णयको तत्पर होकर स्वीकार करें. उससे शक्ति जागृत होगी और निषेधात्मक राजनीतिकी समाप्ति होगी. जहां हूं, उस पदपर रहना आगे मेरे लिए असत्य और अधर्म होगा. परिस्थितियोंकी ओरसे भी इसलिए उसे अनुचित ही होना चाहिए. मैं अपनी राष्ट्रीय महासभा को अनुरोध करता हूं कि वह अपने उपनेताके द्वारा, आचार्यश्री के तत्वा-धानमें, विरोधी दलोंके परामर्शके साथ एक मिलीजुली सरकार बना लें. आशा है, देशवासी इस कदममें, जो समझ-बूझकर और शायद देरसे उठाया गया है, मुझे अपना बल देंगे.

पढ़ लिया और कागज मेरे हाथमें रहा. पूछा, "क्या जबतक चर्चा किसी अंतपर आए यह कागज रोका नहीं जा सकता ?"

बोले, "इससे उन्हें निर्णयपर आनेमें सहायता मिलेगी."

"तो क्या आप अभी इसे प्रकाशित करनेके पक्षमें हैं ?"

"नहीं, जिसके नाम है स्वयं अपने हाथों उन्हें देना चाहता हूं. प्रका-शन उनकी अनुमतिसे होगा."

...आगे जो हुआ उसकी तीव्रता मैं पकड़ नहीं सकता. उसके सूत भी उलझे हैं. जय और आचार्यकी भेंट हुई, जय और स्वामीमें बात हुई, स्वामी और लिजामें सुनता हूं गर्म विवाद हुआ, लिजा और नाथमें फिर तनाव पैदा हुआ, आदि आदि.

मैं अपने कक्षमें एक ओर रहा और स्थितिका तनाव उसी संध्यामें चढ़ता हुआ फटनेकी दशातक आ गया. इससे आगे अनुमानसे काम लेना होगा.

जयके पाससे लिजा लौटी तो बैठकके आरम्भमें ही उसने कहा कि हमारी यह चर्चा उस समयतक अवैध और अनर्थक है जबतक जय स्वयं उपस्थित न हों, और मेरा प्रस्ताव है कि हम लोग अभ्यर्थना और आग्रह के साथ उन्हें अपने बीच आनेका निवेदन करें.

स्वामीने इसका विरोध किया. साथ ही कहा कि भारतीय मामलोंमें

एक विदेशी महिलाका परामर्श आवश्यक नहीं होना चाहिए. वह यहां यदि सदस्यके रूपमें हैं तो कृपाके नाते ही हैं, अधिकारतः नहीं हैं.

नाथने इसपर आपत्तिकी, यद्यपि कहा कि श्री जयवर्धनकी उपस्थिति यदि इस समय नहीं है तो उनके वचनानुसार कल हमें प्राप्त होगी ही, और इस समय, मैं देखता हूं कि, उस अनुपस्थितिका चर्चाके पक्षमें कुछ लाभ ही हो सकता है. किन्तु स्वामीका यह साहस अक्षम्य है. जिनको विधिवत् निमंत्रण मिला है उनमें यदि कोई स्वामीको असह्य है, तो वह स्वयं यहांसे जा सकते हैं !

स्वामीने कहा कि भारतीयोंका भारतमें हक है, अभारतीय संस्कृति जिन्हें प्रिय है उनके लिए विलायती देशोंकी कमी नहीं है !

आचार्यने इस स्थितिमें शांति बनाए रखनी चाही पर वह सम्भव न हुआ. उत्तेजना बढ़ती गई और सभा भंग हो गई.

सभा तो भंग हुई, लेकिन उसके बाद आमने-सामने और छुटपुट वाद विवाद हो निकले. स्वामीके पक्षके लोग देखते-देखते उनके पास आ घिरे. नाथसे उनका वार्तालाप उग्र होता जा रहा था. मालूम हुआ कि उस समय स्वामीके कुछ लोगोंने नाथको अलग ले लिया और सम्भव था कि उनपर कुछ प्रहार होता कि तभी लिजाने बीचमें पहुंचकर जोरसे बांह खींचकर अपने पतिको समूहसे बाहर निकाल लिया. नाथमें आवेश था और वह कायरताके साथ इस तरह बचकर निकल जाना नहीं चाहते थे. वहीं सामना लेनेको उद्यत थे. लेकिन लिजा उन्हें खींचती ही ले गई और पति खिंचते हुए भी अपना आवेश पत्नीपर उतारते चले गए. उन्होंने सबके सुनते हुए कहा कि सब खुराफातकी जड़ तुम हो, और तुम्हें कोई हक नहीं था ! जो स्वयं अपनी इच्छासे चला गया है उसे अनुरोधपूर्वक लानेका प्रस्ताव करतीं, इत्यादि.

इस घटनाके बाद मंत्रणाओंका क्रम आरम्भ हुआ. अनुमानसे उनका चित्र अपने निकट प्रत्यक्ष करना चाहता हूं.

जय—आपके रहते, आचार्यश्री, यह क्या ?

आचार्य—स्वामीको संभालना मुश्किल है.

जय—लेकिन लिजा जानती थी कि मेरा वातचीतमें आनेका विचार नहीं है.

आचार्य—मैंने कहा था. यह भी कहा था कि जयकी अनुपस्थितिमें हम कुछ काल वातचीत चलाते रहे हैं, उसी भांति अब भी उसे जारी रख सकते हैं. लेकिन उसने आग्रह रखा कि नहीं, चर्चा यह अवैध है.

उत्तरकी जगह जयने अपना पत्र दिया. पढ़कर आचार्यने पूछा, "जय, यह क्या है !"

जय—आप जानते हैं, मेरी हार है.

आचार्य—इसकी तुम्हें अनुमति नहीं है, जय, यह संभव नहीं है!"

जय—अनुमतिसे और संभवतासे वात आगे पहुंच गई है, आचार्यवर. अवतक सहता रहा, क्योंकि सोचता था अनुमति नहीं है, और मेरे लिए अवकाश नहीं है. पर वह अपनेको समझाना अब मेरे लिए शक्य नहीं है. आपहीसे तो सीखा है कि राजका यंत्र हिंसाका है, अहिंसाके आदमीको वहां वैठना नहीं है.

आचार्य—लेकिन तुम मेरी तरह नहीं हो, जय, तुम क्षत्रिय हो.

जय—वह मुझे मालूम नहीं है. लेकिन अब मैं पदपर रह नहीं सकता हूं, यह स्थिर है.

आचार्य—पर अभी ठहरो.

जह—आप कहेंगे तो ठहरना होगा. पर क्यों ?

आचार्य—स्थितिको संभलने दो.

जय—वह नहीं संभलेगी, आचार्य. संभलनेके उपायका [illegible] ही यह कागज है. सामने दायित्व होगा तो विवाद शायद समझौते [illegible] मार्ग पा जाए. सव दल राजके तन्त्रको ही तो हथियाना चाहते हैं. वह [illegible]ली दीखे

तो हो सकता है कि चाहकी बात न रह जाए, बात उनमें उसके बंटवारे की होने लग आए...राज्य बड़ी चीज है और करोड़ोंका सुख-दुख उसमें गर्भित है. लेकिन अब यही करना चाहता हूं कि उन करोड़ोंको कहूं कि अपना सुखदुख मुक्त बनाओ, राजके अधीन उसे न होने दो. शासन कभी अपनी ओरसे अपनेको समाप्त करनेवाला नहीं है. समाजको ही नीचेसे अपनेको शासनमुक्त करते हुए उठना होगा. आपका आशीर्वाद हो तो मैं इसी कामके लिए छुट्टी पाना चाहता हूं.

आचार्यकी वाणी कुछ कांप आई, बोले—इलासे पूछा है ?

नम्र भावसे कहा—आज्ञा है ? पूछ सकता हूं ?

विस्मयसे कहा—क्यों ?

जयने कहा—आज्ञाके बिना मुझसे वह दोष न होगा.

आचार्य—जय, इला तपस्विनी है, सच्ची सम्मति देगी.

जयने झुककर आचार्यकी पदरज ली.

आचार्य गद्‌गद हुए, लेकिन बोले नहीं. जयने कहा—आज मैं कृतार्थ हुआ !

आचार्यने कहा—स्वामी के बारेमें क्या करना होगा ?

जय—मेरा विचार है उन्हें कहिए कि वह अपने मन्त्रिमंडलके नाम प्रस्तुत करें.

आचार्य—यह कैसी बात कहते हो, जय ? फिर दूसरे दल हैं. और अभी तुम्हारे उपनेता आएंगे. क्या वह मान जाने वाले हैं !

जय—आचार्य, मैं देखता हूं कि समाज अब राज्याधीन न होगा, राज्यपर होगा वही समाजाधीन अधिक होगा. आलोचकपर आनेके लिए सामने ही दायित्व है, यह पता हो तो अलोचना अनायास विधायक हो आएगी, नकारात्मक रहनेका उसके पास कारण न रहेगा. दूसरा उपाय नहीं है. हिंसाके पास जो रहा है वह तो कभी उपाय सिद्ध हुआ नहीं है. ५१ के जोरसे ४९ को गिरानेका उपाय हिंसाका ही तो है.

आचार्य—और नाथ ?

जय—नाथको कहूंगा कि स्वामीसे संधि कर लें.

आचार्य—वह संभव है ?

जय—प्रयत्न करके तो देखना है.

आचार्य—लिजाको तो मैंने देखा है. उसके रहते संभव नहीं मालूम होता.

जय—फिर भी प्रयत्न तो करना होगा.

आचार्य—लेकिन, जय, अभी तुम यह सब क्यों सोचते हो. अपने इस कागजको तो तुम्हें अभी अन्तिम माननेका हक नहीं है.

जयने धीमे मुस्कराकर कहा—मेरा आवेदन इला अस्वीकार करेंगी ऐसा संशय तो मेरे मनमें कभी हुआ नहीं है.

आचार्य—नहीं, जय, अपनी किसी आशाका अधिकार लेकर उसकी सम्मति लेने न जाना. यह आरोप हो जायगा. स्वतन्त्र भावसे जो वह कहे लेना. आशावान बनकर पहुंचोगे तो जो मिलेगा वह तुमपर भारी हो सकता है. इसलिए आगेकी सब बात छोड़ो. उससे अनुमति प्राप्त करो. अर्धांगिनी हो, तो भी शुभांग वही है न—क्यों ?

जयने झुककर फिर आचार्यकी पदरज ली और वह चला आया.

जय और इला

तख्त था और वहां बिछी शीतलपाटीपर बैठी इला चौंककर पड़ी, बोली—आप !

जय—हां, आचार्यके पाससे आ रहा हूं. उन्होंने कहा है, मेरी शुभांग तुम हो—लो, यह पत्र देखो.

इलाने पत्र पढ़ा और जिज्ञासामें जयको देखती रह गई !

"क्या कहती हो ?"

इलाकी आंखोंमें आंसू भर आए, बोली नहीं.

"कुछ कहा नहीं ?"

आंसू चुपचाप आंखोंसे ढरक चले और वह नहीं बोली. आंसू पोछ-नेकी भी चेष्टा नहीं की.

जय कुछ देर स्तब्ध मूर्तिवत देखता रहा. फिर कहा—आचार्यने यह क्या कह दिया ! पर समझकर ही कहा होगा. नहीं तो मैं अपात्र ही हूं, और अब जब कि अकिञ्चन हो गया हूं !

जय खड़ा था. इलाने धोतीको तनिक माथेके आगे लिया और उठ-कर उसकी पदरज ले माथेसे लगाई. जयने उसके दोनों हाथ अपने हाथोंमें लेकर तख्तपर पास बिठाया, कहा—मेरे अबतकके दोषोंको क्षमा करना, इला...पर हम रहेंगे कहां ?

इला बोली, "कबसे प्रार्थना करती थी. आज यह दिन आया है. मैं तो आशा छोड़ चली थी कि राजसे कभी छुटकारा होगा. जाने क्यों मन कहता था कि मेरी धन्यताका दिन भी उससे पहले आनेवाला नहीं है. अब भी सोचती हूं कि क्या यह सच है ? आप सचमुच ही सामान्य बन-कर रह सकेंगे ?"

"—बताया नहीं, हम रहेंगे कहां ?"

"मैं तो जानती हूं कि जहां आर्य रहेंगे वहां दासी रहेगी. आगे तो मेरा जाननेका काम नहीं है."

"—आचार्यने भेजा था कि पूछूं, इसमें तुम्हारी अनुमति है ? उस-से पहले वह मुझे मुक्ति नहीं देने वाले हैं."

इलाने धीमे-धीमे कहा, "कितने दिन बाद आज आपने अपने अंत-रंगकी बातको स्वीकार किया है. बापूसे सीखा है, और आपसे भी सीखा है, कि राज्य एक आडम्बर ही है. वह सत्य कम है, मिथ्या ही अधिक है. व्यक्ति वहां मुक्ति पा नहीं सकता. अपनी कथाओंमें लोगोंने राज्य छोड़ा है तभी वे मुक्तिके मार्गको ले सके हैं. इतनी मुद्दत आप क्या अपनेसे झगड़ते ही नहीं रहे हैं ? तो क्या आज यह पूछेंगे कि मेरी क्या अनुमति है ? अनुमति इसीमें नहीं होगी तो बताइए फिर किसमें होगी ?"

जयने कहा, "लेकिन यह सहज नहीं होनेवाला है, इला. वहुत दवाव है और में नहीं जानता क्या होगा. नई शत्रुताएं और नई मित्रताएं उदयमें आएंगी, और कुछ देर इस नई शून्यताको भरनेके लिए एक तुमुल झंझा वात ओ घहरे तो विस्मय नहीं है...आचार्यने जव तत्काल सहमति न दी तो में जानता हूं यह सव उनके मनमें था...पर विश्वास था मुझे तुमसे वल मिलेगा. इला, मुझसे तुम्हारे प्रति अपराव होता रहा है, लेकिन तुम तो जानती हो..."

आगे जयसे कहा न गया. इलाका हाथ लेकर उसने दवाया. फिर वह उठ खड़ा हुआ, इला भी उठ आई. जयने दोनों कन्धोंपरसे हल्केसे थामकर इलाको अपने समक्ष दूर लिया और टक वांध देखता रहा. फिर धीरेसे उसके मस्तकका चुम्वन लेकर वह उस कुटियासे निकल आया और तपस्विनी वह नारी, इला, अपनी सामान्य धोतीमें, अवोधा-मुग्धा सी, अपलक उस जाते व्यक्तिको देखती खड़ी रह गई !

जय और स्वामी

स्वामी अपने अनुवर्तियोंसे घिरे थे. जयके पहुंचनेपर सव दूर चले गए. स्वामी चौकीपर थे, जय चटाईपर नीचे वैठा और कहा, "राजकीय वातचीतमें ठीक इस समय सम्मिलित होनेकी मुझे अपनी आवश्यकता नहीं जान पड़ती. किन्तु क्या उसमें आपकी ओरसे कोई वाधा है ?"

स्वामी—तुम्हारी क्या इच्छा है ?

जय—मेरी इच्छा प्रकट है. लेकिन अगर आवश्यकता हो तो अलग रहनेका आग्रह मुझे क्यों होना चाहिए ?

स्वामी—सुनता हूं, तुमने मेरे आदेशपर उपवास रखा था. क्या यह सच है ?

जय—आपकी आज्ञाका उल्लंघन कैसे कर सकता था...किन्तु कोई

कारण नहीं दीखता कि यदि एक सदस्यकी भी मांग हो तो मैं चर्चासे हठात् वाहर रहूं और—सभाको भंग होनेका अवसर दूं.

स्वामी—सुनता हूं, तुम राज्यसे हटनेका निश्चय कर रहे हो !

जय—निश्चय नहीं है...क्या आपका उसमें अनुमोदन है ?

स्वामी—मैं आरम्भसे तुम्हारे वहां रहनेमें औचित्य न पाता था. यह होगा तो शुभ ही होगा.

जय—अनौचित्य क्या था ?

स्वामी—भारत धर्मभूमि है. अधर्म वहां राज्यपर अधिष्ठित हो तो यह भारतीय आत्माको सह्य कवतक हो सकता ?

जय—यदि सूचना दूं कि इलादेवीका सम्वन्ध वैध, शास्त्रोक्त और पितृ-सम्मत है, तो आप अपने शव्द वापिस लीजिएगा ?

स्वामी—यह असम्भव है !

जय—तथ्य यही है और आप यदि मानें कि आपसे दोप होता रहा है तो आप क्षमा याचना पूर्वक उसका मार्जन कर सकते हैं !

स्वामी—किन्तु यह सम्भव नहीं है !

जय—कदाचित इसी प्रवासमें आपकी सेवामें निवेदन पहुंचे कि आप विवाहमें अपना आशीर्वाद देनेकी कृपा करें !

स्वामी—असम्भव...इला कन्या नहीं है !

जय—स्वामीजी, मैं आपका आदर करता हूं. किंतु किसीका अपमान करनेका आप अधिकार मानते हैं, तो मेरा कर्तव्य है कि आदरका विचार छोड़ दूं और—

स्वामी—जय, तुम उद्धत वनोगे ?

जय—मैं आपको अकर्तव्यका भागी न होने दूंगा...इलाके प्रति आप अन्याय करते रहे हैं, उसका अपमान करते रहे हैं. मेरी वह वाग्दत्ता नहीं परिणीता है. एक भी शव्द उनके लिए आपकी ओरसे अशिष्टता सूचक आएगा तो न वार्ता आगे चलेगी, न आपका यहां रहना संभव हो सकेगा. आप अतिथि हैं, पर आतिथ्यकी भी मर्यादा है...पूछना यह है कि

धर्म अधर्मकी वातको छोड़कर आप और किस कारण चर्चामें मेरे सम्मिलनको अनुपादेय मानते हैं ?

स्वामीने जयको देखा. दृष्टिमें जैसे अविश्वसनीय आश्चर्य था ! कुछ समय हो गया और उत्तर नहीं आया.

जय—मैं उत्तरकी प्रतीक्षामें हूं.

स्वामी—किन्तु तुम्हींने प्रातःकाल कहा था कि तुम्हारी अनुपस्थिति में चर्चाके अधिक सफल होनेकी आशा है.

जय—कहा था, लेकिन आशय यह नहीं था कि आप सफल करने की जगह उसको भंग ही कर डालें.

स्वामी—क्या उस स्त्रीका नाम है—अपरान्हकी वैठकमें वह तुम्हारे पाससे ही होकर सभामें पहुंची थी ना ?

जय—जी.

स्वामी—तो यह क्या आडंवर ही है कि स्वयं कहते हो वाहर रहना चाहता हूं, उस स्त्रीसे कहलाते हो सम्मिलित होना जरूरी है !...सच कहो, क्या चाहते हो? चाहते हो कि विरोधी तत्वोंको अवसर मिले, और यदि वे संयुक्त होनेका आधार पा लें तो तुम राहमें न आओगे और वागडोर उनके हाथ दे सकोगे ?

जय—मुझे आपके साथ वात करनेकी रुचि शेष नहीं है. आज्ञा हो—

जय खड़ा होता है और स्वामी कहते हैं—नहीं जय, ऐसे न जाओगे.

जय—कोई अशोभन शब्द और भाव आपसे प्रकट हों, इससे पहले ही मैं यहांसे चला जाना चाहता हूं. श्रीमती ऐलीजावेथ संभ्रांत महिला हैं. कोई कारण नहीं कि उनके पास अपना मत न हो, और मेरी सीख दोहरानेसे अलग उन्हें कोई काम न हो...मैं कहना चाहता हूं, स्वामीजी, कि नारीके विषयमें आपके भाव समीचीन नहीं हैं. मैं नहीं मान सकता कि ऐसा शास्त्रपाठके कारण है. पर जो भी हो, मैं आपके अविचारका पात्र या निमित्त वनकर यहां वैठा नहीं रह सकता.

स्वामी—अच्छा, जय, भूल हुई. किन्तु उस स्त्रीको चर्चामें सम्मि-

लित करनेकी आवश्यकता क्या थी ?

जय—स्वामीजी, मझे क्षमा कीजिएगा. जो आवश्यकता आपके निमंत्रणमें संगत थी, ठीक वही उनके लिए भी थी. आप जानते हैं कि एक समय उनके दलका आपको कितना सहारा था. यह भी शायद आप जानते हैं कि प्रगतिदलमें श्रीनाथका जितना भी महत्व हो, इन महिलाका उससे विशेष कम नहीं है. इस कारण कि वह नर नहीं नारी हैं, मैं उनको अलग रखनेका आग्रह नहीं कर सकता था...राज्यका काम घरकी तरहसे एक दिन अगर चलना है तो स्त्रीका सहयोग ही उसके लिए नहीं वरन् सम्मान भी उसी तरह अनिवार्य है. राज्यकार्यमें युद्धकी गणना होती रही है, लेकिन अब आगे उसमें शांतिमय साधनोंका ही अधिक उपयोग होनेवाला है. युद्धमें स्त्रीको आगे नहीं रखा जा सकता था, पर शांतिकी व्यवस्था तो स्त्रीके बिना हो नहीं सकती. और, स्वामीजी, मैं आपसे कहता हूं कि जैसे हो एलिजाबेथसे आप अपनी शांति स्थापित कर लें. अन्यथा कोई उपाय न रह जाएगा और जिस तरह आप आए हैं उसी मुंह लौटकर आपको फिर चले जाना और बिखर रहना होगा. इस अवसरके बाद विरोधी दलोंको कुछ अधिक कहनेका अवकाश भी न रह जाएगा. यदि आपके पास विधायकता है तो जो भंग हो चुकी है उस सभाको फिर जोड़नेका प्रयत्न कीजिए और जैसे हो कोई संयुक्त भूमिका अपने बीचमें बनाकर ही उठिए. मेरे सहयोगी नेता आजाएंगे तो उनसे कहूंगा कि आप यदि संयुक्त हो सकें तो वह जो भी संभव हो आपसे समझौता कर लें...मेरा निश्चय है कि मुझे अब राज्यसे कोई वास्ता नहीं रखना है.

स्वामी—किन्तु, जय—!

जय—हां, निश्चय सर्वथा न सही, फिर भी मेरी ओरसे अन्तिम ही मान लें. आप भी चाहते थे, इसलिए पहले तो मुझे लगा कि कदाचित वह समीचीन न हो. लेकिन मेरे मनमें उस समय आपके प्रति अनादर का भाव था. पर आप मेरे ज्येष्ठ हैं और मान्य हैं और आपकी जिसमें

अनुमति हो वह निश्चय योग्य ही रहा होगा. इसलिए मैंने उसमें यहांसे और दृढ़ता ही प्राप्त की है.

स्वामी—वैठो जय!

जय—कृपा है.

स्वामी—किंतु तुमने कहा, इलाका संवंध वैध है. फिर—?

जय—वह प्रश्न नहीं है.

स्वामी—फिर ?—फिर क्या वाधा है ? और जय, मैं कहता हूं कि मेरा संपूर्ण वल तुम्हारे साथ होगा. तुम्हें हटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है. विरोध जो और जितना होगा, मैं समर्थ हूं, उसका सामना ले सकूंगा. तुम उस चिन्तामें न पड़ो.

जय—आपको प्रणाम करता हूं, स्वामीजी. विरोधकी चिन्ता मुझे न थी, न है, और जव आपका समर्थन और वल प्रस्तुत है तव तो प्रश्न और भी नहीं है...किन्तु अव वह सम्भव नहीं है, मेरा मन वहां नहीं है.

स्वामी—क्या कहते हो ?

कहते हुए वह चौकीपर खड़े हो आए, फिर उससे नीचे उतरकर जयके कंधपर हाथ रखा और कहा यह क्या—कहते हो, जय ?

जय—आपके आशीर्वादसे अव मेरा मोह भंग हो गया है. राज्यकी अनुरक्तिके लिए कहीं भी तनिक अवकाश नहीं छूटा है, इतनी विरक्ति हो गई है. और आप कृपया अन्यथा आज्ञा न दें, उसके पालनमें मैं असमर्थ रहूंगा.

स्वामी—किंतु यह तो वड़ा अनिष्ट होगा !

जय—आपके रहते क्यों अनिष्ट होगा ?

स्वामी—क्या सच ही आचार्यने उसपर 'तथास्तु' कहा है ?

जय—अभी तो नहीं.

स्वामी—और निश्चय ही उनकी अनुमति प्राप्त किए विना तुम कुछ न करोगे !

जय—जी—

स्वामी—तो मैं आचार्यसे मिलूंगा, और परिस्थितिपर पूरा विचार न हो जाय तवतक देखना मनको कहीं वांध मत लेना. राज्य भी एक कर्तव्य है और विना मोह, विना आसक्ति, उसका निर्वाह निश्चय ही कोई छोटी तपश्चर्या नहीं है... यह सच है कि एलीजावेथ तुमसे संकेत पाकर नहीं आई थी ?

जय—आई थी, संकेत पाकर ही आई थी. किन्तु संकेत यह था कि मैं अब आगे राज्यसे या उस संवंवकी वातचीतसे कोई संवंध नहीं रखना चाहता हूं....स्त्री है, इससे उसके विरोधमें आग्रह उसका आपसे कुछ अधिक ही तीव्र रहा होगा—

स्वामी—ओह...तो ऐलिजावेथसे भी मिलना जरूरी है. किंतु नाथ तो उससे सहमत न थे !

जय—उन्हें भी पता न होगा.

स्वामी—अवश्य पता न था...जय, क्षमा करना, मैंने अन्याय किया.

कहते-कहते उन्होंने जयका हाथ अपने दोनों हाथोंमें लिया और वोले—जय, एक और भी काम करना. इलासे मेरी ओरसे क्षमा मांग लेना. अन्याय तो हुआ ही है, लेकिन मेरा मन भी शायद पवित्र नहीं रहा है....लेकिन, जय, परिस्थिति जव यह है, सव वैध और विहित है, तव तुम राज्यसे अलग होनेकी नहीं सोच सकते हो, यह मुझसे सुन लो. आचार्य तुम्हारे पूज्य हैं तो उसी तरह मैं भी तो तुम्हारे लिए कुछ न कुछ मान्य ही हूं !

कहते-कहते स्वामीका गला भारी हो आया.

और जय अधिक नहीं ठहरे, प्रणाम किया और चले आए.

एलिजावेथ और जय

जय नदीके किनारे-किनारे अकेले वढ़ते जा रहे हैं. सांझका झुटपटा है. पीछे दूर दो अंग-रक्षक चल रहे हैं.

अपना नाम सुनकर पीछे मुड़े, बोले—लिजा, तुम ? यह मेरा सद्-भाग्य !

लिजा—सद्भाग्य ?...लेकिन आप थे कहां ?

जय—क्यों, क्या देरसे पीछे हो ?

लिजा—देरसे ही समझिए...लेकिन हिम्मत न हुई....यह क्या सुनती हूं ?

जय—ज्यादा सुनना अच्छा नहीं होता. कभी कान बंद भी रखने चाहिएं.

लिजा—आप अडिग हैं ?

जय—मैं अडिग ! तुम विश्वास कर सकती हो ?

लिजा—हां विश्वास कर सकती हूं. आपमें हृदय नहीं है.

जय—न हो, पर आंख है, और तुम अत्यन्त स्वरूपवती हो, लिजा.

लिजा—आप मेरा अपमान करेंगे ?

जय—रूपका सम्मान भी न करने दोगी ?

लिजा—देखिए, हंसी नहीं, मैं गंभीरतासे कहती हूं.

जय—मेरी प्यारी एलिजाबेथ, यह स्वरूप तुम्हारी गंभीर निधि नहीं है, यह मत समझना. तुम्हारे पास है, इसीलिए उसे अगंभीर वस्तु मानकर रह सकती हो. लेकिन हम पुरुषोंसे तो यह आशा नहीं रख सकती.

लिजा—देखिए, फिर कहती हूं, आप मेरे अपमानपर न तुलिए... यह रूप मेरे तनिक भी काम आ सका है ऐसा तो कोई चिन्ह आपके व्यवहारमें मैंने नहीं देखा. फिर इस व्यर्थतापर मुझे लज्जित करते आपको दया नहीं आती !

जय—नहीं लिजा, तुम गलत समझती हो, उस रूपकी प्रशंसा मुंहसे अबतक नहीं निकली है तो इसीलिए कि वह सारे मनमें समाकर रम गई है. लेकिन...कहो, क्या कहती हो ?

लिजा—यही कहती थी कि आप हृदयसे हीन क्यों बने हैं ?

जय—ओह, यही कहती थी...तो फिर इसकी सज़ा देना चाहती हो?

लिजा—छोड़िए...नाथ पूछते थे, मैं क्यों आपको बातचीतमें लानेके लिए साग्रह हूं. बताइए, उन्हें क्या बताऊं ?

जय—मैं ही पूछता हूं, सच बताओ, क्यों इतनी साग्रह हो ?

लिजा—तो सुनिए, इसलिए कि विराग कभी सच नहीं होता है और मैं आपको अपनेसे, या आपके अपने अंतरंग सचसे, बचते देखना नहीं चाहती. यह झूठ है कि सबको बुलाकर उनकी बातचीतको आगे बढ़ाना और परिणाम तक लाना आपका दायित्व नहीं है. आप कह सकते हैं कि नहीं है ?

जय—नहीं, नहीं कह सकता हूं, न मैंने यह कहा है—

लिजा—तो बचकर किनारा जो ले रहे हैं, सो वह मैं कैसे होने दे सकती हूं ?

जय—क्यों, क्यों नहीं होने दे सकती हो ? कायरको बचनेकी राह भी न दोगी ?

लिजा—जय, मुझे गुस्सा न दिलाओ. तुम नहीं जानते तुम क्या हो. कायर नहीं हो, लेकिन घमंडी जरूर हो. जो संसारमें सब देखता है और कुछ इसलिए नहीं लेता कि कुछ उसके योग्य नहीं है, उसके घमंडको मैं क्या कहूं जानती नहीं हूं. लेकिन यह जानती हूं कि अगर भगवान होगा तो उस अभिमानको वह कभी क्षमा नहीं करेगा.

जय—लिजा, जानती हो इस समय क्या मेरे मनमें है, और कितने बलपूर्वक मैं उसका संवरण कर रहा हूं ? हमारे यहां माननीयोंकी पदरज ली जाती है. तुम्हारे पांवमें जूते हैं, लेकिन उनपर रज काफी है. जी होता है कि वह सब लेकर अपने माथे लगा लूं. तुम और आगे कहोगी तो मेरी संवरण शक्ति ढह जाएगी और फिर यह किए बिना मुझसे रहा नहीं जाएगा. कर सकूंगा तो मैं कृतार्थ हूंगा, जानता हूं. लेकिन यह भी जानता हूं, प्रिय लिजा, कि उससे तुम्हें कष्ट होगा. इसीसे आगे वह बात न करना...क्या तुम चाहती हो, मैं रो आऊं ? अपना सारा जीवन मुझे याद आता है. उससे अकारथ और अयोग्य कुछ होगा मैं जानता

नहीं...'जेहि तनु दियो ताहि विसरायो, ऐसो निमक हरामी'...अब जो यह निश्चय रखना चाहता हूं कि राजकीय वात या काममें नहीं पड़ूंगा तो उसमें, प्रिय लिजा, मेरी ओरका कोई अहंकार मत देखो. नमक-हरामी जिसकी की है उसके नमकको हलाल करनेका कुछ तो अवसर मिलना चाहिए....यही देखो, राजकीय होकर झुकना मेरे लिए मना है. लोग झुकते हैं और मैं सहता हूं. उससे छुटकारा पा जाऊं तो मेरे लिए यह कव कठिन रहेगा कि तुम्हारे आगे, वल्कि चरणोंतक, मैं झुक आऊं और वताऊं मैं तुम्हारा कितना कृतज्ञ हूं !

लिजा—(वीचमें काटकर) तो यह निश्चय हुआ कि आप भाग रहे हैं !....कव निश्चय हुआ ? नहीं, नहीं, नहीं. यह निश्चय नहीं हो सकता. जिन्दा हूं अगर मैं तो हो नहीं सकता. कैसे हो सकता है....सुनो जय, यह विनम्रता नहीं है, यह शुद्ध, अत्यन्त शुद्ध, अंहकार है. सिर तानते हो, या उसे धूलमें गिराते हो ! तो सुनो, जय, दोनो एक अहंकारके रूप हैं और कोई उनमें स्वाभाविक नहीं है. भक्तिमें रक्षा खोजते हो, और सहज सहयोग और सहभोगमें आनेसे डरते हो !...जय, मनसे निकाल दो कि मैं विदेशिनी हूं या दुश्मन हूं या भिन्न हूं या गैर हूं...किससे दामन अछूता रखना चाहते हो ? संसारसे और हम संसारियोंसे ? और ऐसे समझते हो तुम भगवानके पास जाओगे ?...तो जय, यह मैं नहीं होने दूंगी. तुम जहां हो वहां सदा आदमी होता है, लेकिन उतरकर जहां आना चाहते हो वहां या तो हारा हुआ विरागी होता है, या फिर देवता होता है. वृथा देवता वननेका कष्ट न करो. हृदयकी सुनो, जवरदस्ती सुनीको अनसुनी न करो...मैंने नाथसे कहा नहीं है, लेकिन जाकर कह देना चाहती हूं कि हां, जयके विना मेरी गति नहीं है. न वातचीत चल सकेगी, न मैं चल सकूंगी. तव क्या सोचेंगे वह, इस वारेमें दो अनुमान नहीं हो सकते. क्या करेंगे, उस विषयमें भी दो अनुमान नहीं हैं. मुझे नहीं छोड़ेंगे और जिसकी वजहसे यह आशंका होगी शायद उसको भी नहीं छोड़ना चाहेंगे...जय, इससे अंतिम वार कहती हूं, अलौकिक वननेकी

कोशिश मत करना. लोकमें हम जैसे भी रहते हैं, उन्हीके प्रति धिक्कार और अवहेलनाके भावसे भरकर तुम अलौकिक होगे ना ? तो अच्छी बात है, बनकर देखो. फिर हमें भी अपनी लौकिकताकी रक्षा जो बने करना होगा.

सुनकर जयने हाथ बढ़ाकर लिजाका हाथ थामा, कहा—तारे दीखने लगे हैं. वापिस चलना चाहोगी, या कुछ देर बैठ सकोगी ?

अपने हाथपर बंधे जयके हाथको अपने दूसरे हाथसे जोरसे दाबते हुए लिजाने कहा—ओह जय, आओ, कहीं बैठें.

जय लिजाको हाथपर थामे नदीके तटकी ओर बढ़ा. देखने भालनेपर एक साधारण-सी बैठने लायक जगह उन्हें मिल गई. वहां दोनों बैठे और जयने हौलेसे लिजाका हाथ ऊपर उठाकर चूमा. ऐसे कि मानो स्पर्श भी न हुआ, और लिजा भीतरतक कांप गई.

जय—लिजा, प्रिय, बताओ मुझे क्या कहती हो ?

लिजासे कुछ देरतक उत्तर न बना.

जय—तारे भरे आ रहे हैं. आसमान अभी खिल आएगा. लेकिन मेरा दुर्भाग्य तुम जानती हो. दो आदमी पीछे कहीं खड़े होंगे. आकाशकी इस चान्दनीके नीचे बैठनेकी मुझे अनुमति नहीं है. जल्दी चलना होगा. बताओ, मुझे क्या कहती हो ?

लिजाने हाथ बढ़ाकर जयके हाथको अपने दोनों हाथोंके बीचमें रक्षापूर्वक रख लिया. कहा—जय, मेरे प्रेमपर संशय न करो. आदमी रहो, और आदमियोंमें राजा बनकर रहो.

जयने अपना बचा हाथ लिजाके हाथपर रखा, कहा—लिजा, एक ही विश्वास मेरे पास रहा है, वह प्रेमका विश्वास है. लेकिन राजा नामकी चीज प्रेमकी कभी हो सकती है ?

लिजा—लेकिन जय, मेरी शपथ है, तुमको अपनी जगहसे नहीं हटना है.

जय—तुमको पानेके लिए भी नहीं ?

लिजा—नहीं नहीं, किसीके लिए नहीं.

जयने अपने हाथसे लिजाके हाथको दवाया, कहा—प्रेमकी शपथ देकर कहता हूं तुम्हें कि प्रेमसे वढ़कर में अपने लिए किसी राजको कभी न होने दूंगा !

लिजाने जयके हाथके दवावके नीचेसे सहसा अपने दोनों हाथ खींचे; कहा—क्या ?

स्वरमें आश्चर्य था और आवेश. जयको निरुत्तर पाकर फिर कहा—क्या ?

जयका स्वर अमोघ था. कहा—आओ, चलें अव.

लिजाने उठते हुए जयका हाथ पकड़कर जोरसे खींचा, कहा—कहां जाते हो ?

जयने दूसरे हाथको लिजाकी वगलमें डालकर उसे वलपूर्वक उठाते हुए कहा—आओ अव वापिस चलें.

लिजा हठात् उठ तो आई, पर वह अवरुद्ध थी और रुष्ट. उसे समझ न आया क्या करे. उत्क्रोष जितना था उतनी ही उस समय वह उद्भ्रांत थी और मति-मूढ़. निश्चित था कि वह इस आदमीके साथ एक पग भी आगे नहीं रखना चाहती है, कि स्वयं उसको ही वह किसी तरह चले जाने देना नहीं चाहती है, कि इससे पहले कि दोनों या कोई आगे वढ़े वह उसको, अपनेको, और दोनोंको एकदम समाप्त हुआ देखना चाहती है. लेकिन वह सव भाव भीतर घुमड़ता रह गया, और वह पग-पग सीधी राह साथ वढ़ती चली गई. सांस उसमें तेजीसे आ जा रहा था, सीना उठ गिर रहा था, और निरुपाय वह वढ़ी चली जा रही थी. वीचमें अपना वाया हाथ वढ़ाकर, टटोलकर, जयने लिजाका दाहिना हाथ थामना चाहा. कारण, राह पगडंडीकी थी और अंधेरा काफी था. पर हाथका तनिक स्पर्श पाते ही लिजाने उसे अलग झिटक दिया. फिर दोनों, विना शब्द विना चेष्टा, मूक और वद्ध, वढ़ते चले गए, वढ़ते चले गए. शिववाम पास आया कि लिजा तीरकी मानिन्द जयका साथ छोड़

तेजीसे बढ़कर आगे और अलग निकल गई. जय भी अपनी गतिसे चलते हुए नाथके पास पहुंचे.

जय और नाथ.

नाथके आवासपर कुछ अतिरिक्त व्यवस्था थी. फरनीचर विशेष था और कुछ प्रसाधन. जय पहुंचे तब अन्दरसे विवादकी-सी आवाज आ रही थी. कुछ देर बाहर ठिठके रहे, फिर द्वार खटखटाया. दरवाजा खोला तो सामने जयको पाकर लिजा हैरतमें रह गई. उसके चेहरेपर कसाव था और सन्नद्धता. लेकिन जयको देखकर स्तब्ध हो आई.

जय—क्या श्रीनाथसे मुझे इस समय एकान्त बातचीतके लिए कुछ क्षण मिल सकते हैं ?

लिजा—मैं पूछती हूं...आइए.

जय—पूछ लीजिए. मैं इन्तजारमें हूं.

लिजा—आप आइए—

जय—आप पूछ आइए.

जय खड़े रहे. लिजा अन्दर गई. दूसरे ही पल नाथ आए, जयसे हाथ मिलाया और उन्हें अन्दर ले गए.

नाथ—आभारी हूं, कहिए ?

जय—बिना समय किए आनेके लिए क्षमाप्रार्थी हूं. आशा है, विशेष विघ्न नहीं बना हूं...सभा जो भंग हो गई है वह जारी रहनी चाहिए. पूछने आया हूं कि मैं उस सम्बन्धमें किस प्रकार सहायक हो सकता हूं.

नाथ—क्या आप मुझे उसमें एक पक्ष मानते हैं ?...वह तो मैं समझता हूं श्रीस्वामीके हाथकी बात है.

जय—उनसे आप मिल सकेंगे? मिलकर तय कर डालिए, और कल प्रात:से चर्चा फिर शुरू की जा सकती है. तबतक मेरी धारणा है महासभाके प्रतिनिधि नेता भी आ पहुंचेंगे.

नाथ—अवश्य आप यह नहीं मानते कि उस सम्बन्धमें पहल लेने वाला मैं हो सकता हूं. स्वामीसे कहिए कि वह वढ़ें और मेरी ओरसे आश्वासन रखें कि किसी प्रकारकी आपत्ति न होगी.

जय—श्रीमती नाथको यह आग्रह नहीं रखना चाहिए कि मैं चर्चामें रहूं. आप जानते हैं लाभकी जगह उससे अलाभ भी हो सकता है.

नाथ—क्या एलिजावेथ आपसे नहीं मिलीं ? यह तो उनका पक्ष है.

जय—इसीसे आपकी सेवामें आया हूं. शायद मानती हों कि स्वामी का प्रतिपक्ष ही उचित और न्याय्य होगा, इसीसे उन्होंने वैसा आग्रह रखा हो ! किंतु—

नाथ—आशा है आपने ऐलीजावेथको यह सव कहा होगा !

जय—कहा था. लेकिन पत्नीका एक धर्म होता है और आप जो सहज कर सकते हैं वह दूसरेके लिए कठिनसे भी कठिन है...सम्भव हो तो आप आचार्यसे मिल लें. स्वामीसे मैंने वातकी है, वह भी आचार्यसे मिलेंगे....कठिन नहीं है कि आप अपने वीच एक भूमिकाका आविर्भाव कर लें. मैं महासभाके प्रतिनिधिपर पूरा वल दूंगा कि जो भी सामान्य भूमिका आप प्राप्त करें वह किसी न किसी प्रकार उससे सामंजस्य विठा लें. मेरा यही अनुदान हो सकता है. अन्दर रह कर यह करना शायद उतना आसान न हो, वाहरसे अवश्य लगता है मैं काफी सहायक हो सकूंगा...यह भी आपको वताना है, यदि अवतक मालूम न हो,कि किसी ओरसे मैं अव शक्तिकी राजनीतिमें गणनीय नहीं रहना चाहता हूं. इस-लिए मुझे सदाके लिए हिसावसे वाहर मान लें. ऐसे, आशा है, निर्णयपर आनेमें आपको और सवको सुविधा होगी. मैं मान सकता हूं कि आप इसमें सहमत हैं ?

नाथ—मैंने उसपर अभी विचार नहीं किया है.

जय—मुझे निश्चय है कि प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियोंके परस्पर विरोधी होनेकी वात कितनी भी क्यों न उभारी गई हो, राजनीतिक यथार्थ और व्यवहारके पटपर जव वातचीत होगी तो आपके और स्वामीके

दलोंके बीच समझौतेका मार्ग निकलनेमें कठिनाई न पड़ेगी. सिद्धांतमें अंतर रखकर भी व्यक्ति व्यवहारमें सहयोगकी भूमिका बनानेमें सदा सफल हो सकता है—

नाथ—(बात काटकर) आप क्या चाहते हैं ?

जय—चाहता हूं कि श्रीमती नाथकी ओरसे सहमति भी हो तो आप उसे दुर्निवार्य न मानें, परिस्थितिकी मांगपर स्वयं अपने अकेलेके बलपर स्वामीसे और दूसरे बन्धुओंसे शर्तोंपर बात कर लें, और समझौता भी मान्य कर लें.

नाथ—क्या मैं पूछ सकता हूं कि मुझे अपनी पत्नीको अमान्य करनेका परामर्श देने वाले आप किस साहस और अधिकारसे अपनेको मान रहे हैं ?

जय—अवश्य पूछ सकते हैं. मैं आपका हितैषी हूं.

नाथ—आपने ऐलीजाबेथको निमंत्रण दिया, तब क्या मुझसे पूछा गया था ? और यह हितैपिताका प्रमाण है ?

जय—हां, निश्चय ही मेरी ओरसे हितैपिताका यह सबसे बड़ा प्रमाण होना चाहिए. क्या आपकी पत्नीको आपके बराबर और साथ लेना आप दोनोंका ही सम्मान नहीं है ?

नाथ—मैं जानना चाहूंगा कि मेरी अनुपस्थितिमें मेरी पत्नीके साथ आपकी क्या बातें हुई ?

जय–महोदय, ऐलीजाबेथ आपकी पत्नी हैं इसीलिए आप उनपर यह लांछन नहीं ला सकते कि वह स्वाधीन नहीं हैं, अथवा कि यथावश्यक वह आपको बताती नहीं रहीं हैं.

नाथ—मैं आप से सुनना चाहता हूं.

जय—वह आप गलत सुनना चाहते हैं. मैं फिर कहता हूं कि आप अपनी पत्नीपर इतना विश्वास रखें कि उनकी आपत्तिकी भी विशेष चिन्ता न करें और वार्तालापमें शामिल होनेवाले सभी तत्त्वोंसे मिलजुलकर कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकाल लें. अन्यथा इतिहासका यह

अवसर हाथसे खो जाएगा और हम-आप उस इतिहासके हाथों मूर्ख और व्यर्थ सिद्ध होंगे.

नाथ—श्रीवर्द्धन, मैं कह सकता था कि आप चले जाएं ..लेकिन लिजाको मैं इधर समझ नहीं पाता हूं. एक ही साथ वह आपके पक्षमें है और विपक्षमें है...जानते हैं कि क्या कह रही थी ? कहती थी कि आपको चर्चामें जैसे हो लाना होगा, और न आए तो हमको आगे बढ़कर आपके प्रति अविश्वास और निन्दाका प्रस्वाव करना होगा. कारण, अतिथियोंको बुलाकर उनके प्रति यह व्यवहार प्राथमिक शिष्टाचारके विरुद्ध है...मैं उसे समझ नहीं सकता.

जय—यह सच है ?

नाथ—मैं चाहता हूं, आप बताएं कि यह क्या है ?...उसने कहा कि वह अभी आपके साथ थी...आई तो भरी मालूम हुई और कटिवद्ध. आपसे दो ही मिनट पहले तो पहुंची है...और अब एक ही उसकी टेक है कि हमको निन्दाके प्रस्तावकी तैयारी करनी होगी और जैसे हो सभा जुड़ाकर उस प्रस्तावको स्वीकार कराना होगा !

जय—वह होगा, श्रीनाथ, कर्तव्यके समय उसपर ध्यान न दें. निंदा का प्रस्ताव हो तो बाधा नहीं है. मुख्य यह है कि आप सब एक निर्णय पर आ जाएं, देशपर दलीय शासन समाप्त हो, हो तो मिलीजुली सरकार हो. शक्तियां आगे आपसमें काट-बांट न करें, बल्कि परस्परको पूर्णता दें. कालकी यह मांग है और दुनियांमें जिस अनीकी घड़ीपर हम खड़े हैं वहां हम भारतवासी यह करनेमें चूक गए तो फिर किसी और ओरसे यह उत्तर आनेवाला नहीं है. इससे भविष्य अंधेरा हो तो उसके भागी हम होंगे...मैं अब चलूंगा. क्षमा चाहता हूं कि आपका इतना समय लिया. प्रणाम.

एलिजाबेथ—(सहसा प्रकट होकर) आप, श्रीवर्धन, शायद जा रहे हैं. आप जा सकते हैं, मैं रोकूंगी नहीं. लेकिन अपनी रक्षाके लिए आप पतिको पत्नीके विरुद्ध करनेका साहस करेंगे, यह मेरी कल्पनासे

वाहर था...प्रश्न राजनीतिका नहीं मनुष्यताका है...आप आदेश दे सकते हैं, उपदेश दे सकते हैं...लेकिन मनुष्यताकी प्राथमिक मांगकी यदि आप पूर्ति नहीं कर सकते, मेहमानोंके प्रति अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकते, तो यह क्षति हमारी अपनी निजकी नहीं है, मनुष्यताकी है. और आप उस अपराधको लेकर निंदा तकसे सुरक्षित रहना चाहें तो यह नहीं हो सकेगा.

जय—मैं आभारी हूं, श्रीमती नाथ...अच्छा, महोदय, मुझे आज्ञा हो.

कहकर जयने वढ़कर नाथसे हाथ मिलाया, लिजाकी ओर भी हाथ वढ़ाया जिसे उसने स्वीकार नहीं किया. इसपर मुस्कराकर हाथ जोड़कर जय नाथ लोगोंकी उपस्थितिसे विदा हो वाहर चला गया.

आचार्य और स्वामी

स्वामी—यह क्या सुनता हूं, मान्यवर. जय पदसे अलग होना चाहता है और आपकी इसमें अनुमति है ?

आचार्य—जयकी उस भावनामें क्या कुछ अनुचित है ?

स्वामी—तो सच ही मानना होगा कि आपकी अनुमति है?

आचार्य—होनहारमें अनुमतिका प्रश्न क्या विशेष रह जाता है ?

स्वामी—मान्यवर, होनहारको होनेसे पहले जाननेका हमें अधिकार नहीं मिला है. इसलिए होनहारके माथे हम कुछ भी कैसे डाल सकते हैं. होनहार हमारे वावजूद भी हो सकता है, उसका जिम्मा हमपर नहीं है. इसलिए उचितानुचितका प्रश्न सदा हमारे लिए उपस्थित है ..क्या आप उसे उचित मानते हैं ?

आचार्यने हंसकर कहा—आप जयको पदपर चाहते हैं ? अभीतक तो सुना था कि वात इससे उल्टी है.

स्वामी—जयने वताया कि इलाके साथ संबंधमें कुछ अविहित नहीं है, तब निश्चय ही परिस्थिति वदल जाती है.

आचार्य—विवाह तो अवतक हुआ नहीं !

स्वामी—वह तो समयका प्रश्न है, किन्तु आपकी अनुमति, सुनता हूं, प्राप्त हुई है.

आचार्य—अनुमति हो तो आप सहमत होंगे ?

स्वामी—आप पिता हैं.

आचार्य—देखो वंधु, मैं पिता हूं और यह भी ठीक है कि शास्त्रमें कन्या-दानका शब्द है. लेकिन इतनी देर तक अपनी अनुमति रोककर मैं आज इस जगह आया हूं कि जीवनके जनक होनेके अधिकारसे भी उस जीवनको स्वयं-सम्पूर्ण होने देनेसे अधिक अधिकार पिताको नहीं पहुंचता. जो सवके जीवनका विधाता और संहर्ता है उसके हाथमें सव है. अपने हाथमें उसका कुछ भी भाग रखना मानो विधाताके हाथसे उतने भागको छीन लेना ही है...लेकिन छोड़ो, कहो किस कारण तुम अनिवार्य मानते हो कि जय पदसे न हटे ?

स्वामी—इस कारण कि अभी उसके लिए प्रकृतिने किसी दूसरेको सिरजा है ऐसा नहीं दीख पड़ता.

आचार्य—प्रकृतिके कोपका किसे पता है.

स्वामी—जितना पता है उसके आधारपर निर्णय करने और तदनुसार काम करनेके दायित्वसे तो हम वच नहीं सकते हैं. वताइए कौन दीखता है उस जगहके लिए ?

आचार्य—आप ही क्यों न शासनसूत्रको हाथमें लें ?.. जय कहता था कि आपसे नए मंत्रिमंडलके नाम प्रस्तुत करनेका निवेदन क्यों न किया जाय ?

स्वामी—जय यह कहता था ?

आचार्य—हां, और इसमें अनुचित भी कुछ नहीं है.

स्वामी—किन्तु जय यह कैसे कह सकता है ? और अनुचित की वात

पीछे है, पहले यह संभव नहीं है.

आचार्य—क्यों संभव नहीं है ?

स्वामी—एक तो यह कि जय निष्ठासे यह नहीं कह सकता, किसी विवशतासे ही कह सकता है. दूसरे कि अब इस घटनाके लिए मेरे पास कहीं अवकाश नहीं है कि जय पद रिक्त करे...मिलीजुली सरकार उसके रहते भी क्यों नहीं बन सकती है ?

आचार्य—सो तो बन सकती है, लेकिन जयको मोड़ना कठिन प्रतीत होता है.

स्वामी—मान्यवर्य, यही मैं आपसे कहना चाहता हूं कि मोडना सदा कठिन होता है. इसलिए उसका प्रश्न नहीं आने देना चाहिए. आपकी अनुमति बिना वह ऐसा कदम ले नहीं सकेगा, और यदि अनुमति अबतक उसको नहीं प्राप्त हुई है तो मानता हूं कि मैं निश्चिन्त हो सकता हूं. और—

आचार्य – मैंने, बंधु, इसमेंसे अपनेको लगभग ऋणकर लिया है. व्यक्तिमें वित्तैपणा और लोकैपणा क्यों होती है. इसलिए कि कुछ उसे स्वजन और परिजन होते हैं, शेप अन्य हो जाते हैं. विवाह और परिवारसे ऐसा सहजभावसे हुआ करता है. विरक्ति और विरागको बहुत ऊंचा स्थान देनेका मेरे पास कारण नहीं है, उनके प्रति दूरी जो नहीं रही है इससे विशेप मोह भी नहीं रह गया है. वह भाव जयमें देखा तो विशेप हर्प मुझे नहीं हुआ. इससे कह दिया कि जाओ, इलाके पाससे अपनी अनुमति लेकर आओ.

स्वामी—इला !

आचार्य—हां, लेकिन उस लड़कीका भी पता नहीं है. राजधानीमें और राजप्रासादमें वह इतना रही है कि भय है कि उस सबके प्रति उसमें भी एक प्रकारकी विचिकित्सा न हो आई हो !

स्वामी—किन्तु यह तो स्वस्थ भाव नहीं है.

आचार्य—शायद नहीं हो. लेकिन रुचि तो उसी ओर जाएगी

जिसका भीतर अभाव होगा.

स्वामी—तो क्या आप मानते हैं कि इलासे प्रोत्साहन पाकर आपकी अनुमति जयके लिए उतनी आवश्यक न रह जाएगी, या कि इलासे उसे सहमति ही प्राप्त होगी ?

आचार्य—यही संभावना अधिक दीखती है.

स्वामी—आप परिस्थितियोंकी ओरसे इसे इष्ट मानते हैं ?

आचार्य—मैं मानता हूं कि आप आगामी मिले-जुले मंत्रिमंडलके निर्माण के संबंधमें तटस्थ और उदासीन न रहें तो अनुचित नहीं है.

स्वामी—अर्थात जयके अभावको आप सहज सह लेंगे, और मुझे भी वही सलाह देंगे ?

आचार्य—मुझे दूसरा कुछ कम संभव मालूम होता है.

स्वामी—परममान्य, गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार ही वर्तन हमें पूर्णता और मुक्तिकी ओर ले जा सकता है. जयकी जीवन-रेखा क्या है, यह उसके अवतकके इतिहाससे स्पष्ट है. कोई काम ऊंचा नहीं है, न कोई नीचा है. आप जयको समझा सकते हैं कि जिसको उसने ऊंचा समझा है, इसलिए जिसको छोड़ना उसने अपने लिए महत्वपूर्ण मान लिया है, वह एक ऐसा व्यापार है जो आजके समाजके लिए अनिवार्य है. इसलिए किसी न किसीको उस दायित्वका वहन करना है. जवतक कोई सहज भावसे उभरकर उस कामके लिए सामने नहीं आता है, उसे कृपया मान लेनेको कहिए कि, विधिके विधानवश वह उसे अंगीकार ही करे, तिरस्कार करनेका हठ न रखे. अन्यथा यह धर्म नहीं अधर्म ही होगा. जो जहां नियुक्त हो वहांसे हटना चाहनेका उस अधिकार नहीं है.

आचार्य—मैं समझाऊं ? लेकिन मैं तो उतने सुन्दर शब्दोंमें उसे रख भी न सकूंगा. आप ही क्यों न कहिए ?

स्वामी—जय आया था, मैंने उसे कहा भी. पर मालूम होता है कि मैं अभी उसके उतने निकट नहीं हो पाया हूं. दोष कदाचित मेरा ही है. लेकिन आपका प्रभाव भी है, हक भी है...विश्वकी गणनामें भारतका

स्थान है. उसकी राज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्थामें अपेक्षाकृत और देशोंसे बहुत अधिक स्थिरता समझी जाती है. भारतका ऊंचा मान है, ऊंची साख है...उसको तनिक भी धक्का लगे तो यह हम सबके लिए गहरी चिन्ताका विषय होगा....मैं भारतीय संस्कृतिका विश्वासी रहा हूं. कभी अतिरेकमें प्रचारकतक बन गया हूं. उस दोषको स्वीकार करनेमें मुझे आपत्ति नहीं है. एक ओरसे वह गुण भी दीख सकता है. हम सभी तो गुण-दोषके पुंज हैं. लेकिन मान्यवर क्षमा करें, मैं आपकी उत्तीर्णतासे पूरा सहमत नहीं हूं...जयका मैंने विरोध किया, क्योंकि मानता था कि भारतकी साखके लिए यह बट्टा है कि अवर्म प्रतिष्ठित हो...अन्यथा जयकी उपयोगिताका मैं कायल था...आपकी पुत्री इलाको यदि मैं नहीं समझ सका तो मैं क्षमाप्रार्थी हूं. सच यह कि उससे मुझे बहुत आशाएं रहीं हैं और इस कारण मोह भी रहा हो तो विस्मय नहीं है...लेकिन अब जब कि वह परिच्छेद बीता हो गया है तब भारतकी स्थिरतामें तनिक भी भंग उपस्थित हो, उसकी साखमें तनिक भी क्षति आए तो हम सबको, मुझसे भी अधिक आपको, इस सम्बन्धमें सतर्क रहना होगा. जयकी भावना उत्तम ही हो, लेकिन यह उसके स्वका प्रश्न नहीं है. यहां सच ही कोई स्व-तन्त्र-वान नहीं है. जो है, जहां है, एक भगवत्-तन्त्र है...अर्जुनने पीछे मुड़ना चाहा था, कृष्णने उसे समक्ष बढ़ाया. यह काम आपपर है और जय निश्चय ही आजके लिए अर्जुनके समान है. देखता हूं युद्ध समक्ष है, और शांति स्मशानकी भी हो सकती है, लेकिन वह युद्धसे बदतर चीज होगी. इसलिए हर हाल समझौता हमें नहीं चाहना है. एक जगहपर कृष्णने समझौतेकी संभावना छोड़ दी, और युद्ध मांगा गया तो युद्धका दान देनेमें योगी कृष्णने अपनी ओरसे कृपणता नहीं दिखाई...हम लोगोंके विरोधके ही त्राससे जय भक्ति और शांतिकी ओर मुड़ा हो तो यह बहुत अनहोनी बात नहीं है, लेकिन किसी भी हालतमें कर्मके और संघर्षके क्षेत्रसे उसे परांगमुख होते आप या मैं कैसे देख सकते हैं—

आचार्य—(मुस्कराकर) अर्जुनको सन्नद्ध सेनाओंके समक्ष लाओ और कातरता दिखाए तो गीता सुनाओ, मैं इससे सहमत हूं. लेकिन महाभारत किनके बीच है ? और उनके बीच समझौतेका प्रयास हो चुका है ?

स्वामी—मैं विश्व परिस्थितिकी बात कह रहा हूं, मान्यवर, आपसी बातें उनके समक्ष छोटी पड़ जाती हैं. सच ही हम एक मोड़पर हैं. बीसवीं सदीसे आज इस इक्कीसवीं शताब्दीके आरंभकी समस्या अधिक घोर और विकट है. वह पदार्थकी नहीं है, व्यवस्था-विधिकी भी उतनी नहीं है, उससे भी प्राथमिक है. वह मनुष्यताके अंतःकरणके अधिक निकट है, निश्चय ही वह अधिक मौलिक है. वह धर्म और अधर्मकी है. कर्म-संकुलताकी समस्यासे हम पार आ गए हैं. अपने विज्ञानसे शक्तिके उस स्त्रोतको हमने आविष्कृत और वशीभूत किया है जो अटूट है और अव्यय है. इसलिए प्रश्न अब अभाव और दैन्यका नहीं है, नीति और शक्तिके संतुलनका है....ऐसे समय आपकी ऐकांतिक उत्तीर्णता मुझे समझ न आए तो उसमें आप मेरा दोष नहीं मानेंगे.. और मैं कहना चाहता हूं कि यदि जयको इस अध्यात्म-विलाससे रोका न गया तो यह शुभ न होगा, न कदाचित आप अपनेको क्षमा कर सकेंगे.

आचार्य—(और अधिक मुस्कराकर) जयसे इस संबंधमें बातें हुई हैं आपकी ?...कहता है राष्ट्रराज्य अब उसकी समझमें नहीं आता. इस-लिए इस कदमको वह पीछे हटनेका नहीं आगे बढ़नेका मानता है, और मैं सचमुच चुप रह जाता हूं....मिलकर उसे लौटा सको तो मुझे खेद न होगा...लेकिन उसे पीछे रखो, पहले यह कहो कि भंग हुई सभा फिर जुड़ेगी ? क्या यह संभव हो सकेगा कि दल आपसको काटना छोड़ दें और मिलजुलकर राज्यका काम चलाएं ? अभी तो हम सब इसमें लगें. फिर कौन जानता है कि अगर इतना संभव हो आए तो जयको भी अपने छुटकारेकी चाह इतनी तीव्र न रह जाए.

स्वामी—सब तत्वोंमें कोई समझौता हो ही यह मैं अनिवार्य नहीं मानता हूं, मान्यवर. जैसे श्रीनाथ हैं और उनकी गौरांग पत्नी एलिजाबेथ

हैं. वे हमारी लोकनीतिको किस ओर ले जाना चाहते हैं ? वह दिशा क्या आप इष्ट मानते हैं, या मुझे अभीप्ट माननेको कह सकते हैं ? इन बातोंमें क्या समझौता न होना ही अच्छा नहीं है ?...आखिर क्या संघर्ष जीवनकी परिभाषा नहीं है ? और क्या शांति और सभ्यताके नामपर इन उचित और विहित विग्रहोंसे बचनेके लिए हमें कहा जायगा ? तब तो दोषोंका स्वीकार गुणोंको इसलिए करना होगा कि वे गुण हैं और उनमें ऋजुता चाहिए ..नहीं, मैं उस प्रकारके समझौतेको संस्कृतिकी प्रगतिके लिए निवारणीय और अनभीष्ट मानता हूं.

आचार्य--तब तो, स्वामी जी, जयको पाना मुश्किल है. राज्यको सिद्धांतसे अधिक वह व्यवस्थाकी वस्तु मानता है. कहता है, दो भिन्न धर्मके हो सकते हैं तो दो मतके लोग भी एक मंत्रिमंडलमें हो सकते हैं. यह बात गलत तो नहीं है.

स्वामी—किन्तु राज्यकी यह अकर्मक धारणा है, जबकि सब मानते हैं राज्य सकर्मक होकर ही श्रेष्ठ है. अर्थात समाजके निर्माणमें राज्यको योग देना होता है और वह नीतिकी अनेकतासे नहीं एक नीतिकी संयुक्तता से ही हो सकता है.

आचार्य—(हंसकर) अकर्मक धारणाकी बात आपकी संगत है. राज्यके विषयमें मेरी भी वैसी ही धारणा होती जा रही है. अर्थात सकर्मक उसे नहीं रहना चाहिए, उत्तरोत्तर उसके पास 'करने' को कम होते जाना चाहिए. इस आधारपर सचमुच विरुद्ध मतोंमें भी सहयोग हो सकता है क्योंकि मत तब असंगत रहता है, संगत मनुष्यका चरित्र हो जाता है. यदि कोई निपस्वार्थ है और व्यवस्थाके काममें निपुण है तो फिर क्या उसका धर्म है, क्या मत है, क्या जाति है, यहां तक कि क्या बोली है, यह सब असंगत हो आना चाहिए. इस भूमिकाको आप स्वीकार कर लें तो क्या आप नहीं मानेंगे कि दलोंको निकट आनेमें सुविधा हो जायगी ?

स्वामी—किन्तु यह जीवनकी निष्क्रिय पद्धति है.

आचार्य—तत्ववाद अभी रहने दें, किन्तु तत्काल हमें उससे सुविधा होगी और यह चर्चा-गोष्ठी जल्दी परिणाम पर आ सकेगी...क्या आप नाथसे मिलना चाहेंगे ?...उन्होंने मुझे आपको यह सूचित करनेके लिये कहा है कि वह अकेले आपका कुछ समय चाहते हैं.

स्वामी—किन्तु इस सम्बन्धमें मुझे सोचना होगा, लक्षकी एकाग्रतामें मैं विश्वास करता हूं और अपनी गतिकी दिशाके संबंधमें भ्रांति अथवा द्विविधा मुझे योग्य नहीं प्रतीत होती.

आचार्य—मैंने उन्हें आश्वासन भी दे दिया है...चाहे तो यही अपने विचार उन्हें कह दीजिएगा.

स्वामी—कुछ संयुक्ति भूमिका बन सके तो आपका मानना है जय राजकार्यके लिए प्राप्य रहेंगे ?

आचार्य – आशा तो रखी जा सकती है.

स्वामी—तो आप उनसे बात कर लें. वर्तमान स्थितिमें किसी कारण यह सूचना बाहर पहुंचे कि जयवर्धनको गिरना पड़ा है तो भारी संकटकी बात होगी. उससे बचनेके लिए मैं समझौतेको भी तैयार हो सकता हूं या, उससे अधिक सहज, अपनेको बातचीतमें से सर्वथा ऋण ही कर दे सकता हूं.

आचार्य—नहीं, वह तो उचित न होगा...तो नाथ आपके पास आ सकते हैं न ?

स्वामी—आना चाहें तो आएं. लेकिन जयकी ओरसे निश्चिति पाना पहले आवश्यक है.

आचार्य—मैं जयको कहूंगा कि आप दोनों हों तब स्वयं आपकी सेवामें पहुंचे.

स्वामी—किन्तु—

आचार्य—नहीं, यह ही उचित होगा...ऐलीजाबैथ चाहे तो कृपया उसे भी समय दीजिएगा. सम्भव है रंगकी ही गोरी हो, यों हम सबसे बहुत भिन्न न हो.

स्वामी—मैंने इन्कार तो नहीं किया है. लेकिन उदारताने एक सीमा से आगे भारतका अहित भी किया है.

आचार्य—वही उसे कहिएगा—कि उदारताको गलत न समझें.... और मैं मानता हूं प्रातः आठ बजेसे फिर चर्चाका आरम्भ हो सकता है.

इसके बाद योग्य शिष्टाचारपूर्वक स्वामी अपने स्थानपर चले गए.

स्वामी, नाथ, जय और एलिजाबेथ

नाथ पहुंचे तब स्वामीके सोनेका समय था. तो भी नाथका उन्होंने अभिवादन किया और अपने बराबर आसन दिया.

नाथ—जयका अनुरोध है कि हम किसी न किसी आपसी समझौतेपर आजाएं. क्या आप यह सम्भव मानते हैं ?

स्वामी—जयका हटना प्रस्तुत परिस्थितिमें किसी तरह इष्ट नहीं हो सकता.

नाथ—यदि यह मत आपका था तो—

स्वामी—था, पर उतना स्पष्ट न था. अब कह सकता हूं कि इस मेरे मतमें स्थिरता है और हमको वह सब उपाय करना चाहिए जिससे भारतकी स्थिति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें दृढ़तर बने. आपसे यद्यपि मेरी कुछ बातोंमें असहमति है, फिर भी मैं उन्हें पीछे रखनेको तैयार हूं...आपका कुछ प्रस्ताव है ?

नाथ—प्रस्ताव तो नहीं है. होगा तो मेरी पत्नी भी उसमें साथ होगी. लेकिन मेरी धारणा थी कि भारतीय संस्कृतिमें हम लोगोंके लिए आप कहीं अवकाश नहीं देखते.

स्वामी—वह तो है, और भोगवृत्तिक प्रगति, जो पश्चिमकी रही है, मुझमें संशय उत्पन्न करती ही है. उस वृत्तिसे प्रश्न पदार्थका बन रहता है. पदार्थकी राशिकी सीमा है और भोगवृत्ति रखनेपर उसके प्रति लोभ

की सीमा रह नहीं जाती है. इसलिए पदार्थका उत्पादन कितना भी हो, उसका प्रश्न समाप्त नहीं होता और अशांति उपजाए विना भी नहीं रहता. युद्ध उसीमेंसे सृष्ट होते गए हैं और मैं किसी कीमतपर भी उस प्रकारकी उन्नति और प्रगतिको सिरपर लेनेको तैयार नहीं हूं...किंतु शायद आपका प्रश्न दूसरा है.

नाथ—हां, इस समय वह तात्विक नहीं है, यद्यपि भारतकी यह अध्यात्मपरक स्वरति भारतको असमर्थ रखनेमें कारण रही है और पदार्थकी ओरसे दीन और परमुखापेक्षी...पर वह प्रश्न इस समयके लिए नहीं है और मैं पूछना चाहता हूं कि क्या सभा जारी रखी जा सकती है और सवेरे उसकी बैठक हो सकती है ?

स्वामी—जरूर हो सकती है और मालूम हुआ है आठ बजे प्रातः हो भी रही है.

नाथ—आपको इसपर विशेष आपत्ति थी कि जय चर्चामें बुलाए जाएं. क्या अब भी आपका यह भाव है ? या अब आप श्रीमती नाथके प्रस्तावसे सहमत हो सकते हैं ?

स्वामी—हां, अब मैं उस प्रस्तावका अनुमोदक हूं और उसकी प्रस्ताविकाको कृपया मेरी ओरसे क्षमाकी प्रार्थना पहुंचा दीजिएगा.

नाथ (आश्चर्यसे)—किन्तु उस प्रस्तावका समर्थन तो उस रूपमें मैंने भी नहीं किया था, और कदाचित अब वह वृथा भी है.

स्वामी—वृथा क्यों ?

नाथ—जयवर्धन मुझे मिले थे. मालूम हुआ कि एलिजाबेथने उनसे विना कहे वह प्रस्ताव किया था...आप मानते हैं कि जयके अलग रहने में अहंकारका भाव नहीं है ?

स्वामी—होनेका कोई विशेष कारण तो नहीं है.

नाथ—यदि अहंकार नहीं है तो आशा करनी चाहिए कि हमारे सम्मिलित प्रस्तावपर वह सभामें भाग लेंगे. किन्तु यदि नहीं लिया, तो फिर क्या सिद्ध होगा ?

स्वामी—मुझे वह संभावना नहीं दीखती.

नाथ–मुझे वही सम्भावना दीखती है...और तब क्या आप मुझसे सहमत होंगे कि जय अपने निर्णयको हमसे निरपेक्ष और स्वतन्त्र रूपसे अन्तिम मानते हैं और हम जो कुछ करें वह उनके लिए गौण है !

स्वामीने नाथको देखा, वह कुछ ठीक तरह नाथका आशय हृदयंगम नहीं कर सके. कहा—मेरा अनुमान दूसरा है. मेरे शब्द तो आपको याद होंगे. उनसे जयवर्धनको यह माननेका कारण मिल जाता था कि उनकी अनुपस्थिति हमें सहकारी होगी. उनके खिचनेमें कारण मुख्यतः यह सह-कारिताका भाव ही रहा हो सकता है.

नाथ–हो सकता था. लेकिन यदि हम सबकी ओरसे आवेदन हो और फिर भी वह अलग रहना चाहें, तो ?....तो क्या आप न मानिएगा कि इसमें हमारा अपमान गर्भित है. मैं नहीं कह सकता कि क्या होगा. किन्तु यदि हम सबके आवेदनका तिरस्कार हो तो उसको सहनेका मेरा विचार नहीं है. आपकी क्या सम्मति है ?

स्वामी—वह न आए तो हम उनकी कुटीमें चलकर विचार कर सकते हैं. मानापमानका क्या प्रश्न है !

नाथ—किन्तु वह प्रश्न है. हम अपनी ओरसे तो यहां एकत्रित हो नहीं गए, बुलाया गया है. सबको जयवर्धनके हस्ताक्षरके पत्र मिले हैं जिसमें था कि उन्हें मन्त्रणाकी आवश्यकता है...किसको मन्त्रणाकी आव-श्यकता है ? जिसने लिखा, मालूम होता है, उसको अब वैसी कोई आव-श्यकता नहीं है. तब क्या हमें ही परस्पर मन्त्रणा करना और चल देना है ?....स्वामीजी, मैं आपसे अनेक बातोंपर सहमत न हूं, कईपर विरोध भी हो, लेकिन यहां हम दोनों एक स्थितिमें हैं. स्पष्ट कहता हूं कि मैं झुकनेको तैयार हूं और लिजाका वह प्रस्ताव एक तरह स्वयं विनत होनेका ही है. किंतु हमारी विनती भी यदि अस्वीकार होगी तो हमें बताना होगा कि सिर सीधा करके खड़े होना भी हमें आता है...तब हमें निन्दाका प्रस्ताव करना होगा और मुझे निश्चय है आप साथ देंगे.

स्वामी—क्या कह रहे हो यह तुम, नाथ ?

नाथ—मैं आपसे सहमत हूं, स्वामीजी, कि जयवर्धनसे तो भी देशको एक स्थिरता प्राप्त हुई है. हमारा मान बढ़ा है और नाम बढ़ा है... किन्तु यदि ऐसा ही हो तो विश्वको मालूम होना चाहिए कि शान वह व्यक्तिकी नहीं है समूचे राष्ट्र की है, और व्यक्ति यदि अहम्मन्य बनता है तो राष्ट्र उसके बिना भी अपनेको संभालनेकी शक्ति रखता है !

स्वामी—किन्तु, नाथ यह सब तुम कह किस आधारपर रहे हो ? आखिर तो वह सब कल्पना ही है जो निरी अनावश्यक हो सकती है.

नाथ—नहीं स्वामीजी, कल्पना तो हो, पर एकदम व्यर्थ नहीं है... एलीजाबेथने यहां जब प्रस्ताव किया तो उसके बाद वह जयवर्धनसे मिली भी थी. आकर जो उसने बताया वह बहुत आशा नहीं बंधाता. एक तरह उसका अर्थ है, 'आप जानें और आपका काम जाने, आप सम्मिलित निर्णयपर आजाएं तब होगा सो देखा जाएगा'....एलीजाबेथ नत हुई, नम्र हुई, पर जयकी वृत्तिमें अंतर नहीं आया...अब लिजा यदि क्रुद्ध है तो मैं उसे समझ सकता हूं. उसकी नम्रता हम सब लोगोंकी ओरसे थी, आप स्वीकार भी कीजिएगा कि वह राष्ट्रकी हितकामनाकी दृष्टिसे थी. उसीकी यदि अवज्ञा हो, तो उसके पीछे घोर अहंकार नहीं तो क्या हो सकता है ?...सवेरेकी बैठकमें मेरा विचार है कि हम एलीजाबेथके प्रस्तावको दोहराएं, और यदि परिणाम शून्य आए तो मैं हूंगा कि स्वयं निंदाका प्रस्ताव रखूंगा, और राष्ट्रके सम्मानके नाते आपको उसका साथ देना होगा.

स्वामी—(द्वारपर थपथपाहट सुनकर) कौन ? आइए.

जय—(प्रवेश करते हुए) प्रणाम. (नाथकी ओर) नमस्कार.

स्वामी—आओ जय, बैठो. तुम्हारी ही बात हो रही थी. हम सब लोग एक मत हैं कि चर्चा गोष्ठीमें तुम्हारी उपस्थिति जरूरी है. इस एक मतको, सर्व-मतको, तुम अमान्य न करोगे.

जय—अमान्य कैसे कर सकता हूं !....आचार्यसे आपकी बात हुई ?

स्वामी—आचार्य विरोध नहीं कर सकते !

जय—किंतु वह अधिक कृपालु हो सकते हैं !

स्वामी—तुम क्यों अलग रहना चाहते हो, जय ? मेरी पहलेकी बातोंसे रूठकर ?

जय—नहीं, उन बातोंकी अब सार्थकता अनुभव करके. राज्य अब सब (दलों) का होना चाहिए, जो विरोधमें रहे हैं उनका वहां प्रमुख हाथ होना चाहिए. कारण, विरोधमें रहनेसे समग्र राजनीतिके सम्बन्धमें उनमें जागरुकता रही है. शासनस्थ दल शासनका भोग पाकर कुछ स्खलित और शिथिल हुआ हो तो यह असंभव नहीं है. इसलिए पदारूढ़दल, चाहे वह बहुमत रखता हो, नए मन्त्रिमंडलमें प्रमुख नहीं बनना चाहिए, उस सेवामें मैं काम आ सकता हूं ...राष्ट्रीय महासभाके प्रतिनिधि नेता जो आएंगे उनको मैं यह दृष्टि-कोण दे सका तो मैं सार्थक हूंगा. किन्तु आप लोगोंको किसी तरहका परामर्श देनेकी धृष्टता मैं नहीं कर सकता. मुक्त भावसे प्राप्त किया हुआ आपका निर्णय ही नए शासनको बल देगा. इसीलिए प्रार्थना है कि आप मुझे बाहर रहने दें.

नाथ—क्या मैं जा सकता हूं ?

स्वामी—नहीं,...जय, नाथ कह रहे थे कि चर्चामें तुम अगर शामिल न हो सको तो यह हम लोगोंके लिए अपमानजनक होगा. बात उनकी असंगत तो नहीं है.

नाथ—व्याघातके लिए खिन्न हूं...प्रश्न किसी निवेदनका नहीं है.

जय—नहीं, स्वामीजी, अपनी ओरसे उसमें शामिल होनेकी इच्छा करना एक तरह आप लोगोके मुक्त भावपर आरोप लाना ही हो जाएगा. वह मैं बचाना चाहता हूं.

नाथ—जय, मैं यहांसे चला जाना चाहता था. जा नहीं सका तो कहने दो कि यह सब नाटक रचनेकी तुम्हें आवश्यकता नहीं है. जानते हैं तुम पदपर हो, तुम भी यह खूब जानते हो, इसलिए जिस तरह चाहो सलूक करो, तुम्हें कोई रोकनेवाला नहीं है. लेकिन हम लोगोंकी

भी कुछ इज्जत है. वह तुम जितनी न सही, फिर भी तो है. क्या उसीके साथ खेल करने तुमने हमें यहां वुलाया है ?...कोई जरूरत नहीं है कि सभा आगे चले. अपना सब आडम्बर समेटो और हमें जाने दो. तुम यदि अपने मालिक हो तो हम भी सब अपनी-अपनी मर्जीके मालिक हैं. सम्मिलित भावसे अगर कुछ तुम नहीं करना चाहते हो तो न सही. हममेंसे किसीको उसकी गर्ज नहीं पड़ी है...

स्वामी—नाथ!

नाथ—नहीं स्वामीजी, यह शख्स हमेशा अपनी रखना चाहता है... चाहता है तो हम कव कहते हैं कि नहीं...लेकिन फिर हमको झमेलेमें क्यों डाला जाता है ?...मैं अव चलूंगा, स्वामीजी, और मैं समझता हूं कि यह निश्चित समझा जा सकता है कि सभाका कार्यक्रम अव आगे नहीं है, और हम सव लौट जानेको स्वतन्त्र हैं.

स्वामी—नहीं, नाथ नहीं, सभा निश्चय होगी. क्यों जय ?

जय—सभाध्यक्ष आचार्य हैं. क्या उन्होंने कुछ सूचना की है ?

स्वामी—हां, आठ वजेसे वैठक है.

जय—वस तो है, और होगी.

नाथ—और तुम ?

जय—(नाथकी ओरसे मुंह हटाकर स्वामीकी ओर देखते हुए) मैं आज्ञासे वाहर कैसे हो सकता हूं ?

स्वामी—मैं कहता न था, नाथ ?

जय—लेकिन एक वात निश्चित है...वह मुझपर निर्भर है न आपमेंसे किसीपर. राज्य आप लोगोंको वनाना और चलाना होगा, और मेरा छुटकारा मन्जूर करना होगा...इसमें अंतर नहीं आ सकता है. किसी दलको, या सभी दलोंको भी, व्यक्तिपर इतना आधिपत्य प्राप्त नहीं कि जिसके लिए वह नहीं है वह काम उससे करा सके. मुझमें राज्य कही नहीं रह गया है. इससे अव मैं किसी तरह भी उसपर आनेके लिए हो नहीं सकता. नाथ, और आपसे भी कहता हूं स्वामीजी, कि अगर

यह अहंकार है, तो है. अहंकारके इस रूपके साथ ही मुझे जीना बदा है, और मौतके साथ ही वह मुझसे छूट सकता है...इससे इधर जो आज्ञा कीजिएगा, मैं तत्पर हूं. लेकिन इससे मुझे मोड़नेकी आशामें कोई अगर यहां है तो वह जा सकता है, क्योंकि वह सम्भव नहीं है.

नाथ—देखिए, स्वामीजी !

जय—हां, वह जा सकता है...लेकिन (नाथकी ओर) महोदय, आप को मैं किसी तरह नहीं जाने दे सकता हूं, क्योंकि आपसे मुझे क्षमा पानी है...श्रीमती एलीजाबेथने यदि आपसे रोषपूर्ण और दोषपूर्ण व्यवहार किया हो तो अधिकांश सम्भव है कि रोषका कारण उन्हें मुझमें मिला हो. उसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे....वह भारतके प्रति उतना ही अनुराग रख सकतीं है जितना हममेंसे किसीका दावा हो. त्यागमें बल्कि वह हमसे भी आगे जा सकती हैं. स्त्रीको अनुरागकी मात्रा अधिक मिलती है, उतनी ही त्यागकी सामर्थ्य भी अधिक...भारतकी हित-कामनामें उनकी तीव्रता कम नहीं है...उसीमें यदि उन्होंने माना हो कि इस समय मेरा पदसे हटना ठीक नहीं होगा तो यह बात मैंने और दिशा से भी सुनी है. आचार्यने बताया कि स्वामी भी यही मान उठे हैं...उस तीव्रताके लिए भी एलीजाबेथको दोष नहीं दिया जा सकता...किंतु मैं असहाय हूं और वहां स्वयं मुझपर मेरा अपना वश नहीं है. राज्यपर मैं अब किसी किसी तरह नहीं आ सकता....इसपर एलीजाबेथको क्षोभ हो तो महोदय आप उसे गलत न समझिए, मैं भी उसे गलत नहीं समझ सकता...और बड़ी कृपा हो कि सभा हो तो उसमें मुझे फिर ऐसी स्थिति में न डाला जाए कि आज्ञा भंगका पातक मुझे उठाना पड़े. कारण, कोई आज्ञा उससे अमोघ नहीं हो सकती है जो निःशब्द प्राप्त होती है.

नाथ—जय, तुम अपनेको अपने हाथमें रखते हो. फिर सभा किस-लिए ?.

जय—मुझे खंडित करनेके लिए ?...नहीं, सभा हम सबकी परिपूर्णता-के लिए है, और यदि अपने कारण किसी एकको भी हम खंडित करेंगे

तो परिणाम शुभ नहीं हो सकेगा...विरोधका हेतु, श्रीनाथ, आपके दल के लिए क्या था ? और स्वामीजी, आपके पक्षके भी विरोधका लक्ष क्या था ? यही न कि राजतन्त्र हाथ आए और उसका संचालन अमुक विधि से लोक-लाभके लिए हो सके...वही अवसर उपस्थित है. इससे बड़ा सहयोग और मैं क्या दे सकता था...यदि विरोधमें आपकी तनिक भी आस्था और सत्यता थी, तो आपके लिए यह स्वागतकी बात ही होनी चाहिए कि जय किसी ओरसे, किसी बहाने, आपपर आरोपकी भांति आनेको उद्यत नहीं है. परिस्थिति ठीक यही है. राज्य सब आप लोग संभाल लीजिएगा, तब यह भी पाइएगा कि जय उससे स्वतन्त्र होकर भी हर समय आपकी सेवाके लिए प्रस्तुत है. तब वह किसी आज्ञासे विमुख भी न होगा. उससे पहले आपका यह आग्रह कि मैं मन्त्रणामें सम्मिलित रहूं कितना ही सदय हो, न्याय्य पूरी तरह नहीं है.

स्वामी—चलो हुआ. यह तो तय है कि सवेरे आठकी सभामें तुम भाग ले रहे हो ?

जय—(नाथकी ओर) यही आज्ञा है ?

नाथ—मुझसे क्यों, यह तो आपको अपने विवेकसे पूछना चाहिए.

जय—यही तो कठिनाई है कि विवेकसे अनुकूल आज्ञा नहीं प्राप्त हो रही है...फिर भी मैं आऊंगा.

नाथ—यह तो अच्छा है, पर न आएं तो भी अपनी सम्मान रक्षा का उपाय हम कर सकते हैं, यह आप निश्चय रखें.

इसी समय हल्की थपथपाहटके बाद द्वारमें से ऐलीजावेथने प्रवेश किया.

ऐलीजावेथ—ओह, तो आप यहां हैं !—सभी लोग यहां हैं ! मैं धन्य हूं. प्रणाम. नमस्कार. क्यों, प्रिय, अभी कुछ और देर यहां लगेगी ?

नाथ—नहीं, बस चल रहे हैं—सवेरे बैठकमें जय आ रहे हैं और यही चर्चा हो रही थी, ऐलीजावेथ.

ऐलीजावेथ—ओह, तो हम लोग पात्र हैं ! धन्यवाद. स्वामीजी'

विघ्नके लिए क्षमाप्रार्थिनी हूं...नाथको एक सूचना देनी थी, आचार्यकेह यां-से मालूम हुआ कि वह यहां हैं....मुझसे आपका अविनय हुआ हो सकता है. उसका मुझे दुख है...आप चाहेंगे तभी मेरा सभामें आना हो सकेगा. आपकी बात सही ही है. कारण, जन्मसे मैं यहांकी नहीं हूं, तो भार-तीयताके प्रति मेरा अधिकार भी उतना नहीं रह जाता. भारत आपका है और देखती हूं कि आपकी कृपापर मुझे यहां रहना सीखना है !

स्वामी—नहीं, नहीं, आवेशमें भी ऐसा नहीं कहना चाहिए. जो हुआ भूल जाओ. किन्तु जयसे नाराज हो ?

ऐलीजावेथ—इनतक हमारी नाराजी पहुंचती है ? हम उस तकके अधिकारी नहीं हैं ! अच्छा, प्रणाम.

कहकर नाथको साथ ले एलीजावेथ बाहर चली गई. जय कुछ नहीं बोले. स्वामी—जय, क्या बात है ?

जय—कह नहीं सकता.

स्वामी—कुछ है जरूर.

जय— ?

स्वामी —तुम्हारा क्या अनुमान है ?

जय—होगा....लेकिन, स्वामीजी, आशा है, आप मेरी रक्षा करेंगे. आचार्य कहते थे, आप मुझे पदके लिए अनिवार्य मानते हैं. मैं इसीलिए आया हूं कि वैसी स्थिति आप उत्पन्न न कीजिएगा. कारण, यह सम्भव नहीं है.

स्वामी—क्यों सम्भव नहीं है ?

जय—राजकी सीमा है. वह लकीर धरतीपर तो कहीं नहीं है, सिर्फ नक्शेपर है. इसलिए राज्य कृत्रिम है. उस कृत्रिमताके लिए मेरे पास कहीं जगह नहीं रह गई है. कृत्रिम मैं कहता हूं, लेकिन दूसरे उसे आज का सबसे बड़ा यथार्थ और सबसे बड़ा सत्य भी कह सकते हैं. ऐसा जो कहें उन्हींपर फिर उस राज्यका दायित्व आना जरूरी है. मेरे पाससे सहसा ही वह दृष्टि छिन गई है. तब बताइए मैं क्या करूं ? जानबूझ-

कर उसे टिकाने और उठानेमें मदद कैसे करूं कि जिसका आधार ही मेरे भीतरसे लुप्त हो गया है ?

स्वामी—नहीं जय, आदर्श की बातोंमें तुम न जाओगे. तत्परतासे व्यक्तिको वे विमुख करती हैं. पूर्ण यहां कोई नहीं हैं. यह तुम जानते हो, मैं जानता हूं, सब जानते हैं....सिर्फ इसलिए कि अपूर्ण है कोई या कुछ असत्य नहीं हो जाता...जय, सोचो कि क्या होगा ? भारतका मान है, उसपर लोगोंको भरोसा है, उससे दुनियाको आशाएं हैं. यह सूचना कि तुम अलग हो रहे हो उस स्थितिको ध्वंस कर देगी...बीसवीं सदी किन कष्टोंमेंसे हमने पार की है. इक्कीसवींमें भारतका यह अर्थरचनाका जो नया प्रयोग आया है—उसका आगे क्या होगा ? बीचमें ही उसे छोड़कर तो तुम नहीं जा सकते...यह नया समाजवाद, नया लोकवाद था. यह व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंके नए संतुलनका परीक्षा-काल था. प्रयोगके फलको आनेदो. तब जो हो करना. अभी वह समय नहीं है, और देखो संतुलनको भंग करनेकी न सोचो.

जय—उन सब बातोंके विचारके लिए मेरे भीतर कहीं अवकाश नहीं रह गया है, स्वामीजी. किस प्रयोगकी मैं चिंता करूं ? अगली घड़ी का क्या किसीको पता है ! इसलिए वह सब क्या मोहकी बातें ही न हैं ? बातें, कि जिनको बुद्धिके व्यामोहने उपजा लिया है और उसने ही उन्हें बड़ा बना दिया है ! पर छोड़िए, अधिक समय आपका न लूंगा. आपकी नियमितता जानता हूं. अभी आपको एक घण्टेसे ज्यादाकी देर हो गई है....ठीक है, कल मैं बातचीतमें आ जाऊंगा. अच्छा, प्रणाम.

कहकर जय स्वामीकी उपस्थितिसे चला आया.

लिला और इला

इला—क्यों, क्या है ?

साथिन—कोई हैं. लीजाबिथ, या क्या. कह दूं कि आप विश्राम

कर रही हूं ?

इला—ऐलीजावेथ तुमने कहा. वही हैं ? उन्हें ले आओ.

लिजा—(आते हुए) कष्टके लिए क्षमाप्रार्थी हूं. क्या आप सो गई थीं ?

इला—कृपा है. आइए, (पास तख्तपर बिठाकर) बैठिए, कहिए कैसे कष्ट किया ?

लिजा—हम लोग आतिथ्यका लाभ उठाते रहे हैं, कृतज्ञता आप तक अभी पहुंचा नहीं सके...मालूम नहीं, सभाका क्या हो, कभी जाना पड़ सकता है. इससे सोचा, अपना आभार जतानेमें मुझे समय चूकना नहीं चाहिए.

इला—कृपया लज्जित न करें !

लिजा—सुना है जय पद छोड़ रहे हैं. हम सब विरुद्ध हैं. आचार्य भी पक्षमें नहीं हैं. फिर क्या आपने उनसे यह चाहा है ?

इला—मैं ? नहीं—

लिजा—यह पागलपन होगा. आखिर गुस्सा किसपर है? जो विरोधमें थे सब इस कदमके विरुद्ध हैं. फिर आपसे पूछती हूं, यह क्या है ?

इला—मुझसे क्यों पूछती हो ?

लिजा—क्यों पूछती हूं आप जानती हैं. पुरुष कोई नहीं है जिसकी कुंजी हम स्त्रियोंके पास न हो. इसीसे उन्हें छोड़कर आपके पास आई हूं. यह अनिष्ट आप घटने देंगी तो भारी लांछनकी बात होगी.

इला—क्यों, अनिष्ट यह क्यों है ? और लांछन इसमें क्या है ?

लिजा—अनिष्ट इसलिए कि निषेध कोई सच नहीं होता. हारकर पुरुष उसमें जाता है...लांछन यह कि स्त्री होकर कोई जयको पीछे अपनेमें खींच ले गई, आगे नहीं बढ़ा सकी...इला देवी, हमारा यही भाग्य है. पुरुषको हम चढ़ाएंगी, चढाए जाएंगी, यहां तक कि यों चाहे दुर्लभ पड़कर वह हमारे लिए खो ही जाए. लेकिन मुड़ने हम उसे नहीं देंगी. भोग ले सकती हैं, लेकिन फिर भी अपनेसे समक्ष और आगे उसे

ठेलते जानेके धर्मसे विमुख हम नहीं हो सकतीं.

इला—आप समझतीं हैं, मैं समझ रही हूं जो आप कह रहीं हैं ?

लिजा—अवश्य समझ रही हैं और यह भी कि मैं सच कह रही हूं ...और मैं कहती हूं कि तुम जयको अपनेमें नहीं खींच सकती. मैं यह नहीं होने दूंगी.

इला—लेकिन मैं इस सबका एक शब्द नहीं समझतीं हूं...एलिजा-वेथ, समझाकर कहो, क्या चाहती हो ?

लिजा—समझाकर और क्या कहूं. जानती हूं तुम जानती हो. अबोध बनकर मुझे भ्रममें नहीं डाल सकती...आदमी क्यों उन्नति करता है ? क्यों फिर एक दिन छोड़कर अपनी ही अवनतिमें रस लेता है ? इस क्योंका उत्तर मुझसे न मांगो. उत्तर तुममें है, मुझमें है...लेकिन जय तुम्हारा नहीं है. अपनी अवनतिमें रस लेनेसे उसे तुम्हें रोकना होगा. यह बहुत जरूरी है, बहुत ही जरूरी है...मैं पूछती हूं, अबतक विवाह जो नहीं हुआ, तो अब क्यों होगा ?

इला—(ध्यानसे लिजाको देखते हुए, धीमे-धीमे) तुम तो विवा-हित हो !

लिजा—जय विवाहके लिए नहीं हैं.

इला—क्यों ? तुम्हारे विवाहित होनेपर भी ?

लिजा—क्योंकि जय हैं. और व्यंग कितना भी करो, बात सच है.

इला—लिजा, अबतक वह अपनी इच्छासे अविवाहित नहीं थे बल्कि—

लिजा—(काटकर) भाग्यके दोषसे थे. वही कहती हूं, भाग्यका पलटना न होगा.

इला—(तनिक रोषसे) क्यों अशुभ कहती हो ! भाग्य बलि ही नहीं मांगता.

लिजा—हां, कुछ बलि बनकर ही जन्म लेते हैं. वे विरले होते हैं. जय उन्हींमें हैं.

इला—लिजा, जानती हो क्या ? लगता है तुम अपने प्रेममें पड़ी हो. इसीसे अतिशयता करती हो !

लिजा—क्या-आ ?

इला—शायद अपनी वासनाके प्रेममें हो...सपना अगर कुछ है तुम्हारा तो उसका बोझ खुद उठाओ. दूसरेको उसका दायित्व पहनाने न चलो.

लिजा—मैं यह सब तुम्हें नहीं कहने दूंगी. जानती हो क्या कह रही हो ?

इला—हां, जयपर अपनी इच्छाओंका आरोप तुम न ला पाओगी. वह इसलिए नहीं हैं कि किसी तुम्हारे मनके चित्रको पूरा करें...साफ कहो, मुझसे कहने आई हो कि विवाह न करूं ?—

लिजा—हां, विवाह नहीं हो पाएगा...तुम राजरानी बनना चाहती हो. यही साध है न तुम्हारी ? पर वह पूरी न होगी.

इला—लिजा, तुम होशमें हो ?...चाहती हो वह पदसे न हटें. चाहती हो मैं उसमें मदद करूं—फिर कहती हो मैं राजरानी बनना चाहती हूं !...तुम्हें अपनी ही सुध नहीं है...वह पदपर रहेंगे तो मैं नहीं जानती मेरा राजरानी बनना कैसे रुक सकता है और तुम कैसे रोक सकती हो ?...रोकना चाहती हो तो सीधा उपाय है कि उनके पदसे हटनेमें तुम मेरी सहायता करो.

लिजा—(विस्मयसे) मैं तुम्हें समझी नहीं, इला ! तुम विवाह चाहती हो और उससे पहले यह चाहती हो कि उनका पतन हो जाए, वह कुछ न रह जाएं, अकिंचन बन आएं !

इला—ठीक, यही चाहती हूं. पर वह पतन नहीं है, उत्थान है.

लिजा—इसी शर्त पर विवाह करोगी कि वह तुम्हारे आगे हीन हो आएं, सामान्य और साधारण ?

इला—ऐलीजाबेथ, यह सब मुझसे सुनने और कहने तुम क्यों आई हो ? इससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध तो है नहीं. तुम विवाहित हो और विहित हो. फिर किस आवश्यकताका त्रास है जो तुमको यहां ले आया है?...

सुनो, मेरी ओरसे शर्त नहीं है, हमारे यहां शर्तें नहीं होतीं...लेकिन राजरानीपन जिसे कहा जाता है उसे तो एक तरह में भोग आई हूं. मालूम नहीं उसके लिए तुम्हारे मनमें क्या भाव हैं. हो सकता है उस जगहकी वजहसे जयका तुम मूल्य लगाती हो...उस मूल्यको बड़ा चढ़ाकर देखती हो और फिर मनमें सपने जगा बैठी हो...लेकिन वह सब मेरे लिए तो जरूरी नहीं है. जयका मूल्य मेरे निकट जगहका नहीं, जयका ही है .. फिर सोचती होगी, विवाह किसलिए ? आंतरिकका सामाजिकके रूपमें स्वीकार्य होना आवश्यक है इसलिए. तभी तथ्य सत्य होता है. भूल करती हो, लिजा, अगर जयको मूर्ति समझती हो, मानव नहीं. वह भूल हृदय-हीन होगी. उसके जीवनको उसका रहने दो, हठात् उसे आलौकिकतामें न उठाओ. पूछती हूं, क्यों तुम ऐसी दारुण बनती हो ?

लिजा—(सुनते-सुनते आवेशमें उठ खड़ी होकर) मैं उत्तर चाहती हूं...वह पदसे हटेंगे ?

इला—मैं यही जानती हूं.

लिजा—और विवाह होगा ?

इला—यही लगता है !

लिजा—लिजा, तो सुनो, दोनोंमें से कुछ न हो पाएगा...यह तुम स्वीकार करती हो की जय पदपर रहे तो तुम योग्य गृहिणी न होगी. तुम सामान्य जयके योग्य हो सकती हो, ऐसा तुम मानती हो. जो असा-मान्य है उसकी पात्र तो तुम हो नहीं. फिर क्यों अपने बराबर उन्हें नीचे लाओगी ?

इला—(मुस्कराकर) स्वीकार करती हूं...तुम अधिक योग्य हो. पर तुम तो पत्नी हो !

लिजा—चुप रहो !

इला—चुप रह सकती हूं. पर क्या तुम जयको प्रेम करती हो ? नहीं भी, तो सराहना तो करती ही हो. फिर, लिजा, क्या तुम ही उनकी सार्थकता में बाधा बनना चाहोगी...जो सोचती हो वह बिल्कुल नहीं है,

पद छोड़नेमें कोई प्रतिक्रिया नहीं है, किंचित भी पराजय या निराशा नहीं है. कोई भी आहत अभिमानका भाव नहीं है...कहती हूं तुमसे कि तुम यह मान लो...वस राजमें अव उन्हें पूर्ति नहीं दीखती है, राजकी समूची धारणा ही अव अपने लिये उन्हें असंगत और मिथ्या लगती है.... और मैं नहीं हूं उसमें निमित्त. मानो लिजा, मैं नहीं हूं. मैंने कभी उन्हें अपनी ओर नहीं मोड़ना चाहा है. साथ और सम्मुख इसीलिये रही हूं कि अभावके कारण कहीं हठात् मेरी ओर उन्मुख न वनें. तुमसे सच कहती हूं....मानती हूं, स्त्री इसलिये नहीं है कि पुरुषको अपनी ओर ले. उसकी कृतार्थता इसमें है कि वह पुरुषको आगे और उत्तरोत्तर करे. वह पीछे रहनेको है, इसलिए कि पुरुप किसी भांति पीछे न हो पाए... इसलिए, लिजा, नाराज होकर न जाओ. प्रेमका आधिपत्य नहीं होता है. न मान लो कि मेरा आधिपत्य है, या होगा...जय तुम्हारे इतने ही हैं....लेकिन क्या यह प्रेम है, लिजा, जो आरोप लाता है?...सुनो,राज-पर होकर जय विहगसे मुक्त न रहेंगे, प्राण उनमें उसी मुक्तिको छट-पटाता है...तुम लोग राजकी वातोंको लेकर क्यों उन्हें वांधना चाहते हो ! स्वार्थ हो तो भी समझ सकती हूं, पर वैसा कोई स्वार्थ तो नहीं दीखता है...क्या उनका यही कहना नहीं है कि आप सव लोग मिलकर राज्य संभाल लीजिए. आप लोगोंका, जो विरोधमें हैं, हित और स्वार्थ क्या इसीमें नहीं है कि मिलें और शासनको हाथमें ले लें? इनकी सुविधा यदि जय करते हैं तो क्या वुरा करते हैं...आपके लिए वुरा नहीं करते हैं, तो मैं कहना चाहती हूं कि अपने लिए भी वुरा नहीं कर रहे हैं. क्यों कि यह उनके मनके गहरेकी वात है और इसीमें उन्हें परम तृप्ति है... तुम नाथकी पत्नी हो, उनके साथ विरोधी दलकी नेत्री भी हो...मान लो कि वह तुम उतनी नहीं हो जितनी जयकी प्रशंसिका हो, तो अच्छा यही सही. लेकिन तव भी यह पहचानकर कि इसीमें उन्हें परम लाभ है तुम क्यों जवरदस्ती उसमें वाधक वनकर खड़ी होना चाहती हो, यह तो मेरी किसी तरह समझमें नहीं आता है, लिजा...मेरे नाथ विवाह

—क्या वह किसी तरह तुम्हें स्पर्द्धाके भावका कारण हो सकता है? पर विवाह मेरे लिए स्वामित्व तो है नहीं, वह तो धर्मकी एक सुविधा है. उससे, प्यारी एलीजावेथ, तुम्हारे लिए क्यों विशेष अन्तर होना चाहिए? मैं तो पहले भी साथ रहती थी.

लिजा—अन्तर नहीं है ? तुम कहती हो अन्तर नहीं है ?

इला—अंतर क्या है ?

लिजा—नहीं है, तो क्यों होने दोगी यह विवाह ?

इला—अंतर केवल स्वीकृतिका है....तुम्हारे लिए तो वह विशेप अर्थ नहीं रखता न ?

लिजा—(वल खाकर) मेरे पास समय नहीं है, और इला, जयके साथ कुछ घटा तो याद रखना कि तुम अपनेको निर्दोष न मान सकोगी!

इला—वैठो लिजा, जाओ नहीं. वताओ क्या वात है ?

लिजा—समय नहीं है. धन्यवाद ...याद रखना.

कहा और लिजा चली आई. इला उसके वाद देरतक सो न सकी.

× × × ×

यें चित्र मैंने अपनी कल्पनामें से लिए हैं. फिर भी कल्पना निराधार नहीं है, संग्रहीत जानकारीके वलपर वढ़ी है. और उपाय उस व्यूह और वेगको पकड़नेका है नहीं जिसमेंसे घटनाएं विस्फोटकी ओर वढ़ती ही चली गईं, किसी प्रकार रुक नहीं सकीं.

कवतक लिखूंगा ? सवेरेका तीन वज रहा है. कहां कहांसे खवरें जुटाकर ग्यारह वजे, जव सोना चाहिए था, मैं यह लिखना ले वैठा था. पर अव नहीं. कल जाने क्या लाएं. उसके लिए भी उद्यत होना है.

इन्द्र आ गया होगा. वारह वजे आनेवाला था. जय स्वयं स्टेशन लेने पहुंचे होंगे. रोका गया था और सभीको उनका जाना अनुचित प्रतीत हुआ था. पर जय अटल थे और अवश्य गए होंगे. मैं अपनेमें ऐसा डूवा कि कुछ पता न चला, इन्द्र आया तो कव आया और व्यवस्था हुई तो

क्या हुई. यह भी अचरज है कि जब मेरी कुटियामें प्रकाश था और निश्चित था कि मैं जग रहा हूंगा तब इन्द्र मेरे पास आया क्यों नहीं ? या जयने ही मुझे अवगत क्यों नहीं किया?... जो हो, इस समय सब शांत है. घोर स्तब्धता है....इस स्तब्ध अथाहके बीच घटनाएं क्या हैं...विचित्र लगता है, किन्तु उन्हींमें हम व्यस्त हैं !...क्या उपलब्धि अपने भीतर इस अथाह और निस्तब्धकी अनुभूति ही है—महाशून्यमें अपनी परम शून्यताकी उपलब्धि ? स्यात् वही है. वही है, और मैं न सोचूंगा, केवल सोऊंगा.

१२ अप्रेल—

...सवेरे हीं उठना पड़ा. देखता हूं कि इन्द्रमोहन है और वह किसी तरह तरस खानेको तैयार नहीं है. आंख मलता हुआ उठा, देखा, अभी अंधेरा गया नहीं है. मैंने कहा, "इन्द्र, मालूम है मैं तीन बजे सोया था?"

इन्द्र, "मालूम नहीं है, और जरूरत नहीं है. लेकिन यह क्या कर रखा है !"

कागज रातके बिखरेसे ही थे. समझा, उन्हींकी तरफ इशारा है.

"देखता हूं बहुत लिखते रहे हो...पर यह सब क्या है कि जय हट रहा है और तुम बैठे तमाशा देखते और लिखते रहे हो...कहो, इसमें तुम कहां हो ?"

वह गंभीर मालूम होता था, मैंने धीमेसे कहा, "मैं कहीं नहीं हूं."

"सच कहते हो ?"

प्रश्न अच्छा नहीं लगा. पूछा, "तुम्हें संशय है ?"

वह भरा मालूम होता था. बोला, "मैं समझ नहीं सकता हूं, सह नहीं सकता हूं. यह क्या हाल है जयका ?...जानता हूं आदर्शवादी रहा है. पर यह तो वह नहीं है. कातर और कायर होना आदर्शवाद नहीं है ....तुम्हारे पास आया हूं, बताओ क्या है ?"

"जयसे बात नहीं हुई ?"

"हुई है, पर वह सो रहा है. जाने उसपर क्या सवार है कि सो तक सकता है! मैं सो नहीं सका...मुझे डर है और मैं तुमसे जानना चाहता हूं."

"डर किस बातका है तुम्हें, इन्द्र ?"

इन्द्र अनबूझ दिखाई दिया. वह अलग देख रहा था. दृष्टि उसकी दूरस्थ रही और वह बोला नहीं.

क्या मुझे भी डर हुआ. जाने कैसी अवसन्नता उस क्षणमें थी. जैसे सब अधरमें टिका हो, सब लुप्तमान हो. आसपास न अंधेरा था न उजाला, और घनी चुपचुपाहट थी. कहा, "इन्द्र, क्या बात है ?"

इन्द्र जाने कहां था. वहींसे उसने कहा, "विधाता है तो विधान भी है...क्या यह ज्ञेय हो सकता है ?"

बात जाने किस दूरसे आई. मुझे उसकी आहट मिली, अर्थ कुछ भी नहीं मिल पाया. कहा, "इन्द्र, क्या बक रहे हो ?"

उसने मुझे देखा. जैसे पहचान न रहा हो, बोला, "क्या यह सच है ?"

ऐसे बोला जैसे दर्पणमें अपनेको पाकर पूछ रहा हो. मैंने कहा, "क्या सच है इन्द्र ?"

"नहीं, सब विधान-हीन नहीं हो सकता, अवश्य नियम है. इतिहास को वही नियम धारण करता है...हमारी भाग्य रेखाएं अन्तमें उसीसे परिचालित हैं, और उसीमें अपनी अन्तिमता पाती हैं...नहीं, बचना नहीं हो सकता...मैं दिनभर गणनामें रहा. एक नहीं, दो नहीं, अनेक बार मैंने अपने अंकोंको परखा, कहीं भूल नहीं पकड़ सका...और क्या पाया ?...पाया कि...लेकिन छोड़ो. यहां, बताओ, यह सब क्या है ? क्या सच ही जयका अंत होना है ?"

इन्द्र सचमुच ही उस समय विचित्र हो आया था. मैंने कहा, "अंत —यह क्या कह रहे हो !"

"अन्त नहीं तो क्या है....और सच ही अन्त देख आया हूं...अविश्वास कर सकता था, पर यहां जो तुम सब लोगोंने रच रखा है उससे अब अविश्वास नहीं कर सकता...मैं सो नहीं सका, क्योंकि कुछ और सोच भी न सका...तो जय नीचे आएगा और ये लोग—स्वामी और नाथ और वह लिजलिजी लिजा—ये लोग ऊपर आएंगे...और मुझसे तुम कहोगे, भाग्य गणना नहीं है और कहोगे...अन्त आना कुछ और होता है !"

इन्द्र मेरे पायतेकी ओर स्टूलपर बैठा था. आधा मुंह मेरी ओर था आधा दरवाजेसे बाहरकी ओर. वह कहता था और चुप हो जाता था. यह चुप्पी भारी होती थी और उसमें कोई तर्क मुझे न जान पड़ता था. कहते-कहते चुप पड़कर वह उसी तरह बाहरकी ओर देखता दूर हो रहा. मैंने कहा, "इन्द्र, तुम सोए नहीं हो. एकके करीब तो आए ही होगे... ऐसी जयसे क्या बातें हुईं ?"

झटकेसे इन्द्र बोला, "सब व्यर्थकी बातें हुईं. कृतज्ञताकी और भावुकताकी और प्रियताकी और...अंतमें कहा कि शासनसे अलग हो रहा हूं. मैंने कहा, क्यों ? तो लम्बा चौड़ा तत्वाद-सा हांकने लगा. मैंने नहीं सुना और कहा कि अरे, मेरे सामने बनता क्यों है ? उसने कहा, 'इन्द्र, मैं बनता ही सही, पर बात सच है, मैंने कहा, 'तुझे पता नहीं है जय कि मैं क्या देखकर आया हूं. अब इसको सच मत कह, नहीं तो वहीं सच हो जाएगा'...पर वह मुस्कराता रहा और मैं डरता रहा. अन्तमें उसने कहा, 'थके होगे इन्द्र, जाओ आराम करो,' और वह अपनी जगह चला गया, और सो गया...और मैं अपनी जगह आकर बैठा रहा, बैठा रहा, बैठा रहा...कि अन्तमें यहां तुम्हारे पास हूं...वह मुस्कराता है ! आखिर किस बातपर मुस्कराता है ? इसपर कि राजसे हटेगा ?... बिलबर, मैं डरसे बच नहीं पाता हूं !"

मैंने कहा, "इन्द्र, तुम कुछ रोक रहे हो. खुलकर कहो, क्या बात है, और क्या डर है ?"

इन्द्रकी निगाह फिर उसी तरह द्वारके बाहरकी ओर हो रही, जहां

धीरे-धीरे तड़का फूट रहा था. मैंने पुकारा, "इन्द्र !"

उसने निगाह मेरी ओर की. कैसी वह दृष्टि थी. उसमें जैसे विवशता थी और निर्दोपता. कुछ देर मेरे मुंहपर वह दृष्टि जमी रही. फिर वह बोला, "तुमने तो मेरी शोधका फल देखा है. भारतकी पिछली पांच सहस्राब्दियोंकी इतिहास-रेखाके फलकका तुम्हें ध्यान होगा. उसके आधार पर मैंने उसकी संस्कृति-विकास की रेखाका निर्धारण किया था. उसीको में भारतीय भाग्य-रेखा मानता हू...उधर दूसरी ओर जयकी जीवन रेखाका चित्र भी मैंने तुम्हें बताया था...तुमको दिखाया था कि कैसे वह जगह-जगह भारतकी काल-रेखासे विलग हो-हो जाती है और अन्तिम च्युति तो तीव्र है...तुम्हारे बाद में रातभर और दिनभर काममें रहा. मेरा निर्णय था कि मानवताके उदयके साथ भारतकी भाग्य-रेखाको तत्सम होना है. उसको अपेक्षा में रखकर जयकी जीवन-रेखामेंसे उसके आगामी भविष्यका मैं पूर्व दर्शन चाहता था...अपने अंकोंको मैंने पुनः पुनः संभाला, जांचा, परखा, और क्या पाता हूं ?...पाता हूं कि जयकी जीवन-रेखा सहसा भारतकी भाग्य-रेखाकी ओर मुड़ती है, वहां मिलती है और लुप्त हो जाती है ! आगे कहीं उसकी स्वतन्त्र गति नहीं है, चिन्ह तक नहीं है ...फिर फिर मैं हिसावपर गया, लेकिन कुछ भी और परिणाम न हुआ ...तभी जयने बेतार बातकी ओर मैंने तत्काल कहा कि फौरन आ रहा हूं...आते-आते मेरे मनने सुझाया कि अमुक स्थलपर मुझसे हिसावमें चूक हुई है. मैं सन्तुष्ट हुआ...रेलसे उतरा हूं तबतक मैं स्वस्थ और प्रसन्न था. लेकिन जयसे बात हुई कि फिर मैं अस्थिर हो रहा...तबसे बच नहीं पाता हूं इस डरसे कि हिसावने जो निर्णय दिया था वही अमोघ होने वाला है...लेकिन वह कैसे हो सकता है ?"

"क्या हो सकता है ?"

"जयका अन्त कैसे हो सकता है ?"

अब मुझे चेत हुआ. मैं उठ बैठा. कहा, "इन्द्र, तुम सोए नहीं हो. जाओ थोड़ा विश्राम कर लो."

कहकर मैं तख्तसे नीचे उतरा. इन्द्र खड़ा हुआ, हंसा, बोला, "तुम चिंता न करो, विलवर. प्रारब्धको जो जान सकता है वह उससे लड़ भी सकता है...इन्द्र है तबतक जयका बाल बांका नहीं होनेवाला है, विलवर, तुम यह विश्वास रख सकते हो...भाग्य हमारे बावजूद नहीं हो सकता, होगा तो हमारे द्वारा होगा. इसलिए उसे हमारे अनुकूल भी होना होगा. तुमको मैंने जगाया, पर अभी अंधेरा है, तुम सो सकते हो. जय भी अभी जगा न होगा. जाऊं, मैं जरा खुली हवामें घूम आऊं."

मुझे उसे पकड़कर रोकनेकी वृत्ति न हुई. वह चला गया और मैं फिर अपने बिछौनेपर आ गया और कुछ देर सोचता रहकर लेट भी गया. ऐसे कब नींद आ गई, पता न चला.

उठा तो आवाजपर. पौने आठ बजा था और जयके सचिवने सूचना सुनाई कि मुझे इस बार जयके साथ गोष्ठीमें पहुंचना है. जल्दी-जल्दी तय्यार हुआ. इसमें भी देर हो गई, पर सचिव प्रतीक्षामें रहे और उनके साथ गोष्ठी-मंडपमें पहुंचा तो समयसे दस मिनट पीछे था.

आचार्यके समक्ष चौकी थी और जय बोल रहे थे. मैंने चारों ओर देखा. विशेष स्वागतका भाव अपने लिए वहां न पाया, यद्यपि किसीने कुछ कहा नहीं. देखना चाहा कि क्या कहीं इन्द्रमोहन भी वहां है, पर वह न था. मैं अलग-थलग-सा पीछे जाकर एक ओर पालथी मारकर बैठ रहा. जय बैठे हुए कह रहे थे और बिना मेरी ओर ध्यान दिए उन्होंने कहना जारी रखा :—

"...श्री विलवर हूस्टनको यहां आनेके लिए मैंने कहलाया था. वह आ गए हैं, आप उन्हें जानते होंगे...वह विदेशी हैं, हमारी चर्चाके लिए उतने अनिवार्य नहीं हैं. फिर भी विदेशी होनेके नाते मैंने उन्हें और भी आग्रहसे बुलवा लिया है. आपकी अनुमति नहीं ले सका. पर उसे गृहीत माननेका साहस अपना सका हूं. कूटनीति अनावश्यक नहीं है. किन्तु सत्य कूटातिकूट है. इसलिए सत्यके आधारपर चलनेमें कूटनीतिको भी बाधा नहीं आनी चाहिए...मैं बहुत दिनोंतक असमंजसमें रहा हूं. लोकराजकी

वात सर्वसम्मत ही है. राजके तन्त्र सव जगह अपने-अपने ढंगके हों, पर लोकतन्त्रताका दावा सभी करना चाहते हैं....उसमें जो हो, चुनाव तो आता ही है. कहीं चुनाव होता है तो शत-प्रतिशत मत आते हैं, और जगह सौमें इक्यावनसे भी काम चल जाता है. जहां पूरे सौ फीसदी मत हैं वहां एक दलका शासन जनतांत्रिक बन जाता है, नहीं तो एकसे अधिक दल होते हैं...विचारके आधारपर दलका एक होना समझमें नहीं आता. एक हो सकता है, यदि दूसरे विचारके लिए अवकाश न रह जाए. यह स्थिति सहज नहीं आती,हठात् और वलात् ही वनाई या रखी जा सकती है...विचारके आधारपर दल एक नहीं एकाधिक ही होंगे. तो फिर प्रश्न होता है कि जनतन्त्र क्या दलाधीन ही रहेगा ? ऐसे तो उसमें स्थिरता आनेवाली नहीं है. शासनपर आरुढ़ और उसके आकांक्षी ऐसे दो दल एक दूसरेके साथ जय-पराजयके विग्रहमें ही रत रहनेवाले है. ऐसे काफी चेतन शक्ति परस्परके विनाशमें लगेगी और विकासकी क्षति ही होती जाएगी ...मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इससे अन्यथा क्या हो सकता है, यह मेरी समझमें स्पष्ट नहीं है...मैंने राजनीतिक उदारता और सदभावनाकी ओरसे जवजव उसपर विचार किया, हल हाथ नहीं आया...अन्तमें जव मुझे यह मालूम हुआ कि मेरा दायित्व राज्यके और लोककल्याणके प्रति जितना है उससे अधिक और प्रथम स्वयं अपने अन्त:करणके प्रति है, तो देखा कि मेरा असमंजस कट गया है...जहां अन्धेरा था वहांपर प्रकाश भी हो आया और जान पड़ा कि एक, या दो, या अधिक दल मिलकर अवश्य काम चला सकते हैं. यदि यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सवसे वड़ी चीज नहीं है, स्थायी भी वह चीज नहीं है, कि एक दिन समाजको शासनमुक्त रूपमें प्रतिष्ठ होना है, तो कठिन भी सरल वन आता है. आदर्श समाजमें आवश्यक संवरण और संयमनकी शक्तियां सहज ही अन्तर्भूत होंगी, उन्हे अपनेसे वाहर नियंत्रक राज-संस्थाके रूपमें प्रक्षिप्त होकर जमनेकी आवश्यकता न होगी. कारण, सामाजिक और हार्दिक शक्ति तव असामाजिक जड़ सत्ताका रूप ले उठती है,वह सत्ता समाजको

उभारनेसे अधिक उसको दबानेमें निमित्त बनती है. ऐसे वह स्वास्थ और शक्तिका प्रतीक होनेसे अधिक रोग और बंधनका लक्षण हो आती है...तो राज्यको एकदिन अनावश्यक बनना है...इसलिए जबतक रहे उसे यथा-निवार्यसे अधिक शक्तिशाली और विस्तृत बनानेका प्रयास नहीं होना चाहिए...ब्रह्माण्डके बीच यह पृथ्वी एक पिंड ही तो है. ब्रह्माण्ड जिस नीतिसे चलता है, उससे विमुख कोई शक्ति सच्ची नहीं हो सकती... इस तरह नियम हाथ लगता है कि नैतिकसे अतिरिक्त शक्ति राज्यके पास रहती नहीं जानी चाहिए ..इस परिणामसे चला जाए तो राज्य उत्तरोत्तर समाजके लिए अन्तःकरणका रूप लेता जाएगा और वह किसीके लिए भारी नहीं पड़ेगा. यदि कभी राज्यको मुरझाकर सूख और समाप्त हो रहना है तो वह प्रक्रिया कहीं बाहरसे नहीं आरम्भ होगी, स्वयं राज्य-के भीतरसे ही उसे उदयमें आना होगा. बाहरसे तोड़नेकी हर कोशिश राज्यको मजबूत ही बनाती आई है और बनाती जाएगी...राजतन्त्र ऐसे सर्वशक्तिमान बननेकी ओर ही चल सकता है और अबतक हमारे सारे राजशास्त्र और नीतिशास्त्रके बावजूद चलता रहा है...कर्म-शक्ति हम सबमें है, हम सबके स्वभावमें ही उसका बीज है...वह कर्म राज्यके पास जितना एकत्रित होता है, उतना ही हठात् जनताके एक भागको कर्महीन होकर जीना पड़ता है. इसमें मानवजातिकी हानि है. इससे सर्वसमर्थ राजकी धारणाको हमें अपने मनसे हटा देना होगा...उसके हटते ही हम देखेंगे कि राजपदके लिए कोई होड़ बाहर नहीं रह जाती है. सेवाके कामके लिए तो प्रतिस्पर्धा आपको कहीं दीखेगी नहीं, होगी तो वह स्वास्थ्य और संस्कृतिके अभ्युदयका ही कारण होगी. इसलिए राजका काम प्रभुताका न रहकर स्पष्ट सेवकताका बन जाएगा तो जनतन्त्रके प्रयोगमें अनुभव की जाने वाली कठिनाइयां आप ही क्षीण होती जा सकती हैं. राजकी वैसी धारणा-का आधार लेकर हम इस स्थान और क्षणसे ही चलनेका आरम्भ कर सकते हैं. तब सब दलोंके मिलनेमें कठिनाई न रहेगी...आप लोग अनुभवी हैं. मैं कृतार्थ हुआ हूं कि आप मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर यहां पधारे हैं.

आगए तो मैं निश्शंक भी हो गया. इस विश्वासमें कि आवश्यक होगा तब आपकी ओरसे मेरे योग्य आदेश प्राप्त हो ही जाएगा, मैं अपनी छुट्टी मान बैठा था. मेरा विचार आपकी गम्भीर मन्त्रणाओंमें किसी ओरसे विघ्न बननेका न था...फिर भी गुरुजनोंकी आज्ञा है और मैं उपस्थित हूं...बैठकके आरम्भमें ही मांगकर मैंने आपका समय ले लिया है. यह धृष्टता तो हुई है, पर अपना आंतरिक निवेदन आपके समक्ष रखना मेरे लिए आवश्यक है...आचार्यकी सेवामें मैंने एक पत्र दिया है. उसमें है कि आगे जो सरकार आप मनोनीत करेंगे वह शासन संभालेगी. अबसे एक घण्टेमें राष्ट्रीय महासभाके प्रतिनिधि नेता भी आपकी बात-चीतमें आ मिलेंगे...जहांतक मेरी आशा है, और मेरा वश है, आपके निर्णयके कार्यान्वित होनेमें कोई अन्तराय न आ सकेगा. इस आश्वासन और इस वचनके बाद मेरा निवेदन है कि मुझे आप मुक्ति दे दें .. मुक्ति बचनेके लिए भी मांग रहा हूं, समर्थ बननेके लिए भी. बचनेके लिए तो इसलिए कि मेरी अवस्था काफी हो गई है, अब अधिक परमेश्वरको भूला रहूंगा तो क्षमा नहीं पा सकूंगा...फिर भी अन्तिम सांसतक बचना यहां कहां है? सच यह कि ऐसे सेवाकी सामर्थ्य ही मैं जुटाना चाहता हूं. राज्योंके प्रतिनिधि मिलकर बारबार बैठे हैं और अन्तर-राष्ट्रीय रूपमें दुनियांको उन्होंने एक कर लेना चाहा है.पर वह हुआ नहीं है, हो सकता भी नहीं है.अन्तर-राष्ट्रीय बड़ीसे बड़ी संस्था बन सकती है, पर अन्तर-राष्ट्रीय अथवा मानवीय अन्तःकरण उत्पन्न होनेका काम उस तरह हो नहीं सकता है. एकता अन्तकरणमें नहीं है तो बाहरके जुटावसे कैसे होनेमें आएगी? राज्यके प्रतिनिधि अपने राज्यकी सीमाकी चिंता, उसके संरक्षणकी आवश्यकता और विस्तारकी स्पृहाको लेकर ही आपसमें मिलते-बोलते हैं. उनके पास अपनी-अपनी सत्ताके प्रतिनिधित्वकी शक्ति होती है, उससे अतिरिक्त आस्था उनके लिए असंगत है. इसलिए सत्ता शाली होनेके कारण ही मानवताके ऐक्यके काममें वे अशक्त सिद्ध हो आते हैं...मैं उस अशक्तिको अपनेसे उतार देना चाहता हूं. इससे भारत

की कार्यकारी शक्तिमत्ता कम होती है, सो नहीं. निश्चय ही वह कम होनेवाली नहीं है...किंतु साथ ही भारतीय आस्थाकी पुरातन और सनातन शक्तिका पुनः आविर्भाव हो सकता है. भारतका छत्रपति या राजा विजयके विलासोल्लासमें कभी बाहर नहीं गया...लेकिन बुद्धकी करुणा देशकी सीमामें बंधकर कैसे रह सकती थी...तो राजकीय नहीं आत्मीय और आस्थामूलक अकिंचनताकी ही क्षमता है जो शक्ति-स्पर्द्धाके व्यूहमें सचमुच कुछ काम कर सकती है...इन शब्दोंके साथ मैं आचार्यसे निवेदन करूंगा कि मेरा पत्र आपकी स्वीकृतिके अर्थ आपके समक्ष रख दें."

कहकर जय चुप हो गए. कुछ देर कोई न बोला. मुझे अनुभव हुआ कि मैं विदेशी हूं और विसंगत, मुझे यहांसे उठ जाना चाहिए. सोच ही रहा था कि एलिजावेथ उठी और उसने कहा, "आचार्य इस गोष्ठी की अध्यक्षताका दायित्व संभाल रहे हैं. क्या उनकी राजकीय अथवा वैधानिक स्थिति है कि श्री जयवर्धन अपना पत्र उन्हें दें? न इस गोष्ठीको ही स्थिति या अधिकार प्राप्त है कि वह उसपर विचार अथवा निर्णय करे. इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि यदि वैसा कोई पत्र हो तो वह निजी समझा जाए. उसे विचारके लिए इस गोष्ठीके समक्ष लाना किसी प्रकार उपयोगी न होगा...श्री जयवर्धनने इस गोष्ठीको केवल सम्मान दिया है जब कि अपनी भावनाएं उन्होंने हमारे समक्ष रखी हैं...किंतु कदाचित वह भी जानते हैं कि सम्मानसे अधिक उनका विशेष अभिप्राय नहीं है, और कि यदि उनके उस प्रकारके पत्रपर कोई साधिकार विचार कर सकता है तो वह लोकसदन है, अथवा कि उनकी दलीय महासभा है...मेरी अध्यक्षसे प्रार्थना है कि वह उनके वक्तव्यके लिए श्री जयवर्धन को धन्यवाद देकर गोष्ठीकी नियमित कार्यवाहीका आरम्भ करें."

जय, "श्रीमती नायसे असहमत होनेका मेरे पास कारण नहीं है... निर्णय तो आप न कीजिएगा, किन्तु विचार करनेमें आपको कोई रोक नहीं सकता है. मुझे विश्वास है कि आचार्य वह अवसर आपको देंगे... किन्तु दूसरी कार्यवाहीके लिए मेरी उपस्थिति, अध्यक्ष महोदय, क्या

आवश्यक रह जाती है ?...क्या मुझे जानेकी अनुज्ञा मिल सकती है ?"

इसपर कई दिशाओंसे असम्मतिकी सी ध्वनि हुई और एलिजावेथ ने खड़े होकर कहा, "अध्यक्ष महोदय, क्या मैं पूछ सकती हूं कि गोष्ठीका संयोजन किन्होंने किया है ?...यदि उनको ही अधिकार है तो हममेंसे किसको अधिकार नहीं है कि वह अपनी उपस्थिति वापिस खींच ले... क्या इसी प्रकार सहयोग और सम्मेलनकी आशा की जाती है ?"

आचार्य, "मेरा निवेदन है कि श्री जयवर्धन गोष्ठीको अभी अपनी उपस्थितिसे विहीन न करें."

जयवर्धन, "आज्ञा शिरोधार्य. किन्तु महासभाके प्रतिनिधि नेताके आ पहुंचनेपर प्रार्थना है कि मेरे स्थानपर उन्हें आप अपने बीच स्वीकार करें."

लिजा, "(बैठे हुए) वह भी सम्मिलित हो सकते हैं, किंतु किसीके स्थानपरका प्रश्न नहीं है."

सबकी ओरसे अनुमोदनकी ध्वनि आई और जय म्लान मुस्कराहट से आचार्यकी ओर देखकर रह गए.

आचार्य, "सभाकी सम्मति स्पष्ट है, और मान्य है, कि आनेपर वह प्रतिनिधि भी यथावत चर्चामें भाग ले सकेंगे."

इस स्थलपर मुझे अपनी उपस्थिति वहां इतनी बेतुकी-सी जान पड़ी कि मैं उठकर चला आया. आकर जयके स्थानपर पहुंचा, वहां देखा कि इन्द्रमोहन तरह-तरहके कागज चारों ओर फैलाए गहरी गणनामें लीन है, मेरे आनेकी उन्हें सुध नहीं है. कहा, "इन्द्र !" तो अपने चश्मेमेंसे आंख उठाकर उसने मुझे देखा. स्याहीकी पेंसिल हाथमें थी, दृष्टिमें विस्मय और प्रश्न.

"—कहो ?"

कहनेके साथ मानो उसने मुझे ऊपरसे नीचेतक देखा. जैसे मेरे होने का अर्थ पूछ रहा हो.

मैंने कहा, "यह क्या बना रहे हो !...मैं बैठ सकता हूं ?"

बिखरे कागज कुछ समेटे और मेरे लिए बैठनकी जगह की. बैठनेपर पूछा, "कहांसे आ रहे हो ? जय कहां है?"

"सभासे आ रहा हूं, जय वहीं है."

"अकेला छोड़कर आ रहे हो !...उसे अकेले छोड़नेके दिन नहीं हैं. सुनते हो, अकेले छोड़नेके दिन नहीं हैं. आजका तो किसी तरह है ही नहीं."

मैं विशेष नहीं समझा, कहा, "तुम सोए नहीं न — तुम जयके साथ नहीं थे, इससे मैं यहां आया."

"हां, अबसे साथ-साथ ही रहूंगा...गणना फिर मैंने की...रेखा समाप्त प्राय दीखती है, आगे वह है नहीं. यह क्या है...लिजा थी ?"

"हां, थी."

सुनकर उसने चश्मा उतारा. हाथकी पेंसिल अलग रखी. पूछा, "बताओ क्या हुआ ?"

जो देखा सुना था मैंने उसे बताया. सुनकर वह सोचता रहा.

एकाएक पूछा, "और स्वामी ?"

"स्वामी मौन रहे. पर तुम सोच क्या रहे हो ?"

"छोड़ो...तुम सहमत हो ?"

"नहीं—"

"मैं भी सहमत नहीं हूं. लेकिन रेखाएं कुछ और कहती हैं. रेखाएं हमसे बलवान हैं. हम हम हैं, वे इतिहास हैं. इससे शायद उनका ही लिखा हो...फिर भी मैं चाहता हूं तुम जाओ, देश चले जाओ. मैं देख लूंगा."

कैसी पहेली-सी बात कर रहा था इन्द्र. आया तबसे उसे अनबूझ ही देख रहा हूं. क्या उसके मनमें है. हंसकर कहा, "अभी चला जाऊं ?"

वह बिखरे कागज संभालने लगा था. उनको एक ओर रख रहा था कि मेरे प्रश्नपर बोला, "हां, सम्भव हो तो अभी चले जाओ. मैं

सहायक हो सकता हूं."

मैंने हंसकर कहा, "इन्द्र, मैं तुम्हें इस हालतमें छोड़कर नहीं जा सकता."

"अच्छी बात है...इला देवी यहां कहां रहती हैं, मुझे दूरसे बता आ सकते हो ?"

कहकर वह अपनी जगहसे उठा. मैंने कुछ दूर साथ जाकर इलाका स्थान उसे बताया. वह उधर चला गया और मैं वापिस आकर उसके कागजोंकी पड़ताल करने लगा. उनमें अधिकांश रेखाएं थीं और बीज थे. उनके हिसाबकी पेचीदगीको मैं बिल्कुल समझ नहीं सका. उसमें राशियोंका जिक्र था, ग्रहोंका, तिथियोंका, इतिहासके तथ्योंका. फिर उनके आधारपर एक विकट अंक व्यूह था. उससे यह इन्द्र मेरे लिए और भी दुर्बोध बनकर रह गया. अंतमें मैं अपनी जगह चला आया जो सुनसान थी, और मैंने चाहा कि टाइप राइटर लेकर अपना कुछ काम करूं. पर मन चलित रहा, काम न हो सका, और मैं अपनी कुटीके बाहर अनावश्यक तौरपर टहलने लगा.

सभामंडप मुझसे सौ गजसे अधिक अंतरपर न होगा. मैं अपनी जगह घूम रहा था. सन्नाटा-सा मालूम होता था. एक दो साधिकाओंसे अधिक आसपास उस समय कोई आता-जाता न दीख पाया. शेष सब अपने अपने काममें होंगे...मुझे अपने मनपर जाने कैसा दबाव अनुभव होता था. जैसे सब निरुद्देश्य हो और उस सब लक्ष्यहीनताके बीच मैं स्वयं और भी तर्कहीन हूं...इतनेमें इन्द्र दूरसे तेज चालसे आता हुआ दिखाई दिया. पश्चिमी वेषभूषामें होनेवाला वह यहां अकेला व्यक्ति था. मैं स्वयं भारतीय लिबासमें रह रहा था, और लिजा भी अधिकांश साड़ीमें दीखती थी...निर्दोष पश्चिमी परिधानमें स्वस्थ और त्वरित गतिसे बढ़कर आता हुआ इन्द्र उस समय अनोखा जान पड़ा. बीचमें बराबर उसके सभामंडप आता था किंतु वह वहां क्षणके लिए भी नहीं ठिठका, न उसने उधर देखा. बढ़ता ही चला आया, पास आकर कहा, "विलबर, क्या

कर रहे हो?—आओ." ;

ध्वनि इतनी संक्षिप्त थी कि और संभव न था. मैं साथ हुआ, और हमलोग फिर जयकी कुटीपर आए. वहां उसने कहा, "विलवर, निश्चय हो गया है. तुम्हें अभी जाना होगा."

मुझे बुरा मालूम हुआ. कहा, "मैं यहां हूं. निश्चय मेरे वारेमें कब, कहां और कैसे हो गया ?"

इन्द्रने कहा, "तुम विदेशी हो. तुम्हारे संबंधसे घटनाको दूसरा रंग दिया जा सकता है. तुम्हारे जानेसे तुम वचोगे, हम वचेंगे और जयको व्यर्थके अन्तरराष्ट्रीय अनुमान और अनुसंधानसे भी वचा सकेंगे."

मैंने कहा, "क्या घटना—साफ वताते क्यों नहीं हो ?"

इन्द्र, "साफ अभी मुझमें भी नहीं है...लगता है, वीचमें पड़ना और इस दलदलको साफ़ करना होगा."

मैंने प्रश्नसे उसकी ओर देखा, कहा, "दलदल !"

"—मंत्रणागोष्ठी और सवदलोंकी मिलीजुली सरकार और स्वामी और लिजा और नाथ और यह और वह—सव दल-दल ही तो है ! जयको इसमें स्वाद हो, इलादेवीको नहीं है, और इसके जारी रहनेसे कोई लाभ नहीं है."

मैंने कहा, "इलादेवी ! देखता हूं उनका तुम्हें वहुत ध्यान है !"

मेरी ओर आंख उठाकर और फिर अलग देखते हुए उसने कहा, "उनकी जन्मकुंडलीपर मैंने वड़े मनोयोगसे काम किया है. उसीके प्रतापसे जय जो है है. इलाकी रेखाके साथ होकर चलनेमें ही जयका त्राण है, और यह परिणाम अंक-गणनामेंसे मुझे स्पष्ट प्राप्त हुआ है...मैं उससे इधर उधर जयको नहीं जाने दे सकता हूं."

मुझे हंसी आई, "इलासे तुम्हारी क्या वातें हुई ?"

"वातें विशेष नहीं हुई. जितनी भी देर रहा वह मुझे डांटती ही रही ...लेकिन वह सव तुम्हारे लिए व्यर्थ है. मैंने पूछा, जय पदपर क्यों नहीं रहेगा ?:..उन्होंने कहा...लेकिन जाने दो. हमारा झगड़ा हुआ. झगड़ा

ही होता रहा...उस सब इतिहासका तुम्हें पता नहीं है, जरुरत भी नहीं है. वह छोड़ो...अंतमें मैंने पूछा, 'मैं चाहता हूं जय पदसे न हटे, तुम मेरी सहायता करोगी ?' इलाने क्या कहा, बताऊं ? कहा, 'चाहनेवाले अपने बारेमें जय नहीं तुम होगे, इस धृष्टताका अधिकार तुम्हें किसने दिया ? जो वह चाहेंगे उसीमें सहायक होना मेरा काम है'...मैंने कहा, 'लेकिन वह अपनी हत्या कर रहा है ! इसपर इलाने कहा,...क्या कहा, वह न कहूंगा...लेकिन तुमसे कहता हूं, प्रताप सब उन्हींका है और तुम जाओ.'

इन्द्रकी उन उखड़ी बातोंसे कुछ अनुमान नहीं मिला. कहा, "इन्द्र, तुम समझते हो, तुम इधर कहोगे उधर वह पूरा हो जायगा ?"

इन्द्र, "मुझे क्रोध न दिलाओ !"

मैंने कहा, "इन्द्र, तुम क्या दीखते हो इस समय पता है ? बेहद बेहवास और बेढब दीख पड़ते हो !"

इन्द्र, "वह सब होगा...अवश्य होगा...लेकिन इस समय मैं तुम्हारे भलेकी कह रहा हूं.. हम भारतीयोंको छोड़ दो. हमारी आपसी बातोंको अंतरराष्ट्रीय व्याख्या-जिज्ञासाकी चीज न बनाओ तो तुम्हारी कृपा हो. किसीके मनका तुम्हें क्या पता है. होता है वह होता है. उसकी कुरेदबीन चाहते हो तो शोधकके तौरपर करो. अखबारमें झट जा छपते हो सो उससे शोधकार्यमें भी कठिनाई होती है, व्यवहारमें तो सलवटें आती ही हैं. ...तुम पत्रकार हो, ज्ञानको इसीलिए असंभव बनाते हो. लोगोंके प्रभाव-क्षेत्रोंके नए-नए अनुमान देकर तुम कृत्रिम परिस्थितियोंका निर्माण करते हो. इसी विधि जो स्वयंमें कुछ नहीं है ऐसे व्यक्ति परिस्थितिके मुख-चक्रपर होकर ऊपर उजल आते हैं और ज्ञान-विकासकी प्रक्रियाको दुर्गम और जटिल कर देते हैं...लो, अगर मैं कहूं कि जय मेरे लिए दुश्मन नम्बर एक था और है, लेकिन वही मुझे प्रिय नम्बर एक था और है, तो तुम क्या कर सकोगे ? कुछ नहीं कर सकोगे, बस छपाकर उलझनें पैदा कर सकोगे. लेकिन बात सच है. पर उसको तुम नहीं पा सकते, न मैं दे सकता हूं. इससे साफ कहो, कब जा रहे हो. तुम्हें चैन

होगा और हम रथस्व बनेंगे."

"जयसे पूछूंगा."

"नहीं, उनसे नहीं पूछोगे. . .कौन जाने वह शामतक यहां हो ही नहीं."

मैंने इन्द्रकी ओर देखा. आंखोंमें संकल्प था, पर कष्ट था. मुझे चुप देखकर कहा, "इस कांजी-हाउसमें से उसका उद्धार जरूरी है."

मैंने हठात् प्रश्न किया, "इस संबंधमें इलासे परामर्श हुआ है ?"

"तुम मूर्ख तो नहीं हो! इलासे यह बात क्यों होगी. . .लेकिन जयको पदसे नहीं तो यहांसे हटाना बड़ा जरूरी है."

"जोर-जबरदस्ती ?"

"लेकिन वह तुम्हारी अनुपस्थितिमें ही हो सकता है, रहते हुए नहीं हो सकता. . .और जान पड़ता है तुम्हारे साथ जोर-जबरदस्ती ही शायद चलनेवाली एक चीज है."

इंद्रकी बात उस समय मुझे निस्सार नहीं जान पड़ी. जान पड़ा कि परिस्थितियोंमें मेरे कारण कुछ और पेंच ही आ सकता है. कहा, "अच्छी बात है, लेकिन—"

इंद्र प्रसन्न हो आया. बोला, "लेकिन मुझपर छोड़ दो. वह सब व्यवस्था भोजनके समयतक तुम्हें तैयारी मिलेग...बिलबर, मुझसे दोष हुआ हो तो क्षमा करो. हममेंसे कोई अपने को जानता नहीं है और सब अपनी गति रेखामें बंधे हैं."

इन्द्रसे विदा लेकर कुटीपर आया. बैठकर सोचा कि सच ही शायद मेरे जानेका समय आ गया है. ऊपरकी बिखरी चीजें कुछ संभालीं और इलाके पास जानेका विचार आया कि उधर चल भी पड़ा. बीचमें सभा-मंडपपर इच्छा हुई कि अन्दर जाऊं और देखूं कि वहांका क्या हाल है. किन्तु बढ़ता हुआ सीधा निकल ही गया. इला रसोईमें मिलीं.

मैंने कहा, "विदा लेने आया हूं."

सुनकर मुझे अपनी कुटीमे ले आई उसी तख्तपर बिछी चटाईपर बिठा कर और स्वयं उसीके एक किनारे बैठकर पूछा, "इतने अकस्मात् !"

"हां. इन्द्रने सुझाया और मुझे भी सही मालूम होता है."

"जयसे वात हो गई ?"

"नहीं तो—"

आश्चर्यसे कहा, "फिर ?"

मैंने इलाको देखा. कहीं कुछ अद्वितीय न जान पड़ा. वस एक अंदरकी विमल शांति थी जिससे व्यक्तित्वमेंसे रुचिकर सामंजस्य विकीर्ण-सा होता था. इस महिलाने मुझसे अपना कुछ गोपनीय नहीं रखा है. लेकिन उस समय अनुभव हुआ कि घनिष्ट लगनेवाली किन्हीं भी घटनाओंका परिचय उससे मुझे प्राप्त हुआ हो, किन्तु व्यक्तित्वका रहस्य उसी तरह अवूझ और अगम है. धीमेंसे कहा, "इला, इन्द्र कौन है ?"

"क्या वताऊं, कौन हैं...जयके अभिन्न हैं. इससे अधिक क्या कह सकती हूं ?"

"इन्द्रमें इस समय कोई दुस्साहासिक विचार तो नहीं है ?"

"होना आश्चर्यकी वात नहीं है, न होना ही आश्चर्यकी वात है. वह जयको इतना चाहते हैं...लेकिन क्या आप कह सकते हैं—"

"—जयको क्यों इतना चाहते हैं ?"

"ओः, आप संतुष्ट क्यों नहीं हैं...मेरे कारण चाहते हैं...लेकिन वह क्या दुस्सहासिक विचार, आपने वताया नहीं ?"

मैं इलाको देखता रह गया. कुछ भी आगे पूछनेकी इच्छा नहीं रही. वह नारी इतनी समाहित थी, फिर भी इतनी प्रत्यक्ष और उद्यत, कि जिज्ञासा अपनेमें आप ही तुष्ट होकर मंद हो आई. कहा, "वह जयका यहांसे उद्धार करनेकी जरूरत वतला रहे थे. कहते थे, संभव है आज शामके वाद जय यहां ही न रहें."

"अच्छा !...जाकर कह सकोगे उन्हें कि इलाने वुलाया है...जानेकी आपकी क्या व्यवस्था है ?"

"इन्द्रने कहा है कि भोजनके समयतक सव ठीक रहेगा. शायद चाहते हैं कि भोजनके अनन्तर ही यहांसे निकल जाऊं."

"उन्होंने कहा है तो व्यवस्थामें तो त्रुटि न होगी...लेकिन कहा है इसलिए तो नहीं जा रहे हैं ?"

"नहीं, इसलिए नहीं...जा रहा हूं कि अनुभव हुआ है कि मैं पत्र-कार हूं, इसलिए सुविधाके अतिरिक्त कभी असुविधाजनक भी हो जाता हूं. और अब जानना भी तो चाहिए."

इसी समय घंटी बजी. इलाने उठकर कहा, "अच्छा...इन्द्रको भेज दीजिएगा, कहिए कि रसोईमें ही बात करलें. पहली घंटी है, दस मिनट में पंक्ति लग जाएगी. इस बीच ही वह मिल जाएं."

कहकर इलाने हाथ जोड़े. मैं उस समय यद्यपि भारतीय वेशमें था लेकिन हाथ मैं नहीं जोड़ सका. बल्कि उसके जुड़े हाथ पकड़े और दाहिना हाथ उठाकर सम्मान पूर्वक मैंने ओठोंसे लगाया. उसने तनिक भी अपने हाथको पीछे छीना नहीं, किन्तु मेरा आदर प्राप्त कर लेकर वह तेजीसे अपने कामपर चली गई.

मैं चला तो सभा उठ गई थी और लोग अपनी अपनी जगह वापिस जा रहे थे. बढ़कर मैंने जयका साथ पकड़ा. वह गंभीर थे और रास्ते भर मुझसे बोले नहीं. सचिव पीछे पीछे आ रहा था. कुटीके बिल्कुल निकट आकर मैंने कहा, "श्रीवर्धन, मैं भोजनके अनन्तर आपसे विदा ले रहा हूं, वापस देश जा रहा हूं !"

जयने क्षणके सूक्ष्म भागतक आंख उठाकर मुझे देखा, कुछ कहा नहीं और आगे बढ़ लिए. कुटीपर पहुंचकर सीधे इन्द्रसे कहा, "इन्द्र, क्या श्री हूस्टन आज जा रहे हैं ?"

इन्द्रने कहा, "हां.

"व्यवस्था हो गई ?"

"हां."

मैंने कहा, "इन्द्र, इलादेवीने आपको याद किया है. रसोईमें मिलेंगी और पंक्ति लगनेसे पहले आप उन्हें मिल लीजिए."

इन्द्रने जिस निगाहसे मुझे देखा सहना कठिन हुआ. पूछा, "अभी?"

घड़ी सामने लेकर देखते हुए मैंने कहा, "साढ़े छः मिनट हैं, ड़ेढ़ मिनट रास्तेमें भी लग सकता है."

इन्द्रने एकवार फिर कठिन निगाहसे मुझे देखा. लेकिन वह रुका नहीं तत्काल चल दिया. जय इस बीच कुटीमें अंदर चले गए थे और मैंने अपने स्थानसे ही कहा, "पंक्तिमें आज अपने पास लेना मुझे न भूलिएगा."

आवाज आई, "कहां जाते हो, ठहरो."

मैं अंदर गया. दो मिनटमें मुंह पोंछते हुए भीतरसे आए. बोले, "विलवर, इंद्र पीछे तुम्हें डराता तो नहीं था ? ऐसा हो तो ख्याल न करना. उससे कीमती मित्र मेरे पास दूसरा नहीं है."

मैंने कहा, "आप गंभीर दीखते हैं !"

"हां, पर उसका विचार न करो. आओ, हाथ मुंह धोना हो तो तुम भी तैयार हो जाओ, साथ चलेंगे."

मैंने कहा, "तैयार तो मुझे कुछ नहीं होना है, लेकिन सभामें क्या हुआ ? प्रतिनिधि आ गए ?"

"हां...मार्ग समझौतेका है, लेकिन इस शर्तपर कि मैं बीचमें रहूं. वह कैसे हो सकता है !"

"क्यों नहीं हो सकता. ?"

"आओ चलें." और कहकर वह मुझे साथ लेकर रसोईकी ओर चल दिए. मैंने फिर दोहराया, "क्यों नहीं हो सकता ?"

"हां, सोचता तो हूं कि राजके काममें नाम ही विशेष होता है, काम उतना नहीं होता...लेकिन मुझे वाद देकर सिर्फ नामसे काम चलाना भी कब उन्हें स्वीकार होगा—पर मैं अपनेंको तो अब दे नहीं सकता हूं !"

"क्यों, कहीं अन्यत्र देनेकी बात है क्या ?"

"हां, अब माया के प्रति और अधिक नहीं दे सकूंगा."

रसोईमें पहुंचे तो इलाके साथ एक ओर लिजा और इन्द्र थे. आचार्य और स्वामी वहां न थे. नाथ अकलेसे दीख पड़े. जयने बढ़कर

उन्हें साथ लिया, और इलाके पास पहुंचकर कहा, "क्या श्रीमतीजीको मुक्त कर सकोगी, इला ? मैं संतप्त विरहीको लाया हूं."

नाथने और लिजाने आसपासकी हंसी सुनी और जयको देखा. जयने कहा, "लेकिन मैं भी कम विरही नहीं हूं. इला, तुम नाथके साथ बैठ सकोगी ? लिजाको मेरे पास रहने दो."

इला तनिक असमंजसमें दीखी. जयने कहा, 'सोचो, लिजा फिर मेरे पास कैसे बैठेगी? और नाथका अभिवादन भी तुम्हें अभी प्राप्त न हुआ होगा."

लिजा अब प्रसन्न हो आई थी. उसने इलाको हाथ पकड़कर खींचते हुए नाथके पास किया...और दोनोंका परस्पर हाथ मिलवाया.

पंक्तिमें बैठनेपर जब पतलें परोसी जा रही थीं जयने कहा, "आप लोगोंको एक सूचना देनी है. श्रीविलबर हूस्टन भोजनके बाद ही अपने देशको चले जा रहे हैं. मैं आप लोगोंसे पूछता हूं कि क्या वह सचमुच जा रहे हैं ? क्यों, इन्द्र, वह सचमुच जा रहे हैं ? एलीजाबेथ, इला, नाथ, आप सब लोग बताइए कि क्या वह सचमुच जा रहे है ?"

सब लोगोंने उत्तरमें हर्षसे तालियां बजाईं, जिसमें मैं देख सका कि इंद्रने योग नहीं दिया, और समवेत स्वरमें कहा, "नहीं, नहीं नहीं."

जयने कहा, "हम जल्दी निर्णायक न बनें. अभियुक्तकी फरियाद भी सुनें."

मैंने कहा "सब व्यवस्था है और भोजनके अनन्तर मेरे लिए ठहरनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है. क्योंकि भोजनका अनुष्ठान समाप्त हो ही चुकता है !"

इसपर फिर लोगोंने तालियां बजाईं, और जयने कहा, "हम स्वार्थी न बनेंगे. मैं शायद इस आशामें आप सबका प्रतिनिधित्व करता हूं कि श्री हूस्टन देश पहुंचकर शीघ्रही सफलता प्राप्त करें और हमें अपने नए विवाहकी सूचनासे कृतकृत्य करनेकी कृपा करें. इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि आजका यह भोज हमारा उन्हींकी स्वास्थ्य कामनामें हो."

सबने तुमुल करतल ध्वनि की जिसमें सब प्रकारका विषाद और प्रश्न और अन्यमनस्कता सर्वथा डूब गई.

स्नेहकी और आत्मीयताकी वह विदा में भूल नहीं सकता हूं. चलते समय आचार्यकी मैंने पदरज लेनी चाही, पर उन्होंने उठाकर मुझे गलेसे लगा लिया. स्वामीने भी आलिंगन किया, किंतु सबसे विचित्र यह हुआ कि सूटके ऊपर मेरे माथेपर इलाने रोलीसे लंबा तिलक किया, और शिवधामके ही उद्यानका एक नारियल भेंटमें दिया. लिजा—लिजाने हाथ ही मिलाया, अन्यथा वह मौन रही. जिसने अंतमें गाड़ीके कुछ दूर साथ चलकर मुझे अभिवादन दिया वह इंद्र था, और उस जैसा व्यक्ति सच-मुच ही मुझे दूसरा नहीं मिला है.

....क्या शिवधाममें मुझसे भारत ही छूट रहा है ? कारण, आगे मेरे और अमरीकाके बीचमें बम्बई ही है. और बम्बई—?

उपसंहार

बंबई—

अब मालूम हुआ कि पत्रोंके सम्वाददाताओंको शिवधाम न आने देनेमें अधिकारियोंने कितनी वुद्धिमानीसे काम लिया था. तबसे जो अखबारोंमें आ रहा है उसका सिर पैर बताना मुश्किल है...या तो सम्वाददाताओंके लिए प्रवेश खुल गया या फिर वे ही जैसे-तैसे वहां जा पहुंचे. छपे समाचारोंके सूत्र इतने उलझे हैं कि घटना-क्रमकी कड़ी बिठाना संभव नहीं है. जी होता है जाऊं, स्वयं अपने लिए तथ्य मालूम करूं. लेकिन प्लेन सामने है और उसे उड़ चलनेमें आध घण्टेकी भी देर नहीं है. उपाय नहीं है, छूट गया सो छोड़ना ही होगा.

एक साथ क्या हुआ मेरे पीछे शिवधाममें?...निश्चय है कि अगले दिन, अर्थात १३ ता० प्रातः, जय और इलाका विवाह हुआ. आचार्य थे, स्वामी थे, और आश्रमके कुछ लोग थे. ब्राह्ममुहूर्तमें सब सम्पन्न हो गया. विधि संक्षिप्त और स्वल्प. कुल दस मिनटसे अधिक नहीं लगा ...फिर क्या हुआ साफ नहीं है. गोष्ठी बैठी और वहां विवाद हुआ. जिस पर गोष्ठीको कुछ काल स्थगित करना पड़ा. किंतु एक घण्टेकी आपसी बातचीतके बाद गोष्ठी फिर बैठी. दोनों ही में जय सम्मिलित थे. तीसरे पहर बैठक नहीं हुई, आपसमें वार्ताएं होती रहीं...अनुमान है जय उस रात देरतक काम करते रहे...सवेरे पाया गया, जय नहीं हैं!...इंद्रमोहन भी नहीं हैं !

जयका एक वक्तव्य अवश्य प्राप्त हुआ है. वह कुछ विशद है और पत्रोंमें पूरा छपा है. उसमें है कि सर्वदलीय गोष्ठीमें लंबी

मंत्रणाके बाद जो सूत्र लगभग सबकी स्वीकृति पा चुका है, मेरे अभावमें उसीपर अमल किया जाए. अकेले एक मनको अधिकार नहीं कि वह शेषको विहित मार्गपर बढ़नेसे रोक रखे. आचार्यजी से मेरा निवेदन है कि वह तबतक शीर्षस्थ स्थान गृहण करे जबतक नए मंत्रि-मंडलकी घोषणा हो. शिवधामसे ही, मुझे आशा है, वह की जासकेगी.

...सब मौन हैं. इलासे कुछ नहीं प्राप्त हो सका है. न आचार्य कुछ विशेष विश्वस्त प्रतीत होते हैं. स्वामी चकित हैं, एलिजाबेथ विभ्रमित, और नाथ उदासीन दीखते हैं...कथा सार्वजनिक संपदा है...और अभी किसीने किसीको बताया कि पता लग गया है. लिजाको पत्र मिला है, लंबा पत्र...सोचता हूं कैसी आसानीसे सबको (सत्यका) पता लग जाया करता है !

अनुमान कई हैं, और मुझमें भी कई उठना चाहते हैं. पर मैं किसी को अपने पास स्थान न दूंगा. फिर समय भी आ पहुंचा है, पुकार पड़ गई है, यात्री चल उठे हैं. अच्छा...

विलबर शे० हूस्टन
१५ अप्रैल, २००—